हायर सेकण्डरी परीक्षा

इतिहास के द्वितीय प्रश्न-पत्र का पाठ्यक्रम

(ख) विश्व का आधुनिक इतिहास (1500 ई. से वर्तमान समय तक)

(1) यूरोप में पुनर्जागरण (Renaissance) और उसका पश्चिमी सभ्यता पर प्रभाव

कला, साहित्य, विज्ञान और धर्म के विकास के लिए पृष्ठभूमि, कारण और इसका प्रभाव, सामाजिक और आर्थिक दशा, धार्मिक दशा, राजनैतिक स्थिति, विभिन्न यात्रियों की खोज और अनुसंधान।

(2) धार्मिक एकता का छिन्न-भिन्न होना

प्रोटेस्टेन्ट धर्म एवं कैथोलिक सुधार, यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) का उदय, रोमन कैथोलिक चर्च की बुराइयाँ, विभिन्न सुधारक और गुरु, मार्टिन लूथर, सैवोनारोला, जोन हस, जेसुइट्स (Jesuits) प्रतिसुधार (Counter Reformation) और इसका प्रभाव, इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्विट्ज़रलैण्ड में सुधार।

(3) इंगलैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस में प्रजातन्त्र का उदय

मैगना-कार्टा, 17वीं शताब्दी में संसद् और राजा के बीच संघर्ष, 1832 का सुधार कानून, इंगलैण्ड में 1919 तक प्रजातन्त्र का विकास। अमेरिका—पृष्ठभूमि, स्वतन्त्रता संग्राम के युद्ध को परिचालन करने वाले तत्त्व, प्रजातन्त्र के विकास में इसका प्रभाव। फांसीसी क्रान्ति, इसकी पृष्ठभूमि, इसका महत्त्व। नेपोलियन—इसका अभ्युदय और पतन। यूरोप पर फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव। आयरलैण्ड का राज द्रोह।

(4) औद्योगिक क्रान्ति

खोज और अनुसंधान। इसकी पृष्ठभूमि और कारण। इसका सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन पर प्रभाव। यूरोप में पूंजीवाद और समाजवाद का अभ्युदय।

(5) मध्य वर्ग का विकास

उदारवाद (Liberalism) का उदय और प्रजातन्त्र का प्रसार, मध्यवर्ग के सृजन के तत्त्व, इसका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति पर प्रभाव तथा यूरोप की राज्य प्रणाली में परिवर्तन।

(6) राष्ट्रवाद का उदय

इटली और जर्मनी का एकीकरण तथा विश्व राजनीति पर उनका प्रभाव।

इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयवाद की आवश्यकता और उस हेतु लिये गये दृि
में परिवर्तन, वर्साय की सन्धि, राष्ट्रसंघ की स्थापना, इसकी संस्थाएं और कार्य,
फलता के कारण, फासिस्टवाद, नाजीवाद, द्वितीय विश्व युद्ध के कारण, इसका
की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति पर प्रभाव, संयुक्त राष्ट्रसंघ, ।
संस्थाएं और उनके कार्य।

(8) बोलशेववाद का उदय

कारण, लेनिन की भूमिका और सोवियत कम्युनिज्म की स्थापना तथा ि
राजनीति पर इसका प्रभाव। तुर्की और जापान का उदय।

(9) एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीय जागरण

अरब राज्यों का विस्तृत पर्यालोचन, चीन, इण्डोनेशिया और पूर्वी अफ्रीका

(10) भारत और विश्व सम्बन्ध—1947-1962 का संक्षिप्त पर्यालोचन

विषय-सूची

अध्याय

1

यूरोप में पुनर्जागरण तथा पश्चिमी सभ्यता पर इसका प्रभाव

यूरोप मे मध्यकाल किसी एक वर्ष में समाप्त नही हुआ और न ही आधुनिक युग किसी निश्चित समय से आरम्भ हुआ। मध्यकाल मे समस्त यूरोप सामन्ती व्यवस्था के अधीन था। इस व्यवस्था मे लोगों के आपसी सम्बन्ध भू-स्वामित्व पर निर्भर करते थे। लोगो की आवश्यकताएँ कम थीं, क्योंकि अधिकांशत. वे गांवो में निवास करते थे। कुछ नगर भी थे, लेकिन उनकी सख्या बहुत कम थी। समाज का नेतृत्व एक विशिष्ट वर्ग के हाथो मे था और यह वर्ग था भूमि स्वामियों का। इस वर्ग मे अधिकांशतः पादरी थे, जो केवल रोमन कैथोलिक नियमो का अनुसरण करते थे एवं केवल पोप को अपना सर्वोच्च अधिकारी मानते थे। इनकी भाषा लैटिन थी। किन्तु बारहवी शताब्दी मे सामन्ती व्यवस्था भग होना आरम्भ हो गयी थी। यह व्यवस्था सबसे पहले उन स्थानो पर समाप्त हुई जहाँ विदेशो से व्यापार की प्रगति अधिक हुई। ये स्थान समुद्री तट पर ही थे, जैसे जिनेवा, वेनिस आदि। इन नगरो मे व्यापार विनिमय होता था और इससे वे पुराने बन्धन, जो भूमि व्यवस्था से सम्बन्धित थे, ढीले पड़ने लगे। इन नगरो मे व्यापारियो तथा श्रमिको का प्रभाव अधिक था और ये दोनो वर्ग भूमि से असम्बन्धित थे। इसलिए वह कठोर वर्ग व्यवस्था, जिस पर मध्यकालीन समाज आधारित था, टूटनी आरम्भ हुई। इस प्रकार मध्यकालीन समाज के आर्थिक और सामाजिक बन्धन कमजोर होते गये। इन बन्धनों के टूटने से विचारों मे भी स्वतन्त्रता आने लगी। लोग उस नियन्त्रण के विरुद्ध आवाज उठाने लगे जो चर्च तथा पोप की प्रधानता ने समाज पर थोप रखा था। ये विचार समाज मे एक नया वातावरण पैदा कर सके। इससे वह मतविरोध, जो पहले से था लेकिन स्पष्ट नहीं था, अब और अधिक बढ़ने लगा। इस मतविरोध का शासकों ने भी लाभ उठाया और इस प्रकार वे भी राजनीतिक स्वतन्त्रता की कल्पना करने लगे। सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों मे स्वतन्त्रता की बात को अत्यधिक बल मिला।

इस बदले हुए वातावरण मे पोप अपने विरोधियों को कुचलने में कठिनाई अनुभव करने लगा क्योंकि उसका सघर्ष राजनीतिक शक्ति से था जिसको नये व्यापारिक वर्ग का समर्थन प्राप्त था। पोप ने तब यह अनुभव किया कि बड़े से बड़े

धार्मिक अस्त्र अब व्यर्थ हैं क्योंकि उसे अब जनता का समर्थन प्राप्त नहीं है। एक समय था जब किसी भी सम्राट को धर्म से बहिष्कृत करने की धमकी देकर जनता को उसके खिलाफ किया जा सकता था, किन्तु अब जनता का समर्थन सम्राटों के पक्ष में तथा पोप विरोधी कार्यों में प्राप्त होने लगा था। पोप का यह धर्म-बहिष्कार का अस्त्र कितना महत्त्वहीन होने लगा था यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही धर्मयुद्ध में

फ्रेड्रिक द्वितीय को पोप ने तीन बार धर्म-बहिष्कृत किया था। तेरहवीं शताब्दी के अन्त ... पोप ने अपने अधिकारों का प्रयोग इंग्लैंड और फ्रांस के सम्राटों के विरुद्ध

करना चाहा तो उसे पता चला कि जनता पर उसका प्रभाव समाप्त हो चुका है। कारण स्पष्ट था, मध्यकाल मे पोप द्वारा ही शान्ति स्थापना का कार्य होता था, किन्तु अब इंगलैण्ड और फ्रांस के शासक अपने राज्यो मे स्वयं न्याय तथा शान्ति भलीभाँति स्थापित कर सकते थे। शिक्षा का प्रसार भी साधारण वर्ग (विशेषकर वकीलो) में होने लगा था। जब प्रशासन का उत्तरदायित्व राजा, वकीलों तथा साधारण वर्गों पर आ पडा, तब पादरी वर्ग तथा चर्च के विशेषाधिकारों पर आपत्तियाँ उठायी जाने लगी और जनता एव नया वर्ग पोप तथा चर्च के विरुद्ध राजा का समर्थन करने को तैयार रहने लगे।

उपरोक्त परिवर्तन क्रम 13वी शताब्दी मे 17वी शताब्दी तक चलता रहा। इस अवधि मे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आमूल परिवर्तन हुए। मध्यकालीन मान्यताएँ बदलने लगी। उदाहरण के लिए एक मध्यकालीन विशेषता को लें, वह यह कि सामन्ती युग मे शौर्य का बहुत अधिक महत्त्व था। शौर्य एक प्रकार का सम्मान था, जिसको

मध्यकाल में आयोजित शौर्य प्रतियोगिता
जिसमे अस्त्र-शस्त्रयुक्त लौह आवरणधारी प्रतियोगी विजयी होने का प्रयास करते और सर्वजेता को राज सम्मानित उपाधि 'शूरवीर' से विभूषित किया जाता था

प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति लालायित रहता था। यह सम्मान साधारणतया सामन्तो को ही दिया जाता था। इसके अन्तर्गत उस व्यक्ति को अपने वायदे का

पक्का होना चाहिए, चर्च के प्रति निष्ठावान होना चाहिए और दुर्बलों (विशेषकर स्त्रियों) की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिए। यह सम्मान युद्ध-स्थल में अथवा धार्मिक पर्व पर साधारणतया चर्च द्वारा ही प्रदान किया जाता था। प्रत्येक प्रत्याशी पादरी के पास जाकर यह सम्मान प्राप्त करता था और एक रात पूजा-पाठ में व्यतीत करने के पश्चात् उसे पादरी द्वारा यह दीक्षा दी जाती थी कि 'जाओ शूरवीर बनो'। किन्तु अब इन मध्यकालीन मान्यताओं के प्रति आकर्षण नहीं रह गया था, और ऐसी मान्यताओं के स्थान पर नयी सभ्यता, नयी परम्पराएँ, नये मापदण्ड विकसित होने लगे। इस विकास के काल को ही हम पुनर्जागरण युग कहते हैं। 'पुनर्जागरण' शब्द की सही व्याख्या कठिन है। इस शब्द का प्रयोग 19वीं शताब्दी के पूर्व नही होता था। इसका शाब्दिक अर्थ है 'पुनर्जीवन'। साधारणतया इसका यह अर्थ इस कारण भी लगाया जाता है कि 14वी शताब्दी मे यूनानी तथा रोमन साहित्य का अध्ययन पुनः आरम्भ हुआ। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से यह सही नही प्रतीत होता, क्योंकि मध्यकाल मे भी यूनानी दर्शन तथा साहित्य का अध्ययन बन्द नही हुआ था। यह अवश्य कहा जा सकता है कि 1453 ई. मे तुर्कों द्वारा कॉन्सटेन्टिनोपिल पर अधिकार कर लिये जाने के पश्चात् यूनानी साहित्य का अध्ययन अधिक वेग से बढ़ा क्योंकि हजारों यूनानी विद्वान अपने प्राचीन ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों के साथ भागकर यूरोप पहुँचे थे।

पुनर्जागरण काल मे वास्तविक परिवर्तन, लोगों के दृष्टिकोण का परिवर्तन था। यूनानी विद्वानों का अपनी पुस्तकों के साथ यूरोप आना इसलिए प्रभावशाली हुआ क्योंकि मध्यकालीन सभ्यता के आदर्शों तथा विचारों का प्रभाव कलाकारों तथा विचारकों पर कम होने लगा था। मध्यकालीन विचारधारा के अनुसार व्यक्ति का कम महत्व था। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य था कि विश्व मे ईसा के सिद्धान्तों पर चलकर सुख व समृद्धि स्थापित करे। विश्वव्यापी चर्च तथा साम्राज्य इन सिद्धान्तों के ही प्रतीक थे। जब इन आदर्शों और विश्वव्यापी चर्च तथा साम्राज्यों से लोगों को निराशा हुई तब लोग व्यक्ति के जीवन को सुधारने की बात सोचने लगे। ऐसे समय में उनका यूनानी दर्शन तथा साहित्य से सम्पर्क हुआ। इस दर्शन में व्यक्ति के विकास तथा उसकी उपलब्धियों पर अत्यधिक बल था। यहीं व्यक्ति के विकास में उसकी जिज्ञासा ने सहायता दी थी। इसलिए यूरोपवासियों ने यूनानी दर्शन तथा साहित्य के प्रभाव में विश्व तथा प्रकृति की ओर श्रद्धा के स्थान पर जिज्ञासा की दृष्टि से देखना आरम्भ किया। दृष्टिकोण में यह परिवर्तन मौलिक था और इस परिवर्तन ने जीवन के सब पहलुओं को प्रभावित किया। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप प्राचीन ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन किया गया। उनका अभिप्राय मनुष्य की विभिन्न क्रियाओं में अभिरुचि बढ़ाना था। यह आन्दोलन सबसे पहले इटली में आरम्भ हुआ। इसका लक्ष्य मनुष्य को धार्मिक बन्धनों से मुक्ति दिलाना था। दूसरे शब्दों में, यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्ष में था, इसलिए यह उन स्थानों पर ही पनप सका, जहाँ सामन्ती व्यवस्था तथा चर्च

का नियन्त्रण कम था। ये स्थान केवल अपने व्यापारिक स्तर को बढ़ाने में अथवा व्यक्तिगत स्तर को बढ़ाने में और इस प्रकार नयी जिज्ञासा का प्रभाव व्यापार प्रधान इंग्लैण्ड, बाल्टिक समुद्री तटवर्ती राज्य, इटली तथा डेन्यूब और राईन नदी-घाटियों में अधिक हुआ। इन स्थानों पर सामन्ती नियन्त्रण प्राय: समाप्त हो गया था। शेष यूरोप सामन्ती व्यवस्था में फँसा रहा, जहाँ व्यक्ति समाज तथा धर्म के बन्धनों में बंधा रहा।

इस प्रकार यूरोप अब दो भागों में विभक्त दिखायी पड़ने लगा था। एक वह भाग जहाँ मध्यकालीन सभ्यता प्रचलित थी, दूसरा, जहाँ नयी जिज्ञासा जाग्रत हो रही थी। इस नयी जिज्ञासा के प्रतीक थे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, कला की प्रगति, व्यापारिक उन्नति तथा राजतन्त्रीय विकास। कालान्तर में यूरोप के इन दोनों भागों में अन्तर अधिक बढ़ गया और सम्मिलित सभ्यता का सूत्र भी टूटता नजर आया। इस सूत्र का टूटना ही धार्मिक आन्दोलन था जिसे लूथर आदि ने आरम्भ किया। यद्यपि इस धार्मिक आन्दोलन के कारण विभिन्न देशों में विभिन्न थे, लेकिन यूरोप के दो भागों का मौलिक अन्तर ही कुछ स्थानों पर इसकी सफलता में सहायक हुआ।

पुनर्जागरण के कारण

पुनर्जागरण के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ उत्तरदायी हुईं

1. **व्यापार की वृद्धि तथा नगरों का विकास**—व्यापार की प्रगति से मध्यकालीन व्यवस्था का प्रभाव कम होना आरम्भ हुआ। भूमि के अतिरिक्त व्यापार भी सम्पन्न होने का साधन बन गया था। व्यापारी भूमि के बन्धनों से मुक्त होकर स्वतन्त्र नगरों का निर्माण करने लगे, जिससे वे सामन्तों के नियन्त्रण से दूर रह सकें। ये नगर आरम्भ में समुद्री तट के निकट बसे हुए थे। व्यापारी वर्ग जानता था कि सामन्त इतनी सरलता से अपने अधिकारों की समाप्ति सहन नहीं कर सकते, इसलिए इस व्यापारी वर्ग ने उन सिद्धान्तों तथा अधिकारों की जाँच आरम्भ की, जिन पर सामन्ती व्यवस्था आधारित थी।

2. **ग्रीक तथा रोमन साहित्य में अभिरुचि**—जैसा ऊपर बताया गया है कि यूनानी तथा रोमन साहित्य का अध्ययन पहले भी होता था, लेकिन अब इसमे एक नयी रुचि पैदा हुई। लैटिन भाषा के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग आरम्भ हुआ। कलाकारों ने निर्जीव वस्तुओं के चित्रों के स्थान पर सजीव वस्तुओं के चित्र बनाने आरम्भ किये, क्योंकि प्राचीन यूनान में देवता मानवीय गुणों से सुशोभित किये जाते थे तथा मनुष्यों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे। विभिन्न प्राचीन साहित्यकारों के ग्रन्थ खो गये थे, उनकी नयी खोज आरम्भ हुई। युक्लिड और पाइथागोरस के सिद्धान्तों के अध्ययन से गणित में नयी प्रगति हुई। विभिन्न नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई जिनसे इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन मिला।

3. **पूंजीवाद का प्रभाव**—*इटली में 12वीं शताब्दी के पश्चात् आयात-निर्यात* व्यापार की विशेष वृद्धि हुई। इसके आधार पर 13वीं शताब्दी में पूंजीवाद का विकास

हुआ । ये पूंजीपति अपनी स्वतन्त्रता के लिए, सामन्ती व्यवस्था की अपेक्षा राजतन्त्र के समर्थक बने और इस प्रकार मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था टूट गयी । इस नयी व्यवस्था में दोनों वर्गों ने एक दूसरे का समर्थन किया, राजाओं को सेना के गठन के लिए धन की आवश्यकता थी और व्यापारिक वर्ग को सामन्ती बन्धन से छुटकारा चाहिए था, इससे दोनों एक-दूसरे के सहायक बने ।

4. **रोमन विधि सम्बन्धी अध्ययन**—रोमन विधि सम्बन्धी अध्ययन 12वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ । दांते ने सम्राट के अधिकारों के पक्ष में लिखा था, रोमन राजनीतिक व्यवस्था मे सम्राट को विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त था, इससे मध्यकालीन पोप के नियन्त्रण को कम करने मे सहायता मिली । अब इस बात का निर्णय करने वाला कि क्या नियम बनाये जायें, केवल राजा होता था । इससे पोप का मध्यकालीन अधिकार समाप्त हो गया ।

5. **धर्मयुद्धों का प्रभाव**—सामान्यतः यह माना जाता है कि धर्मयुद्धों से पुनर्जागरण में सहायता मिली क्योकि इन युद्धों में शिक्षित वर्ग ने नही के बराबर भाग लिया । इन धर्मयुद्धों से नये बौद्धिक चिन्तन पर तो नहीं के बराबर प्रभाव पडा, हाँ, इन युद्धों से पोप की प्रतिष्ठा पर अवश्य बुरा प्रभाव पड़ा और इटली के नगरों के व्यापार मे भी कुछ सहायता मिली ।

6. **छापेखाने का प्रभाव**—साधारणतया यह माना जाता है कि छापेखाने के आविष्कार का भी पुनर्जागरण पर काफी प्रभाव पड़ा । लेकिन छापेखाने का आविष्कार पुनर्जागरण के बहुत समय पश्चात् हुआ । 15वीं शताब्दी के मध्य से पूर्व यूरोप में कोई छापाखाना नही था और इस समय से 150 वर्ष पूर्व इटली में पुनर्जागरण आरम्भ हो चुका था । इसके अतिरिक्त आरम्भ मे धार्मिक पुस्तकें अथवा प्रचलित कहानियाँ अधिक छापी जाती थी न कि नव-जागरण के ग्रन्थ । हाँ, बाद के चरण में छापेखाने ने अवश्य इस जागरण को फैलाने में सहायता दी । छापेखाने के अधिकांश लाभ नवजागरण समाप्त होने के पश्चात् स्पष्ट हुए ।

पुनर्जागरण का आरम्भ इटली में

पुनर्जागरण सबसे पहले इटली में आरम्भ हुआ । इटली निवासी अपने को प्राचीन रोमवासियों की सन्तान समझते थे । इसके अतिरिक्त सम्पन्न नगर राज्यों की उत्पत्ति से वह वातावरण तैयार हुआ जिससे नये दर्शन तथा नये कलाकारों को प्रोत्साहन दिया जा सका । नयी आर्थिक स्थिति के विकास तथा व्यापारिक वातावरण का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि राजनीतिक अव्यवस्था होते हुए भी, इटली मे कला तथा साहित्य का विकास तथा उन्नति हो सकी । इस आर्थिक परिवर्तन ने विभिन्न नगर राज्यों में तानाशाही प्रणाली के विकास मे सहायता दी ।

पुनर्जागरण का साहित्य के क्षेत्र में प्रभाव

पुनर्जागरण का एक आवश्यक अंग यूनानी तथा रोमन साहित्य का पुनः

अध्ययन था। इसलिए इस युग में साहित्य की रचना स्वाभाविक रूप से अधिक हुई। इटली में सबसे पहले पेट्रार्क हुआ। वह प्राचीन लैटिन साहित्य मे अधिक रुचि लेता था क्योंकि उसमें अधिक मनोरंजक तथा आकर्षक विषयों का वर्णन था। वह अपने व्यक्तित्व मे अत्यधिक लीन था। लेकिन इटली मे वास्तविक मानववादी लेखक बोकेशियो था। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डेकामेरन' मे सांसारिक जीवन को उचित ठहराया और अन्य लेखकों के लिए गद्य शैली निर्धारित की। इटालियन भाषा मे साहित्य की रचना होने लगी। इस पुनर्जागरण का सबसे बड़ा लेखक मैक्यावेली (1469-1527 ई.) था। उसकी प्रतिष्ठा एक विद्वान और राजनीतिज्ञ के रूप में अधिक थी। वह मनुष्य के प्रति द्वेष दृष्टि रखता था।

पेट्रार्क

मानववाद के विकास के परिणामस्वरूप साहित्य मे दो मुख्य प्रभाव पड़े—(1) प्राचीन यूनानी साहित्य के अध्ययन का प्रभाव यह हुआ कि प्रादेशिक भाषाओं मे साहित्य की रचना बहुत कम हुई, केवल 15वीं और 16वीं शताब्दी मे ही कुछ साहित्य प्रादेशिक भाषाओं में लिखा गया। (2) प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन कम हो गया क्योंकि केवल मनुष्य से सम्बन्धित ज्ञान पर ही अधिक बल दिया गया। मनुष्य को मानव उसी समय माना गया जब उसने सभ्यता से सम्बन्धित अध्ययन किया हो। इन मानववादी साहित्यकारों ने इस जीवन में मनुष्य की स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। परलोक अथवा खगोल विद्या के विकास की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

पुनर्जागरण कला के क्षेत्र मे

साहित्य से भी अधिक प्रभाव कला के क्षेत्र में हुआ। इस जागरण के परिणामस्वरूप विश्व के महान चित्रकार, मूर्तिकार इस काल में इटली मे हुए। मध्यकाल मे चित्रकारी प्रायः निर्जीव-सी हो गयी थी, किन्तु अब मनुष्य जीवन मे नयी रुचि पैदा हो जाने से तथा व्यावहारिक साहित्य की रचना से चित्रकारों मे प्रचलित पुराने नियमों का उल्लंघन किया जाने लगा। इसी समय तैलचित्र प्रणाली के विकसित हो जाने से चित्रों को आसानी से बनाया जा सकता था। अन्य नगरों की अपेक्षा फ्लोरेन्स में विशेषकर प्रसिद्ध चित्रकार हुए। फ्रालिप्पो लिप्पी पहला चित्रकार था जिसने व्यक्ति के मुख को उसकी आत्मा का प्रतिबिम्ब बनाया। लियोनार्डो द विंची (1452-1519 ई.) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वह महान चित्रकार, शिल्पी तथा

वस्तुवादी ही नहीं था बल्कि एक कुशल गणितज्ञ, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक भी था।

लियोनार्डो द विंची

रेफेल

रेफेल (1483-1520 ई.) तथा माइकेलेंजेलो (1475-1564 ई.) भी उसी के समकालीन थे। रेफेल द विंची का अनुसरण करता था, लेकिन वह धार्मिक भावों को व्यक्त करने में दक्ष था। उसने अपने जीवन का अधिकाश समय पोप के यहाँ नौकरी करके व्यतीत किया और पोप के गृह को सुन्दर चित्रकारी से सुशोभित किया। इसी प्रकार माइकेलेंजेलो भी विभिन्न पोपों की सेवा मे रहा, लेकिन उसकी स्थिति इतनी अच्छी नही थी जितनी रेफेल की। इसलिए उसके चित्रो मे दुःख व्यापक रूप से स्पष्ट था। परन्तु उसका दुःख और वेदना व्यक्तिगत ही नही थी। उसकी सबसे बडी कृति सिस्टाईन गिरजाघर की अन्दर की छत पर बनी थी। इस चर्च में 'द लास्ट जजमेन्ट' का चित्र बना है जो कुछ विज्ञो के अनुसार ससार

माइकेलेंजेलो

सबसे प्रसिद्ध चित्र है। इसमें मानवीय दुःख को बड़े ही भावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। उसने चित्रों में ही नहीं अपितु पत्थर में भी अपने भावों को व्यक्त किया था।
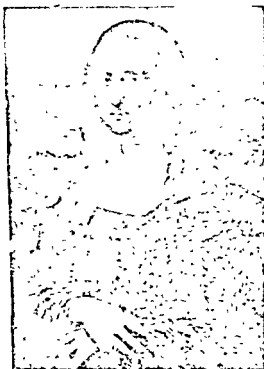
मोना लिसा
लियोनार्डो द विंची द्वारा, फ्लोरेण्टीन की अनिद्य सुन्दरी पत्नी ला गियोकाण्डा के सौन्दर्य के आधार पर निर्मित ख्याति प्राप्त पेंटिंग। द विंची ने इसे चार वर्ष के परिश्रम से बनाया था किन्तु फिर भी वह इसकी यथार्थता एवं पूर्णता से सन्तुष्ट नहीं था

दर्शन तथा विज्ञान की प्रगति—अधिकांश मानववादी, शारीरिक सुख में अधिक विश्वास करते थे। वे शान्ति चाहते थे तथा युद्ध से दूर रहना चाहते थे। कहा जाता है कि द विंची ने अपनी एक वैज्ञानिक खोज को इसलिए नहीं समझाया अथवा स्पष्ट किया कि कहीं शासक युद्ध संचालन में उसका लाभ न उठा लें। निकोलो मैक्या-वली इस पुनर्जागरण का विख्यात राजनीतिक दार्शनिक था। उसने मध्यकालीन राज्य के आधारों को बदलने में बहुत अधिक योगदान दिया। उसने सीमित सरकार तथा राजनीति के नैतिक आधार का खण्डन सबसे अधिक किया। राजनीति में नैतिकता की उसने तीव्र आलोचना की तथा निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। न्याय, दया, नैतिकता

तथा अन्तरराष्ट्रीय समझौते आदि में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध राजतन्त्र के अधिकारों पर नहीं होना चाहिए। उसके अनुसार राज्य को निरन्तर निर्विरोध प्रगति करते रहना चाहिए।

खगोल शास्त्र—आरम्भ में पुनर्जागरण ने विज्ञान को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया, लेकिन व्यापारिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप 15वीं शताब्दी के अन्त तक वैज्ञानिक प्रगति का प्रमुख केन्द्र इटली बन चुका था। मध्यकालीन मत के अनुसार, सब ग्रह पृथ्वी के चारों ओर घूमते थे। चर्च द्वारा भी इसी मत का समर्थन किया गया था। लेकिन लियोनार्डो द विंची ने दूसरे मत की व्याख्या की थी कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तथा सूर्य नहीं घूमता है। विश्व-विख्यात कोपरनिकस ने अपनी शिक्षा इटली में पूरी की थी और वहीं से] इसको, इस सिद्धान्त के विषय में जानकारी प्राप्त हुई थी। आगे चलकर

कोपरनिकस

उसने अपना प्रसिद्ध विचार व्य किया था कि सब ग्रह सूर्य के चारों ओर घमते हैं, सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता। लेकिन उसे चर्च से इतना अधिक भय था कि उसने कई वर्षों तक अपने विचारों को प्रकाशित नहीं किया था और उसकी पुस्तक के प्रूफ उसकी मृत्यु के समय लाये गये थे। इस नये विचार के पक्ष में सबसे अधिक प्रमाणित तथ्य गेलिलियो ने दूरबीन का आविष्कार करके प्रस्तुत किये थे। इस सिद्धान्त से सारा मध्यकालीन ज्ञान ही बदल गया और यह सिद्धान्त ही आने वाले युग में आधारभूत परिवर्तनों के लिए उत्तर-दायी हुआ।

गेलेलियो द्वारा निर्मित दूरबीनों की अनुकृति
इन दूरबीनों में छोटी 92 सेमी लम्बी तथा दूसरी 120 सेमी लम्बी है तथा दोनों ही किसी चीज को 32 वृत्त तक बढ़ाकर दिखाने में सक्षम हैं

यदि विंची एक चित्रकार के रूप में असफल भी हो गया होता तो भौतिक शास्त्री के रूप में वह

अमर रहता है। वह द्रव स्थिति सम्बन्धी विज्ञान में विशेषज्ञ था। उसने गुरुत्वाकर्षण नियम को प्रारम्भिक रूप में व्यक्त किया था। इसके अतिरिक्त उसने विभिन्न ऐसे आविष्कारों के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया था जो कालान्तर मे भाप, इंजन, पत्थर काटने की आरी आदि के निर्माण मे सहायक हुए। चिकित्सा के क्षेत्र मे भी इटली के विज्ञों ने रक्त-संचार, शरीर-रचना विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त इस समय में प्रतिपादित किये थे।

इटली में पुनर्जागरण की समाप्ति—16वी शताब्दी में विश्व व्यापारिक केन्द्र भूमध्यसागर से हटकर अटलांटिक सागर पर स्थित स्पेन तथा पुर्तगाल के हाथों मे चला गया। इस प्रकार इटली के नगर राज्यों की व्यापारिक तथा आर्थिक सम्पन्नता समाप्त हो गयी। इस समय धार्मिक आन्दोलन भी आरम्भ हो चुका था और नये राष्ट्रीय राज्यो का विकास हो रहा था, अत इस शताब्दी के मध्य में यह पुनर्जागरण समाप्त हो गया। सम्भवतः इटली की आर्थिक अवनति, साधारण जनता मे ज्ञान का अभाव अथवा राजनीतिक जीवन मे अस्थिरता इसके कारण हो; किन्तु निश्चित रूप से इस बारे में कुछ कहना कठिन है।

अन्य देशों मे पुनर्जागरण—इटली मे हुए पुनर्जागरण का यूरोप के अन्य देशो मे भी फैलना स्वाभाविक ही था। उत्तरी तथा पश्चिमी यूरोप में सामन्ती व्यवस्था के स्थान पर राजतन्त्र प्रणाली का प्रचलन तथा व्यापारिक प्रगति हो रही थी। अन्तर केवल इतना था कि इटली के बाहर अन्य राज्य कुछ ऐसा रूप धारण करने लगे थे जो आगे चलकर राष्ट्रीय कहलाया। फ्रांस, इगलैण्ड तथा स्पेन मे सबल तथा शक्तिशाली राजतन्त्र का विकास हुआ। केवल जर्मनी ही ऐसा क्षेत्र था जहाँ राष्ट्रीयता के आधार पर कोई परिवर्तन नही हुआ था।

जॉन केपलर

जर्मनी पर प्रभाव—इटली के मानववादी आन्दोलन का प्रभाव सबसे पहले जर्मनी पर पड़ा। लेकिन जर्मनी मानववादी अधिक नहीं हो सका, क्योंकि धार्मिक विवाद अधिक बढ़ गया था और इस वातावरण मे मानवता के तत्व अधिक प्रभावशाली नही हो सकते थे। जर्मनी के एक वैज्ञानिक जॉन केपलर ने कोपरनिकस के सिद्धान्तो मे कुछ सुधार अवश्य किया था। उसने यह बताया था कि विभिन्न ग्रह अण्डाकार मे सूर्य के चारों ओर चक्कर काटते रहते है।

हालैण्ड पर प्रभाव—व्यापार की प्रगति के कारण हालैण्ड निवासियों में पुनर्जागरण का प्रभाव काफी पड़ा। यहाँ यह जागरण इरेसमस (*1466-1536 ई.*) के व्यक्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है। इरेसमस बहुत विद्वान व्यक्ति था। वह यूरोप के विभिन्न देशों में घूमा हुआ था तथा इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्विट्जरलैण्ड आदि में समय-समय पर रह चुका था। वह इन देशों के शासकों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित किये हुए था। वह ग्रीक और लैटिन साहित्य में अधिक रुचि रखता था। उसने अध्यापन तथा लेख आदि लिखने से ही जीवन-निर्वाह करने का निश्चय किया। उसकी लेखन शैली इतनी प्रभावशाली थी कि जो कुछ वह लिखता था अधिकांश जनता उसको पढ़ती थी। उसका कथन था कि सुकरात तथा सिसरो अन्य विभिन्न सन्तो की अपेक्षा अधिक श्रद्धा के पात्र थे। उसकी विद्वत्ता तथा बुद्धिमत्ता के कारण उसको अपने युग का **'सबसे सभ्य पुरुष'** कहा गया है।

इरेसमस

इरेसमस का योगदान

मानवता के दार्शनिक के रूप मे इरेसमस अत्यधिक प्रसिद्ध है। उसका यह विश्वास था कि मनुष्य अच्छाई का पुतला है, और उसका कहना था कि समस्त दुख तथा अन्याय समाप्त हो जायें यदि अज्ञानता तथा अन्धविश्वास समाप्त हो जाय। वह युद्ध तथा हिंसा से कोसो दूर था। उसके अधिकाश लेख धर्म-सुधार के पक्ष में थे। लेकिन धर्म के विरुद्ध युद्ध अथवा आन्दोलन आरम्भ करना उसकी प्रकृति के प्रतिकूल था, वह प्रहसन तथा व्यंग्य द्वारा प्रचलित धर्म के दोषों को दर्शाना चाहता था। वह एक ऐसे सरल धर्म का समर्थक था जो ईसा के दर्शन पर आधारित हो। अपनी प्रमुख कृति 'द प्रेज आव फोली' में उसने बताया था कि धर्म-प्रचारक पाण्डित्याभिमानी हैं तथा लोगो के भोलेपन और श्रद्धालुता का लाभ उठाकर वे जनसाधारण को अन्धकार मे रखते हैं।

फ्रांस में पुनर्जागरण

फ्रास मे पुनर्जागरण की उपलब्धियाँ साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र मे अधिक हुईं। दो प्रसिद्ध लेखकों राबेला तथा मौन्टेन ने लोगो के समक्ष महत्वपूर्ण विचार रखे। राबेला को आरम्भ में एक सन्त बनने की शिक्षा दी गयी थी लेकिन बाद में उसने चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया और वह चिकित्सक बन गया। उसके लेख जनता के अन्धविश्वास तथा ज्योतिषियो पर व्यग्य से भरे होते थे। उसने चर्च की कार्य-विधियो को हास्यास्पद बताया। पुनर्जागरण का अन्य कोई भी लेखक अधिक मानवता

का समर्थक तथा प्रकृति का प्रशसक नही था किन्तु उसके अनुसार मनुष्य की प्रत्येक मूल प्रवृत्ति प्रशसनीय थी, यदि मनुष्य उसके अनुसार दूसरो पर अत्याचार न करे। वह ईसाई धर्म तथा नैतिकता का खण्डन करने वाला था। मोन्टेन उच्चकोटि का संशयशील व्यक्ति था, तथा पलायनवाद का समर्थक था। उसका कहना था कि मुक्ति प्राप्ति सशय तथा सदेह द्वारा सम्भव है, न कि विश्वास द्वारा। उसके सशयशील लेखो ने धर्मान्धता के विकास पर नियन्त्रण रखा।

इंगलैण्ड में पुनर्जागरण

इगलैण्ड मे व्यापार प्रगति पर था तथा यहाँ भी पुनर्जागरण दर्शन तथा साहित्य तक ही सीमित रहा। यहाँ के दार्शनिक मानववादी थे। वे एक सरल शिक्षण पद्धति चाहते थे जो मध्यकालीन तर्कशास्त्र के अध्ययन से मुक्त हो। इन दार्शनिको मे सबसे प्रभावशाली सर टामस मोर था, वह एक सफल वकील था तथा व्यवस्थापिका सभा का अध्यक्ष रह चुका था। उसने यूटोपिया नामक विश्वविख्यात पुस्तक लिखी। यूटोपिया का अर्थ है, 'कही नही'। यह पुस्तक एक काल्पनिक द्वीप पर एक आदर्श सामाजिक ढाँचे का वर्णन करती है। इसके माध्यम से मोर ने तत्कालीन समाज की खुले रूप से आलोचना की थी, धर्म के नाम पर अत्याचार तथा धन कमाने के नाम पर लूट-खसोट की पूरी आलोचना की गयी थी। 'यूटोपिया' में मोर के विचार अपने समय से बहुत आगे थे।

इतिहास मे मोर से भी अधिक प्रसिद्धि इगलैण्ड के सर फ्रांसिस बेकन (1561-1626 ई.) की है। बेकन का बाल्यकाल बहुत अधिक आराम से व्यतीत हुआ था, लेकिन जब वह 17 वर्ष का था उसके पिता की मृत्यु हो गयी और उसे अपनी जीविका कमाने के लिए नौकरी ढूढनी पडी। यह एक प्रसिद्ध वकील तथा न्यायाधीश रह चुका था। उसने दर्शन के क्षेत्र मे आगमन प्रणाली (Inductive Method) को ही सत्य तक पहुँचने का मार्ग बताया। उसका कथन था कि पूर्व अनुमान तथा पूर्व धारणा के आधार पर सत्य तक नही पहुँचा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति का स्वय अध्ययन करना चाहिए। लेकिन वह स्वय अपने कथन के अनुसार कार्य नहीं करता था। उसने वैज्ञानिक पद्धति को प्रोत्साहन दिया।

विलियम शेक्सपीयर

साहित्य मे नाटक की रचना मे इगलैण्ड को विशेष ख्याति प्राप्त है। इस समय इगलैण्ड मे दो प्रसिद्ध नाटककार हुए क्रिस्टोफर मारलो तथा विलियम शेक्सपीयर। मारलो की मृत्यु युवावस्था मे ही हो गयी थी, उसका सबसे प्रसिद्ध नाटक 'डा. फौसटस' है। शेक्सपीयर भी पुनर्जागरण के मानववादी

विचारों से प्रभावित था। उसके नाटक आज भी अधिक रुचि से पढ़े जाते हैं क्योंकि वह मानव-चरित्र का पारखी था और उसने मानव के विभिन्न आवेगों का अच्छा चित्रण किया था। उसके दुखान्त नाटकों में 'मैकबैथ', 'ओथेलो', 'किंग लीयर' तथा 'हैमलेट' अधिक प्रसिद्ध हैं। उसके सुखान्त नाटकों में 'मर्चेन्ट ऑव वेनिस', 'मिड-समर नाइट्स ड्रीम' अधिक लोकप्रिय हैं।

पुनर्जागरण का प्रभाव

विभिन्न देशों में पुनर्जागरण का संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इस पुनर्जागरण के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए और इसका प्रभाव मानव जीवन के समस्त अंगों पर पड़ा। विभिन्न परिणामों में से निम्न विशेष उल्लेखनीय हैं :

1. **भौगोलिक खोज**—मध्यकाल में यूरोप का एशिया से व्यापार दो मार्गों से होता था। ये दोनों मार्ग उन वस्तुओं के व्यापार के नाम पर पड़ गये थे, जो इन मार्गों से आती थीं। एक कहलाता था 'रेशम मार्ग' और दूसरा 'मिर्च मार्ग'।

रेशम मार्ग—इस मार्ग से चीन से विशेषकर रेशमी वस्त्र तथा अन्य सामान मध्य एशिया, काले सागर तथा सीरिया होते हुए यूरोप पहुँचते थे। यह व्यापार जेनोआ के हाथों में था।

मिर्च मार्ग—इस मार्ग से अधिकांशतः मसाले तथा मिर्च आदि जाते थे। यह वस्तुएँ चीन के बन्दरगाहों से लंका, भारत तथा लाल सागर होती हुई एलेक्जेण्ड्रिया पहुँचती थीं। यह व्यापार वेनिस के हाथ में था। 12वीं शताब्दी के पश्चात् इन दोनों मार्गों से व्यापार में कठिनाइयाँ अनुभव की जाने लगी थीं क्योंकि तुर्कों का अधिकार पूर्वी यूरोप में बढ़ रहा था और धर्मयुद्धों में यूरोपवासियों ने मसाले के प्रयोग के महत्त्व को समझा था, इसलिए मसाले के लाभदायक व्यापार को बनाये रखने के लिए नये मार्गों की खोज आवश्यक हो गयी।

स्पेन तथा पुर्तगाल का योगदान

लेकिन भौगोलिक खोज में इटली के नगर राज्यों की अपेक्षा स्पेन तथा पुर्तगाल का अधिक योगदान रहा। इसके प्रमुख कारण कई थे। पहला यह कि स्पेन तथा पुर्तगाल दोनों ही पूर्व के देशों से व्यापार का लाभ उठाना चाहते थे तथा वे इटली के नगर राज्यों से भिन्न मार्ग की खोज करना चाहते थे। दूसरे यह कि स्पेन निवासियों ने मुसलमानों के विरुद्ध सैनिक अभियानों में सफलता प्राप्त की थी, उनमें धार्मिक जोश अधिक था और वे आदमियों को धर्म का मार्ग बताने के इच्छुक थे। इन भौगोलिक खोजों में दिक्सूचक यन्त्र (Mariner's Compass) तथा नक्षत्र-यन्त्र ने भी योगदान दिया। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यह दोनों यन्त्र 12वीं शताब्दी तक बन चुके थे तथा यूरोप में यह विश्वास भी साधारणतया फैल चुका था कि पृथ्वी गोल है। यह सब भौगोलिक यन्त्र तथा पृथ्वी सम्बन्धी ज्ञान भौगोलिक खोजों से लगभग दो सौ वर्ष पहले ही उपलब्ध हो चुके थे। इन खोजों में पुर्तगाल ने विशेष-रूप से भाग लिया और इसका श्रेय उसके नाविक राजकुमार हेनरी को प्राप्त है।

उसका योगदान यह था कि उसने पहले से प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञान का बोध समुद्री जहाजों के निर्माण करने वालों तथा उसके नाविकों को कराया जिससे अधिक अच्छे जहाज बनने लगे। उत्तर-दक्षिण का ज्ञान दोपहर में सूर्य के कोण को देखकर लगाया जा सकता था और इस प्रकार नाविक अपनी स्थिति का पता लगा लेते थे। राजकुमार हेनरी ने योग्य गणितज्ञों तथा नक्षत्रशास्त्रियों की सेवाओं से लाभ उठाकर यह सब गणनाएँ पूरी करवा लीं। इन गणनाओं के फलस्वरूप वास्को डि गामा 90 दिन तक यात्रा करता रहा और बिना भूमि पर पैर रखे हुए वह सफलतापूर्वक 'केप ऑव गुड होप' पहुँच सका।

वास्को डि गामा

पुर्तगाल तथा स्पेन के निवासी अन्य पूर्वी देशों की अपेक्षा अपनी प्रधानता सामुद्री मार्ग पर बनाये रख सके, इसका मुख्य कारण यह था कि उनके जहाजों पर दूर तक मारने वाली बन्दूकें लगी होती थीं जिनका प्रति-उत्तर अरब नाविकों के पास नहीं था। इस कारण विश्व के अन्य देशों की खोज यूरोपवासियों द्वारा हुई। 1492 ई. में कोलम्बस ने पश्चिमी द्वीप-समूह, 1498 ई. में वास्को डि गामा ने भारत, 'अमरिगो वेस पुक्की' ने नये विश्व की, तथा *1513* ई. में बालबोआ ने प्रशान्त महासागर की खोज की। 1519 ई. में कोरटेज ने मेक्सिको का पता लगाया।

कोलम्बस

भौगोलिक खोजों का परिणाम

भौगोलिक खोजों के कई महत्त्वपूर्ण प्रभाव हुए :

(1) **पूंजीवाद का विकास**—दक्षिणी अमरीका से सोना-चाँदी अधिक मात्रा में यूरोप पहुँचा। इससे मूल्यों में अधिक वृद्धि हुई जिसका परिणाम निश्चित आय वाले व्यक्तियों तथा कृषि पर भी पड़ा। इसी से पूँजीवाद के विकास को सहायता मिली।

(2) **नये शक्तिशाली राज्यों का विकास**—विश्व की खोज तथा जानकारी से यूरोप की प्रधानता स्थापित हुई जो प्रायः शताब्दियों तक चलती रही। समुद्री व्यापार, जो पहले केवल भूमध्यसागर तक ही सीमित था, अब महासागरों तक फैल गया।

पुनर्जागरण का महत्त्व

वैज्ञानिक प्रगति—मध्यकालीन विज्ञान धर्म तथा दार्शनिक तथ्यों से उलझे रहते थे। पुनर्जागरण ने जिज्ञासा तथा नये प्रकार से सोचने को प्रोत्साहन दिया। कोपरनिकस, केप्लर तथा गैलीलियो ने जैसा ऊपर बताया गया है, खगोलशास्त्र के ज्ञान में काफी वृद्धि की। चिकित्सा आदि के क्षेत्र में भी काफी परिवर्तन हुए। प्रायोगिक अनुभव को अधिकारी विद्वानों के कथन के स्थान पर अधिक मान्यता देना विज्ञान की प्रगति में सहायक हुआ।

राजनीति पर प्रभाव—पुनर्जागरण का राजनीति तथा धर्म दोनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। मध्य काल में राजनीति धर्म तथा नैतिकता पर आधारित थी। पुनर्जागरण के राजनीतिज्ञ मैक्यावेली ने कुछ नये राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिनसे राजनीति का सम्बन्ध नैतिकता से अलग कर दिया गया और इसके स्थान पर उसने राज्य के हित को सर्वोच्च बनाया जिससे निरंकुश राजतन्त्र के विकास में सहायता मिली।

धर्म पर प्रभाव—पुनर्जागरण धर्म-विरोधी नहीं था, कुछ व्यक्तियों ने भले ही कहीं धर्म-विरोधी विचार व्यक्त किये हों। लेकिन रोम के विभिन्न पोप स्वयं पुनर्जागरण के पोषक थे। इतना प्रभाव अवश्य हुआ कि पुनर्जागरण ने मानव जीवन का अत्यन्त विस्तृत दृश्य प्रस्तुत किया। मनुष्य की संकल्पशक्ति को बढ़ावा दिया। इससे मनुष्य उन धार्मिक तथा आध्यात्मिक बन्धनों को ढीला करने के लिए उत्सुक हुआ जो उसको मध्यकाल में बांधे हुए थे। चर्च की सत्ता विश्वास और निष्ठा पर आधारित थी किन्तु नवजागरण ने इन आधारों को हिला दिया।

इस प्रकार उपरोक्त प्रभावों से एक ऐसी राजनीति की कल्पना की गयी जो धर्म पर आधारित नहीं थी। इससे आगे चलकर एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना में सहायता मिली। यद्यपि धर्म-सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप कुछ समय के लिए

धार्मिक संघर्ष बढ़ गये लेकिन जिस राजनीतिक व्यवस्था की कालान्तर में स्थापना हुई उसमे धार्मिक अन्धविश्वासों का कोई स्थान न था।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नो के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. मध्यकाल में समाज का नेतृत्व जिस वर्ग के हाथों में था वह था—
   (क) सामन्तो का (ख) पढे-लिखे लोगों का
   (ग) भूमि-स्वामियो का (घ) धार्मिक अधिकारियो का ( )
2. 13वी शताब्दी में पोप ने धर्मयुद्ध मे फ्रेडरिक द्वितीय के विरुद्ध अपने अधिकारो का जब प्रयोग करने का प्रयत्न किया तो असफल रहा, क्योकि—
   (क) अन्य राजाओं ने पोप का साथ न दिया
   (ख) पोप के पास सेना नही थी
   (ग) पादरी फ्रेडरिक का समर्थन कर रहे थे
   (घ) जनता ने पोप का समर्थन नही किया ( )
3. पुनर्जागरण को प्रभावशाली और गतिमान बनाने में जो तत्त्व सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ, वह था—
   (क) कोन्सटेन्टिनोपल पर तुर्कों का अधिकार
   (ख) यूनानी विद्वानो का यूरोप में आना
   (ग) नगरो का विकास
   (घ) मध्यकालीन व्यवस्था का समाप्त होना ( )
4. मध्यकालीन व्यवस्था में—
   (क) व्यक्ति का महत्त्व कम था, धर्म का अधिक
   (ख) धर्म का कम था व्यक्ति का अधिक
   (ग) दोनों का ही महत्त्व नहीं था
   (घ) दोनों का ही समान महत्त्व था ( )
5. यूनानी दर्शन और साहित्य में अधिक बल दिया गया था—
   (क) ईसा के सिद्धान्तो पर
   (ख) व्यक्ति के विकास और उपलब्धियो पर
   (ग) श्रद्धा और भक्ति पर
   (घ) किसी पर नही ( )
6. धार्मिक बन्धनो से मुक्ति का आन्दोलन नये व्यापारिक नगरों मे फैला क्योकि—
   (क) यहाँ पर भूमि आय का प्रमुख साधन नही थी
   (ख) यहाँ धनी व्यक्ति रहते थे

(ग) यहाँ धर्म का प्रभाव नहीं था
(घ) ये स्थान रोम से बहुत दूर थे ( )

7. पुनर्जागरण काल में इटली का सबसे बड़ा लेखक, जो मनुष्य के प्रति द्वेष रखता था, किन्तु अच्छा नाटककार भी था, उसका नाम था—
(क) पेट्रार्क (ख) बोकेशियो (ग) मैक्यावेली (घ) रेफेल ( )

8. व्यक्ति का मुख उसकी आत्मा का प्रतिबिम्ब है, ऐसा कहने वाला इटली का पहला चित्रकार था—
(क) फिलिप्पो लिप्पी (ख) रेफेल
(ग) माइकेलेंजेलो (घ) लियोनार्डो द विंची ( )

9. 'पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है लेकिन सूर्य नहीं घूमता' यह कथन था—
(क) लियोनार्डो का (ख) कोपरनिकस का
(ग) शेक्सपीयर का (घ) इरेसमस का ( )

10. मानववादी आन्दोलन का इटली के अतिरिक्त जिस देश पर पहले प्रभाव पड़ा, वह था—
(क) जर्मनी (ख) हालैण्ड (ग) फ्रांस (घ) इंगलैण्ड ( )

11. विद्वत्ता एवं बुद्धिमत्ता के कारण जिस व्यक्ति को अपना युग का सबसे सभ्य पुरुष कहा जाता है, वह था—
(क) इरेसमस (ख) लूथर
(ग) जॉन केपलर (घ) विंची ( )

12. 'यूटोपिया' का लेख कया—
(क) टामस मोर (ख) बेकन
(ग) क्रिस्टोफर मारलो (घ) शेक्सपीयर ( )

13. अरबों की अपेक्षा पुर्तगालियों का समुद्र पर अधिकार होने का कारण था—
(क) पुर्तगालियों के पास दूर तक मारने वाली बदूकें थीं
(ख) पुर्तगालियों का स्पेन से संघर्ष चलता रहता था
(ग) पुर्तगालियों की सहायता हेनरी द नेवीगेटर कर रहा था
(घ) पुर्तगालियों के पास कुतुबनुमा था ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 4-5 पंक्तियों से अधिक में न हो।

1. नगरों की स्थापना से विचारों में 'स्वतन्त्रता' किस प्रकार आयी ?
2. 'पुनर्जागरण काल में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन हुए।' सामन्ती जीवन में कोई एक उदाहरण दो, जिससे इस कथन की पुष्टि हो सके।
3. पुनर्जागरण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. 1453 ई. के पश्चात् यूरोप में यूनानी साहित्य का अध्ययन वेग से क्यों बढ़ा ?
5. पुनर्जागरण के वे दो कारण बताइए जिनसे पोप की शक्ति और प्रतिष्ठा को धक्का लगा।

6. पुनर्जागरण इटली में ही प्रारम्भ हुआ। कोई तीन कारण बताइए।
7. मानवता के विकास में साहित्य रचना मे दो प्रमुख प्रभाव बताइए।
8. कलाकार के स्वय के जीवन का, विशेष रूप से आर्थिक स्थिति का, उसकी कृतियों पर भी प्रभाव पडता है। माइकेलेंजेलो के जीवन से उदाहरण देते हुए स्पष्ट करो।
9. निम्नलिखित व्यक्तियो की विशेषता बताइए तथा वे किस देश के निवासी थे ?

लेखक	उपलब्धि	देश
रावेला		
इरेसमस		
टामस मोर		
फ्रांसिस बेकन		
शेक्सपीयर		
कोपरनिकस		
जॉन केपलर		

10. भौगोलिक खोजों में इटली की अपेक्षा स्पेन और पुर्तगाल का योगदान अधिक क्यो रहा ?
11. 'मिर्च मार्ग' और 'रेशम मार्ग' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर तीन पृष्ठ में लिखिए।

1. पुनर्जागरण के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।
2. पुनर्जागरण का साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान पर क्या प्रभाव पडा ?
3. स्पेन और पुर्तगाल का भौगोलिक खोजो में योगदान बताइए।

करने योग्य बातें

1. विश्व का मानचित्र लेकर विभिन्न भौगोलिक खोजो का मार्ग स्पष्ट कीजिए।

2

धर्म-सुधार आन्दोलन तथा धार्मिक एकता का खण्डन

पुनर्जागरण तथा धर्म-सुधार आन्दोलन में आपसी सम्पर्क

पुनर्जागरण इटली में आरम्भ हुआ [illegible] धर्म-सुधार आन्दोलन का [illegible] था और इसलिए कुछ विद्वानों ने इनको एक ही मान लिया [illegible]। ये दोनों आन्दोलन मध्य-कालीन [illegible] विचारधारा के परिणाम थे। इस विचारधारा से प्रभावित होकर इनको [illegible] करने का प्रोत्साहन मिला था। इन दोनों आन्दोलनों में कुछ बातों में समानता दिखाई पड़ती है। दोनों एक प्रकार से आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के परिणाम थे। दोनों ही प्राचीन काल के ग्रन्थों का पुनः अध्ययन करना चाहते थे तथा उन्हें अधिक लोक-प्रिय बनाना चाहते थे। पुनर्जागरण ग्रीक तथा रोमन साहित्य का और धर्म-सुधार आन्दोलन ईसा मसीह के सिद्धान्तों का, जो बाइबिल में दिये हुए हैं, अध्ययन चाहते थे। लेकिन इन आन्दोलनों की समानता यहीं समाप्त हो जाती है, दोनों में समानता की अपेक्षा मौलिक अन्तर अधिक है।

पुनर्जागरण संसार में जीवन का आनन्द लेने के लिए आन्दोलन था। धर्म-सुधार आन्दोलन सांसारिक सुखों को हेय समझता था। पुनर्जागरण के नेता सहनशील तथा तर्क को प्रमुख मानते थे, जबकि धर्म-सुधार आन्दोलन के समर्थक विश्वास और भक्ति को सर्वोच्च समझते थे। इतना ही नहीं, बल्कि यह कहना उचित होगा कि धर्म सुधार आन्दोलन मध्यकालीन व्यवस्था से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद चाहता था, जबकि पुनर्जागरण के मानववादी ऐसा नहीं चाहते थे। इसके अतिरिक्त धर्म-सुधार कुछ राजनीतिक तत्वों के साथ जुड़ा हुआ था जबकि पुनर्जागरण का ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि धर्म-सुधार आन्दोलन पुनर्जागरण का भाग नहीं था।

धर्म-सुधार आन्दोलन के कारण

अब यह बात सर्वमान्य है कि धर्म-सुधार आन्दोलन केवल धार्मिक कारणों से ही उत्पन्न नहीं हुआ था। वास्तव में विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों ने धर्म-सुधार आन्दोलन में योग दिया, इसका प्रमाण यह है कि यदि धार्मिक कारणों से ही यह आन्दोलन प्रेरित होता तो इतना अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकता था और न ही इतना व्यापक हो सकता था।

राजनीतिक कारण

राष्ट्रीय निरंकुश राजतन्त्र का विकास—उत्तरी यूरोप में राष्ट्रीय जागृति तथा निरंकुश राजतंत्र का अभ्युदय इन आन्दोलनों में सहायक हुआ। इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस तथा अन्य राज्य अपने आन्तरिक मामलों में पोप का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते थे। पोप को वह एक विदेशी समझते थे। इंगलैण्ड ने 14वीं शताब्दी के ही मध्य में पोप द्वारा चर्च में नियुक्तियों को स्वीकार करने से मना कर दिया था तथा इंगलैण्ड में तय किये गये मुकदमों की अपील पोप के पास जाने से रोक दी थी। 1438 ई. में फ्रांस में भी पोप द्वारा की गयी नियुक्तियों को अस्वीकृत कर दिया था। यह राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना निरंकुशता के विकास के साथ-साथ बढ़ी थी। यह कहना कठिन है कि इस राष्ट्रीय स्वाधीनता की जागृति कितनी तो राजाओं के द्वारा हुई तथा कितनी स्वतः उत्पन्न हुई। लेकिन इतना निश्चित है कि कोई भी राजा धर्म को अपने नियन्त्रण के बाहर मानने को तैयार नहीं था। वह निरंकुश उस समय तक हो ही नहीं सकता था, जब तक किसी अन्य शक्ति के पास उस देश में किसी प्रकार नियन्त्रण रखने का अधिकार हो।

पोप के राजनीतिक अधिकारों को समाप्त करना

राजाओं के निरंकुश होने की भावना को प्राचीन रोम के विधि-विधानों के अध्ययन से बल मिला, क्योंकि उसके अनुसार जनता ने समस्त अधिकार राजा को दे दिये थे। 13वीं और 14वीं शताब्दी में इंगलैण्ड तथा फ्रांस में इस विचार का मुक्त रूप से प्रचार किया जाता था कि पोप के राजनीतिक अधिकार राज्याध्यक्ष को दे दिये जाने चाहिए। इस प्रकार राजाओं की इच्छा पोप के राजनीतिक अधिकारों को समाप्त करने के पक्ष में थी और वे किसी भी ऐसे आन्दोलन को आश्रय देने के पक्ष में थे जो उनके इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हो।

आर्थिक कारण

चर्च की सम्पत्ति—राज्यों के शासक चर्च की सम्पत्ति पर नियन्त्रण करना चाहते थे, क्योंकि चर्च मध्यकाल में एक ऐसी संस्था बन गयी थी, जिसके आर्थिक साधन अत्यधिक थे। यह सबसे बड़ा भू-स्वामी था और इसके पास असीमित चल-सम्पत्ति भी थी। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जर्मनी में कुल भूमि का ⅓, फ्रांस में ⅕ चर्च के पास था और यह भाग भी सबसे श्रेष्ठ उपजाऊ भूमि का था। राजाओं को बड़ी सेना तथा नौसेना के संगठन के लिए बड़ी पूंजी की आवश्यकता थी। कैथोलिक नियमों के अनुसार चर्च सम्पत्ति का अपहरण वर्जित था।

इतना ही नहीं, चर्च की सम्पत्ति पर कर भी नहीं लगाया जा सकता था। इसका अभिप्राय यह था कि व्यापारिक वर्ग पर करों का बोझ अधिक पड़ता था और उनमें चर्च की सम्पत्ति के प्रति ईर्ष्या बढ़ने लगी। जर्मनी में विशेषकर बहुत-से छोटे शासक चर्च की सम्पत्ति को ललचायी हुई निगाह से देखते थे क्योंकि सामन्ती

ारा लगाये गये कर

इसके अतिरिक्त पोप द्वारा विभिन्न कर भी लगाये जाते थे, जिनको राष्ट्रीय र वर्ग देना नहीं चाहता था। उदाहरणार्थ—पीटर्स पेन्स, जिसके अनुसार प्रत्येक ा को एक पेन्स देना पड़ता था। टाइथ—प्रत्येक ईसाई को चर्च के खर्च के लिए । आय का $\frac{1}{10}$ भाग देना पड़ता था। अन्य छोटे-छोटे कर भी चर्च में जमा ा पड़ते थे, इन करों के बारे में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इनके विरुद्ध ोलन कुछ तो उनके आर्थिक बोझ के कारण था लेकिन अधिक इसलिए था कि ये देश के बाहर जाते थे और ऐसा अनुभव होता था कि एक बाह्य शक्ति ने राष्ट्र उपनिवेश समझ रखा हो। यह असन्तोष उस समय और अधिक बढ़ गया जब मालूम हुआ कि इस धन का अधिकांश भाग पोप के विलासमय दरबार का खर्च ने के काम आता था।

चर्च और व्यापारिक व्यवस्था में संघर्ष—आर्थिक दृष्टि से एक और आपत्ति-क बात यह थी कि कैथोलिक मान्यता उस व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध थी जो वी तथा 16वी शताब्दी में व्याप्त थी। चर्च के अनुसार ब्याज लेना मना था, ा व्यापार में अधिक लाभ उठाना भी वर्जित था। बैंकिंग प्रणाली का विकास चर्च के ासवादी विचारों के विरुद्ध था। जब तक ब्याज लेने का कारोबार तथा व्यापार अनुचित लाभ मुसलमान तथा यहूदी करते थे उस समय तक चर्च द्वारा निन्दा या जाना उचित था, लेकिन जब वही व्यापार तथा कारोबार ईसाई करने लगे थे ा अत्यधिक धनी बनने लगे तो यह प्रतिबन्ध उन्हें आपत्तिजनक लगने लगा था। ायद इटली निवासी तो व्यापार करते रहते और धार्मिक प्रतिबन्धों को विशेष महत्त्व हीं देते लेकिन उत्तरी यूरोप निवासी इन धार्मिक बन्धनों को अधिक गम्भीरता से ते थे। वे अपने व्यवहार तथा चर्च के सिद्धान्तों में अधिक मतभेद से दुखी थे। एक ो मार्ग उनके सामने था—या तो वे अपने आचरण में परिवर्तन करें अथवा धर्म में ावश्यक परिवर्तन किये जायें।

धार्मिक कारण—यह बात सर्वमान्य है कि 15वी शताब्दी के अन्त तथा 16वीं ताब्दी के आरम्भ में प्रचलित रोमन कैथोलिक चर्च में अत्यधिक दोष थे और ये दोष व्यापक थे, अर्थात् चर्च के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित थे। इन दोषों में से कुछ निम्न थे:

1. चर्च द्वारा अनुचित आर्थिक लाभ—इस सन्दर्भ में दो कुरीतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं—(अ) पदों की बिक्री, (ब) इण्डलजेंस की बिक्री।

(अ) पदों की बिक्री—यद्यपि उस समय लौकिक पदों पर भी नियुक्तियाँ धन देकर प्राप्त की जाती थीं लेकिन चर्च में भी यह प्रथा प्रचलित हो यह बात विशेष आपत्तिजनक थी। पोप लियों दसवां प्रति वर्ष पाँच लाख ड्यूकट (1 ड्यूकट = 8 रुपये) कमाता था। इसके अतिरिक्त चर्च का न्याय धन से खरीदा जा सकता था, विभिन्न

निषिद्ध सम्बन्धियों में विवाह की अनुमति भी चर्च द्वारा धन लेकर दे दी जाती थी।

(घ) इण्डलजेंस की बिक्री—यह यह दोष है जिसकी सबसे अधिक आलोचना की गयी है। 13वीं शताब्दी में चर्च में प्रधानतावादियों के अनुसार 'पुण्य के कोष' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था। इसमें यह बताया गया था कि ईसा तथा अन्य सन्तों ने पृथ्वी पर अपने पुण्य कार्यों से स्वर्ग से कुछ अधिक पुण्य कमा लिया था और इस अधिक पुण्य का एक कोष एकत्र हो गया है तथा इस अधिक पुण्य कोष में से पोप कुछ पुण्य साधारण जनता में बाँट सकता था। यह कोष कभी न समाप्त होने वाला था।

इस आधार पर पोप इण्डलजेंस प्रदान कर दिया करता था। यह एक प्रकार का सर्टिफिकेट होता था जिसके द्वारा लोगों को इस पृथ्वी तथा पर्गेटरी (पाप-मोचन स्थान) में मिलने वाले कष्ट से आंशिक अथवा पूर्ण रूप से छुटकारा मिल सकता था, इसका नरक में मिलने वाले कष्ट से कोई सम्बन्ध नहीं था। आरम्भ में ये सर्टिफिकेट केवल अच्छे कार्यों के बदले में दिये जाते थे; जैसे—दान, पुण्य, धर्मयुद्ध में भाग लेना आदि, लेकिन 14वीं तथा 15वीं शताब्दियों में ये धन के बदले दिये जाने लगे। इस दोष की पराकाष्ठा तब हुई जब पोप ने 33 प्रतिशत छूट पर कमीशन एजेन्टों को बेचना शुरू कर दिया। इन एजेन्टों ने धन कमाने के लिए साधारण जनता को बहकाना आरम्भ किया कि ये पत्र स्वर्ग के लिए प्रवेश पत्र हैं। 16वीं शताब्दी के शुरू होते-होते यह चर्च के लिए एक भयंकर कलंक बन चुका था।

चर्च के अधिकारियों का भ्रष्ट जीवन—तत्कालीन आकड़ों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अधिकांश पादरी अशिक्षित थे, तथा अनैतिक जीवन व्यतीत करते थे। बहुत से पादरी प्रार्थना के पद भी नहीं बोल सकते थे। पूजा प्रणाली अत्यन्त दूषित थी। इरेसमस ने लिखा था कि सन्तों की पूजा में प्रायः कोई अन्तर नहीं रह गया था और यदि इरेसमस के लिखे को सही मानें तो लोग पूजा का प्रयोग बुरी इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी करते थे। भिक्षुणियाँ अपने पाप को छुपाने के लिए, जुआ खेलने वाले जुए में जीतने के लिए, व्यापारी अधिक लाभ के लिए पूजा करते थे। सन्तों के स्मारक चिह्नों अथवा जिन वस्तुओं को उन्होंने प्रयोग किया हो, उनके प्रति कुछ ऐसा विश्वास था कि मानो उनमें चमत्कारी शक्ति विद्यमान हो। इस विश्वास का पादरी वर्ग अधिक लाभ उठाता था। इरेसमस ने कहा था कि विभिन्न गिरजाघरों में रखे क्रास की लकड़ी से जहाज तक बनाया जा सकता था। ईसा की माता 'मेरी' के दूध की भरी बोतल आदि विभिन्न स्थानों पर रखी रहती थी।

उपरोक्त धार्मिक कुरीतियाँ होते हुए भी यह माना जाता है कि ये दोष धर्म-सुधार आन्दोलन के लिए प्रमुख रूप में उत्तरदायी नहीं कहे जा सकते। वास्तव में जब मार्टिन लूथर ने अपना आन्दोलन आरम्भ किया था उस समय अन्य कैथोलिक नेता स्वयं सुधार की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। और कुछ सुधार थोड़े समय में हो भी जाते, लेकिन कुछ मौलिक कारण धार्मिक क्षेत्र में ऐसे थे जिन पर कोई

सन्तोष नहीं हो सकता था और एक धार्मिक आन्दोलन आवश्यक-सा बन गया था।

3. **दो विभिन्न धर्म दर्शनों में संघर्ष**—मध्यकाल में दो विभिन्न धर्म दर्शनों का विकास हुआ। एक थे सेन्ट आगस्टीन के अनुयायी और दूसरे थे सेन्ट एक्विना के समर्थक। आगस्टीन के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिशाली है तथा मनुष्य पूर्ण रूप में पराधीन है, वह ईश्वर पर अपने अच्छे कामों तथा मृत्यु उपरान्त जीवन के लिए निर्भर है। लूथर इसी मत का मानने वाला था। आगस्टीन के निराशावादी सिद्धान्त के अनुसार, चर्च का कोई विशेष योगदान ही नहीं रह जाता था, विशेषकर उस स्थिति में जब मनुष्य का भाग्य पहले से निश्चित था।

12वीं तथा 13वीं शताब्दी में दूसरा दर्शन प्रस्तुत किया गया। इसका सबसे बड़ा समर्थक एक्विना था। इसके अनुसार मनुष्य को यह सवल्प प्राप्त है कि वह अच्छे और बुरे में पहचान कर सके। इस पहचान में उसे चर्च की सहायता की आवश्यकता होती है। ईश्वर की कृपा पाने योग्य बनने के लिए चर्च द्वारा किये गये संस्कार आवश्यक हैं और चर्च के कर्मचारी ही पीटर द्वारा दिये गये अधिकारों के फलस्वरूप ये कार्य सम्पन्न करवा सकते थे।

ये दोनों धर्म दर्शन परस्पर विरोधी भाव व्यक्त करते थे। धर्म-सुधारक यह चाहते थे कि धर्म में प्राचीन, सरल तथा उपयोगी धर्म दर्शन अपनाया जाय। उनका कहना था कि वे सिद्धान्त जो आरम्भिक धर्म-प्रचारकों ने प्रतिपादित नहीं किये अधिक मान्य नहीं होने चाहिए।

4 **पोप की प्रतिष्ठा को धक्का**—12वीं शताब्दी के अन्त तक पोप को सम्राट के विरुद्ध सफलता मिल चुकी थी तथा उसकी प्रतिष्ठा भी बहुत अधिक थी, लेकिन 14वीं शताब्दी के आरम्भ में पोप यह स्थान खो चुका था और वह फ्रांस की सरकार के अधीन रह गया था। वास्तव में फ्रांस के सिपाहियों ने पोप को बन्दी बनाया और कैद में पोप मर भी गया। इसके कुछ समय पश्चात् एक के स्थान पर दो पोप होने लगे और यह स्थिति 1378 ई. से 1417 ई. तक चलती रही। सर्वोच्च धार्मिक अधिकारी के पद पर इस प्रकार का संघर्ष उस पद की प्रधानता तथा महत्त्व को समाप्त करने में सहायक हुआ। 15वीं शताब्दी में धार्मिक नेताओं की सभा ने इस भेदभाव को समाप्त किया और 1516 ई. तक पोप पुनः अपने अधिकार प्राप्त कर सका। इस प्रकार 14वीं तथा 15वीं शताब्दी पोप की प्रतिष्ठा के लिए घातक सिद्ध हुई।

उपरोक्त कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चर्च में प्रचलित दोषों के कारण आलोचकों को चर्च के खिलाफ प्रचार करने का अच्छा अवसर मिला। चर्च के प्रतिनिधियों के आचरण और कथन में अन्तर होने के कारण आलोचक जनमत को अपने पक्ष में कर सके।

लूथर के पूर्व धर्म-सुधारक

सवनारोला—15वीं शताब्दी के अन्त में चर्च की बिगड़ती हुई स्थिति को देखते

हुए कुछ सुधारक तथा साधु पैदा हुए, जिन्होंने अत्यधिक सयम के आधार पर कुछ सुधार करने चाहे। इस प्रकार के तपस्वी नेताओं में सेवानारोलों (1452-98 ई.) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह इतना प्रभावशाली वक्ता था कि वह अपने श्रोताओं को रुला सकता था। उसकी मान्यता इस बात से और अधिक बढ गयी थी कि उसने फ्लोरेन्स (जहाँ का वह निवासी था) पर फ्रांस के आक्रमण की भविष्यवाणी करदी थी जो ठीक सिद्ध हुई। वह सयमी जीवन का समर्थक था और उसने लोक जीवन में प्रचलित व्यापक विलासिता को कम करवाने मे काफी योगदान दिया। बहुत-सी स्त्रियां घर छोडकर मठो में भिक्षुणियां बन गयी। उसने पोप के आदेशो का (यदि वे आदेश अनुचित हों) पालन करने से मना किया। उसने अपने आपको ईश्वरीय शक्ति से प्रेरित घोषित किया।

उसके तपस्वी जीवन पर अधिक बल देने से उसके अनुयायी उससे प्रसन्न नही थे। उसके किसी विरोधी ने उसे चुनौती दी कि वह जलती आग में कूदकर अपने ईश्वरीय होने का प्रमाण दे। उसने इस अग्नि परीक्षा के लिए इनकार किया और अन्त मे फ्लोरेन्स की नगरपालिका ने उसको कैद कर लिया और यातनाएं देकर उससे यह बात स्वीकार करवाई कि वह ईश्वर की ओर से भेजा हुआ पैगम्बर नहीं है। उसको तथा उसके दो अन्य साथियो को मृत्यु दण्ड दिया गया और इस प्रकार उसके प्रभाव को समाप्त कर दिया गया।

जॉन विकलिफ (1320-1384 ई.)

विकलिफ इगलैण्ड निवासी था तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। वह वर्षों तक धर्म दर्शन पर भाषण देता रहा। पचास वर्ष की आयु मे, वह उस समय धर्म-सुधारक बना जब उसे पोप द्वारा धर्म-सुधार किये जाने की सम्भावना नही रही। उसने इगलैण्ड की सरकार से चर्च के अधिकार क्षेत्र को अपने नियन्त्रण में लेने का आग्रह किया क्योंकि चर्च का कार्य अनधिकृत था। पोप ने उसको बहिष्कृत किया लेकिन लकास्टर के राजकुमार ने उसको अपने यहाँ शरण दी। 1378 ई. मे उसको पार्लियामेन्ट द्वारा धर्म प्रचार की मनाही करदी गयी पर वह अन्तिम 7 वर्षों मे बहुत-से पैम्फलेट आदि प्रकाशित करता रहा।

विकलिफ के कार्य—उसका सुधार प्रोग्राम बहुत रूढिवादी था। समाज-सुधार मे उसकी कोई रुचि नही थी। वह चर्च की राजनीतिक शक्तियाँ कम कर देना चाहता था तथा उसके मठ पदाधिकारियों को हटा देना चाहता था। इस कारण वह बाइबिल का समर्थक था और परम्परा का विरोधी, इसीलिए चर्च द्वारा किये गये सस्कारों को उचित नहीं समझता था और वह लौकिक शक्ति को धार्मिक दृष्टि से सर्वोपरि रखना चाहता था। उसने बाइबिल का अंग्रेजी मे अनुवाद किया और उसकी गद्य शैली अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई। उसने पोप की तीव्र आलोचना की तथा पादरियों को झूठा और खूनी बतलाया। उसने निर्धन पादरियों का सगठन किया जो

म-घूमकर अपने धर्म का प्रचार करते थे। उसके प्रचार का ही सम्भवतः यह परिणाम था कि उसके अनुयायियों ने लूथर का स्वागत किया।

जॉन हस (1369-1415 ई.)

विक्लिफ की शिक्षाओं का आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अन्य शिष्यों पर काफी प्रभाव पडा। ऐसा ही एक शिष्य जॉन हस था। वह चैक (Czech) जाति का था और आक्सफोर्ड से स्नातक बन जाने के बाद प्राग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के पद पर कार्य करने लगा। उसके अधिकाश भाषण पूर्णतया विक्लिफ के लेखों से भरे होते थे, यद्यपि वह यह बात स्पष्ट नही करता था। हस की शिक्षाओं से कुछ जर्मन विद्यार्थी असन्तुष्ट हुए और परिणामस्वरूप लिपज़िग विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। उसकी रोमन कैथोलिकों द्वारा काफी आलोचना की गयी और उसको धार्मिक सभा के समक्ष प्रस्तुत होने को कहा गया, जहाँ उसे अपने पूर्व मत को वापस लेने के लिए कहा गया और ऐसा न करने पर उसको जिन्दा जलवा दिया गया। हस का बोहेमिया वासियों पर काफी प्रभाव पडा।

विक्लिफ तथा लूथर

विक्लिफ और हस को धर्म-सुधार से पूर्व का सुधारक कहा जाता है। कुछ लोग विक्लिफ को मार्टिन लूथर का पूर्वगामी कहते हैं। लेकिन लूथर स्वय विक्लिफ को नहीं जानता था। इसके अतिरिक्त लूथर और उपरोक्त दोनों धर्म-सुधारकों मे एक मौलिक तथा मुख्य अन्तर यह था कि लूथर केवल भक्ति को ही मुक्ति तथा मोक्ष का साधन मानता था जबकि उन दोनों सुधारकों ने ऐसी बात नहीं कही थी। इस प्रकार लूथर का इन दोनों से मौलिक अन्तर था।

मार्टिन लूथर (1483-1546 ई.)

लूथर के विषय मे विभिन्न मत—लूथर उन कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियो मे से है जिनके चरित्र तथा कार्यों के विषय मे मतभेद चला आ रहा है। रोमन कैथोलिक लेखक उसको अह केन्द्रिकता का प्रतीक बताते हैं। कुछ तो उसको हिटलर का आध्यात्मिक पूर्वज बताते है। प्रोटेस्टेन्ट लेखक तो स्वाभाविक रूप से उसका श्रद्धेय मानते है। इसमे सन्देह नहीं कि उसका व्यक्तित्व गूढ था। निराशा और आशा दोनों ही उसके जीवन मे पर्याप्त देखने को मिलती है। तर्क की अपेक्षा भावनाओं का उस पर प्रभाव अधिक था। पाप की समस्या को हल करने का उसने एकमात्र साधन भक्ति अथवा निष्ठा को माना।

मार्टिन लूथर

उसका आरम्भिक जीवन—लूथर एक कृषक परिवार का सदस्य था। बचपन

में उसे कठोर नियन्त्रण में रहना पड़ा था जहाँ उसके माता-पिता तथा अध्यापक कठोर शारीरिक दण्ड देते थे। उसने अफर्ट विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध वह एक भिक्षु बन गया था। कुछ वर्षों तक वह घोर तपस्या, उपवास तथा अनुशासन का जीवन व्यतीत करता रहा लेकिन वह सन्तुष्ट नही हुआ। कुछ उच्च अधिकारियों ने उसको बाइबिल, सन्त पॉल तथा सन्त आगस्टीन के लेख पढ़ने के लिए कहा। तब एक दिन सन्तपाल के लेख पढते-पढ़ते वह यह समझ सका कि भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है।

धर्म दर्शन प्रचार—1508 ई. मे उसे विटनबर्ग विश्वविद्यालय मे अध्यापन कार्य सौंपा गया। 1511 ई. में वह रोम गया। जाते समय रोम का दृश्य देखते ही वह श्रद्धा से गद्गद् हो उठा था। वहाँ पर उसने पोप के विलासी जीवन को देखा और प्रचलित धर्म के प्रति रही-सही श्रद्धा भी उसके मन से समाप्त हो गयी। रोम से लौटने के पश्चात् वह विटनबर्ग विश्वविद्यालय में धर्म दर्शन का आचार्य नियुक्त हुआ। उसके भाषण अत्यन्त प्रभावशाली होते थे। अभी तक वह केवल प्रचलित धर्म में सुधार करना चाहता था और रोमन कैथोलिक धर्म विरोधी नही बना था।

लूथर का विरोध—1517 ई. में वह घटना घटी जिसने लूथर को पोप विरोधी बना दिया। इस समय एक धूर्त साधु तेतजेल इण्डलजेंस बेचने जर्मनी आया। तेतजेल द्वारा कमाया गया आधा धन मेज के आर्कबिशप के उस ऋण को चुकाने के काम आने वाला था जो उसने पोप को अपनी नियुक्ति के लिए रिश्वत के रूप मे दिया था। तेतजेल ने जानबूझकर इण्डलजेंस को स्वर्ग का प्रवेशपत्र बताया। यद्यपि सेक्सनी के राजकुमार ने उसको अपने राज्य की सीमाओं मे आने से मना कर दिया था लेकिन वह राज्य की सीमाओं के इतना निकट पहुँच जाता था कि विटनबर्ग के बहुत-से लोग स्वर्ग जाने का अनुमतिपत्र खरीदने को तैयार हो जाते थे। लूथर से यह न देखा गया कि सीधे-सादे लोगो को धोखा देकर धन वसूल किया जाय। अतः उसने विटनबर्ग के गिरजाघर के दरवाजे पर (जैसी उस समय की परम्परा थी) 95 वाद-विवाद के विषय चिपका दिये और किसी को भी वाद-विवाद अथवा प्रतिवाद के लिए आमन्त्रित किया। उसने इनको छपवाकर अपने दोस्तो के पास भिजवा दिया तथा समस्त जर्मनी और पश्चिमी यूरोप में ये प्रकाशित हो गये।

लूथर तथा पोप समर्थकों में वाद-विवाद

लूथर का कथन था कि पोप द्वारा दिये गये पत्र धार्मिक दण्ड (जो इस भूमि पर दिया जाता था) को कम नही कर सकते। ये पत्र न तो पाप-मोचन स्थान (पर्गेटरी) से कोई सहायता दे सकते हैं और न स्वर्ग का मार्ग खोल सकते हैं। सब स्थानों पर वाद-विवाद होता रहा। इण्डलजेंस की बिक्री कुछ कम हो गयी और पोप को आर्थिक हानि हुई। पोप ने पहले लूथर को रोम बुलाना चाहा, लेकिन बाद में लूथर को समझाने के लिए प्रियेरियस को भेजा। लेकिन कोई परिणाम नही निकला तब लूथर को ऑगसबर्ग मे हो रहे कार्डिनलो के सम्मेलन के समक्ष जाना पडा जहाँ उसका

बाइबिल और केवल बाइबिल

पोप ने लूथर के प्रभाव को देखते हुए समझौते की बातचीत की। लूथर इस शर्त पर मौन रहने के लिए भी तैयार हो गया कि यदि उसके विरोधी भी ऐसा ही करें। लेकिन जॉन ऐक ने लूथर को एक खुले शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। लूथर पीछे हटने वाला व्यक्ति नहीं था। यह शास्त्रार्थ जून-जुलाई 1519 ई. में लिपजिग के स्थान पर हुआ। ऐक यह चाहता था कि वह लूथर को ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा करदे जहाँ उसको भी विक्लिफ और हस की भाँति विधर्मी घोषित किया जा सके। इस वाद-विवाद से लाभ यह हुआ कि लूथर को भी यह पता चल गया कि वह चर्च से किन बातों से भिन्न था। अब उसने अपने विचारों को प्रकाशित करना आरम्भ किया। इस समय लूथर ने कहा कि हस पूरी तरह गलत नहीं था और उसको जिन्दा जलवा देना अनुचित था, पोप तथा काउंसिल भी गलत हो सकते थे, क्योंकि सत्य केवल बाइबिल में लिखा है। इसीलिए उसके अनुयायियों का कहना था कि वे 'बाइबिल और केवल बाइबिल' को श्रद्धेय मानते थे।

लूथर का धर्म बहिष्कृत होना

जून 1520 ई. में, एक वर्ष के विचार-विमर्श के पश्चात्, पोप ने लूथर पर विभिन्न आक्षेप लगाये। लूथर ने इन आक्षेपों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। दिसम्बर 1520 ई में पोप ने लूथर को धर्म-बहिष्कृत कर दिया। लूथर ने पोप के आदेश को विटनबर्ग के बाहर नागरिकों, विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के मध्य जला दिया। पोप का अन्तिम हथियार असफल हो चुका था और लूथर चर्च की दुनिया से बाहर था। अभी तक लूथर के आन्दोलन ने कोई निश्चित स्वरूप धारण नहीं किया था, यह अभी तक अत्यन्त सीमित लोगों तक सीमित था, केवल उसके कुछ व्यक्तिगत समर्थक तथा विटनबर्ग के लोग ही उसके समर्थक थे। आन्दोलन का भविष्य आकार इस बात पर निर्भर करता था कि चार्ल्स पंचम की अध्यक्षता में हो रही जर्मन राजकुमारों की सभा क्या निर्णय करेगी। यह सभा वॉर्म्स (Worms) के स्थान पर जनवरी से जून 1521 ई. में हुई। चार्ल्स ने लूथर को सभा के समक्ष उपस्थित होने का आदेश दिया।

लूथर तथा ऑर्म्स सभा

लूथर अप्रैल 1521 ई. को ऑर्म्स के लिए चला और वहाँ पर जोरदार शब्दों में अपने पक्ष की पुष्टि की। चार्ल्स ने चाहा कि हस की भाँति उसको भी दण्डित किया जाये, लेकिन सभा ने समर्थन नहीं किया, लूथर सुरक्षित वहाँ से वापस लौट आया। किन्तु 25 मई, 1521 ई. को ऑर्म्स की सभा ने, जबकि अधिकांश जर्मन राजकुमार वहाँ से चले आये थे, लूथर की हत्या की अनुमति दे दी।

लूथर तथा एक चर्च का गठन

लूथर कुछ महीनों तक अज्ञातवास करता रहा, इस बीच उसके विचार बहुत तेजी से फैले। 1521 ई. से 1546 ई. तक लूथर एक स्वतन्त्र जर्मन चर्च के संगठन में जुटा रहा। समय व्यतीत होने के साथ-साथ यह अधिक रूढ़िवादी होता गया। उसके मुख्य सिद्धान्त 1520–26 ई. के मध्य ही प्रतिपादित किये गये। लूथर ने चर्च में लैटिन के स्थान पर जर्मन भाषा का प्रयोग आरम्भ किया। उसने पादरियों के लिए शादी करने की अनुमति दी, तथा संस्कारों के महत्त्व को घटा दिया। इसके अतिरिक्त भाग्य के निर्णय तथा बाइबिल को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सर्वोच्चता प्रदान की गयी। चर्च को राज्य के अधीन रखना उचित समझा गया।

जर्मनी में आन्दोलन का प्रभाव

1521 ई. मे हुई ऑर्म्स सभा मे कोई निर्णय इस सम्बन्ध मे नही लिया गया था कि लूथर के धर्म-सुधार आन्दोलन के प्रति किस प्रकार का व्यवहार किया जाय। जर्मनी की डायट (Diet) में फैसला न होने के कारण यह प्रश्न पुनः 1526 ई. तथा 1529 ई. में इसके समक्ष आया। 1526 ई. में चार्ल्स पंचम का पोप के साथ मतभेद था इसलिए सुधारवादियों के विरुद्ध कोई निर्णय नही लिया जा सका और सुधार आन्दोलन चलता रहा। लेकिन 1529 ई. तक चार्ल्स और पोप में समझौता हो चुका था, इसलिए 1529 ई. मे हुई डायट की सभा में सुधारवादी आन्दोलनों पर प्रतिबन्ध लगाये गये। इसी से कुछ सुधारवादियों ने इस निर्णय का विरोध (Protest) किया और यह आन्दोलन प्रोटेस्टेण्ट कहलाया। बाद में यह नाम उन सब आन्दोलनों को दिया गया जो रोमन चर्च के नियन्त्रण से बाहर चले गये। 1529 ई. से 1545 ई. तक दोनो दलों के सुलह तथा समझौते के विभिन्न प्रयत्न किये गये लेकिन सब असफल रहे।

सुधार आन्दोलन जर्मनी में क्यों

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि धर्म-सुधार आन्दोलन जर्मनी में क्यों आरम्भ हुआ। वास्तव मे इंगलैण्ड और फ्रांस पोप के नियन्त्रण से काफी स्वतन्त्र थे और इटली में आर्थिक सम्पन्नता भी काफी बढ़ी हुई थी। इसके अतिरिक्त पुनर्जागरण का प्रभाव जर्मनी मे अन्य देशों की अपेक्षा कम ही हुआ था, फिर यह आन्दोलन जर्मनी में आरम्भ हुआ। इसके कई कारण थे।

1. जर्मनी पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक पिछड़ा हुआ

का तथा धार्मिक भावनाओं का प्रभाव जर्मनी में फ्रांस और इंगलैण्ड की अपेक्षा अधिक था।

2. जर्मनी में कैथोलिक चर्च में दोष अधिक व्याप्त थे क्योंकि वहाँ पर इंगलैण्ड और फ्रांस की भांति कोई शक्तिशाली शासक नहीं था जो दोषों को दूर कर सके। यही कारण था कि पोप ने इण्डलजेंस बेचने के लिए जर्मनी का क्षेत्र चुना था।

3. जर्मनी में चर्च के पास सम्पत्ति अधिक थी और देश में आर्थिक परिवर्तन तीव्र गति से बढ़ रहे थे। सामन्त, राजकुमार तथा कृषक सभी इस बात से दुखी थे कि चर्च सम्पन्न था। व्यापारियों तथा बैंकर्स ने भी इस आन्दोलन का समर्थन किया।

लूथर के पृथक चर्च की स्थापना

लूथर का आन्दोलन यूरोपीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, यद्यपि आरम्भ में ऐसा नहीं अनुभव किया जाता था। आरम्भ में चार्ल्स तथा कैथोलिक नेता समझते थे कि समझौता हो सकता है तथा एकता स्थापित हो सकती है, लेकिन समझौते के प्रयत्न असफल रहे क्योंकि चार्ल्स तथा अन्य कैथोलिक नेता चाहते थे कि चर्च तथा पोप की पुरानी प्रधानता स्थापित तथा सुरक्षित रहे। पादरियों का स्थान तथा महत्त्व बना रहे लेकिन चर्च के दोष दूर कर दिये जायें। लूथर ईसाई धर्म की एकता का समर्थक हो सकता था यदि भक्ति की प्रधानता, ईश्वर के कथन (बाइबिल) की सर्वोच्चता (न कि पोप के कथन की) स्थापित हो जाये तथा साधारण जनता और ईश्वर में बिना किसी मध्यस्थ के सीधा सम्पर्क स्थापित हो। यह दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे से कोसों दूर थे और दोनों के निकट आने का प्रश्न ही नहीं था।

इस मौलिक अन्तर के अतिरिक्त चार्ल्स के एकता के प्रयत्नों के प्रति जर्मनी के विभिन्न राजकुमारों का सन्देहात्मक दृष्टिकोण था क्योंकि वह एक सम्राट था और अपने साम्राज्य को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता था। इस राजनीतिक मतभेद के कारण इस समस्या का कोई हल नहीं हो सकता था क्योंकि वे राजकुमार सम्राट चार्ल्स की नीति के प्रति सन्देहात्मक दृष्टिकोण रखते थे।

लूथर का योगदान

आधुनिक ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार यह कहना अनुचित ही होगा कि कोई भी आन्दोलन किसी एक व्यक्ति द्वारा चलाया जा सकता है अथवा एक व्यक्ति उसकी सफलता के लिए सहायक हो सकता है। लेकिन फिर भी 16वीं शताब्दी के आरम्भ में धार्मिक तथा सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति अचानक ही खराब नहीं हो गयी थी, वह स्थिति बहुत पहले से वैसी ही चली आ रही थी। बहुत लोग लूथर से अधिक उग्र विचार रखते थे अथवा चर्च की अधिक निन्दा करने को तैयार थे लेकिन लूथर की भांति अन्य कोई व्यक्ति यह सब कहने का साहस नहीं कर सका था। धर्म-सुधार आन्दोलन के प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ के अनुसार लूथर ने जनमत को विरोध करने के निकट पाया और लूथर का कार्य इस स्थिति को उत्तेजित करना था।

लूथर सैद्धान्तिक दृष्टि से 1520 ई. में अपनी उग्रतम सीमा पर पहुँच चुका

था। इसके बाद उसने अपने बहुत-से सिद्धान्तों में फेर-बदल किया तथा वह कैथोलिक धर्म के निकट पहुँचा। इस आन्दोलन का यह दुर्भाग्य रहा कि यह अनेक टुकड़ों में बँट गया। धर्म-सुधारक यह नहीं चाहते थे कि ईसाई जगत के विभिन्न टुकड़े हो जायें लेकिन वे बाइबिल को सर्वोच्च मानते थे और बाइबिल के विभिन्न अर्थ लगाये जा सकते थे। इसीलिए लूथर के आन्दोलन का आरम्भ हो जाने के पश्चात् यूरोप के अन्य देशों में विभिन्न धर्म सुधारक पैदा हुए।

लूथर का आन्दोलन इसलिए जर्मनी में अधिक फैल सका क्योंकि राजकुमारों ने राजनीतिक कारणों से पोप से सम्बन्ध विच्छेद कर लिये थे। राजकुमारों को अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए पोप के नियन्त्रण से मुक्त होना आवश्यक था। सम्बन्ध विच्छेद के पश्चात् आर्थिक सम्पन्नता भी प्राप्त हो सकती थी। इन राजकुमारों की अपनी महत्त्वाकांक्षा ही राज्य का धर्म निश्चित कर सकती थी। वे धार्मिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती नहीं थे बल्कि एक बार धर्म निश्चित करने के पश्चात् वे अनुदार नीति के समर्थक थे। उनकी इसी नीति के फलस्वरूप धार्मिक आन्तरिक अत्याचार आरम्भ हुए और इसी का दूसरा परिणाम यह निकला कि प्रोटेस्टेण्ट तथा रोमन कैथोलिक शासकों में संघर्ष प्रारम्भ हुआ।

स्विट्जरलैण्ड में धर्म-सुधार आन्दोलन

स्विट्जरलैण्ड में धर्म-सुधार आन्दोलन दो चरणों में हुआ। एक चरण ज्विगली के नाम से जुड़ा हुआ है और दूसरा फ्रांस के सुधारक कैलविन के नाम से जुड़ा हुआ है। ये दोनों आन्दोलन स्विट्जरलैण्ड के पृथक-पृथक भाग में हुए और दोनों में एक पीढ़ी का अन्तर था, लेकिन ज्विगली द्वारा आरम्भ किया गया आन्दोलन कैलविन द्वारा पूरा हुआ।

ज्विगली लूथर का समकालीन था और लूथर के लेखों तथा विचारों से काफी प्रभावित हुआ था। स्विट्जरलैण्ड में सुधार कुछ तो राष्ट्रवादी विचारों से प्रभावित था और कुछ धर्म के नाम पर किये गये पाखण्ड से परेशान था। पादरी वर्ग के प्रभाव से देश के राष्ट्रीय स्वाभिमान को ठेस लगती थी। स्विट्जरलैण्ड में बहुत ही दुर्गम सिपाही उपलब्ध होने के कारण पादरी वर्ग बाह्य राज्यों से घूस लेकर उनके लिए सैनिक भरती करते थे। इस प्रकार धार्मिक कारणों के साथ राजनीतिक कारण भी जुड़े हुए थे।

ज्विगली एक साधारण पादरी था जो पोप की सर्वोच्चता को स्वीकार करता था। 1519 ई. में दो घटनाएं घटीं, जिन्होंने ज्विगली के धार्मिक विचारों में आमूल परिवर्तन कर दिये तथा स्विट्जरलैण्ड में कैथोलिक धर्म विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहन मिला। ज्विगली को प्लेग हो गया और वह महीनों तक जिन्दगी और मौत के बीच संघर्ष करता रहा। इस समय उसने भक्ति के महत्त्व को समझा। दूसरी घटना थी लूथर का प्रभाव, जो 1517 ई. के पश्चात् बढ़ना शुरू हो गया था। इन दोनों प्रभावों के फलस्वरूप ज्विगली ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि धार्मिक कार्य बाइबिल के अनुसार होना चाहिए, उपवास और तपस्वी जीवन व्यर्थ है।

1523 ई. में उसका पोप के समर्थकों से शास्त्रार्थ हुआ जिससे ज्विंगली के विचारों का प्रचार अधिक हुआ। 1528 ई. तक सारा उत्तरी स्विट्जरलैण्ड कैथोलिक धर्म से अलग हो चुका था। 1529 ई. में स्विट्जरलैण्ड में गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया और इसी युद्ध में 1531 ई. में ज्विंगली की मृत्यु हो गयी। वह एक विद्वान धर्म-प्रचारक था और जनमत उसके साथ था इसीलिए वह काफी सफलता प्राप्त कर सका था। उसकी मृत्यु के बाद यह आन्दोलन कुछ शिथिल पड़ गया था।

काल्विन दूसरा प्रमुख व्यक्ति था, जिसने स्विट्जरलैण्ड में धर्म-सुधार आन्दोलन में भाग लिया। वह फ्रांस का रहने वाला था। उसका पिता उसको एक वकील बनाना चाहता था, लेकिन 1531 ई. में जब काल्विन 22 वर्ष का था, उसके पिता की मृत्यु हो गयी। वह लूथर के शिष्यों के प्रभाव में आया। वह कुछ समय तक जिनेवा का शासक भी रहा और उसने बाइबिल को अक्षरशः लागू करने का प्रयत्न किया। वह ईश्वर की इच्छा को सर्वोपरि मानता था। उसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य पूर्व निश्चित है, मनुष्य के कर्म उस भाग्य को बदल नहीं सकते थे। मनुष्य की मुक्ति का एकमात्र साधन ईश्वर भक्ति है। इसका यह अर्थ नहीं था कि मनुष्य काम न करे बल्कि उसका कहना था कि ईश्वर ने कुछ चुने हुए व्यक्तियों के मन में अच्छा काम करने की इच्छा जागृत की है, उन व्यक्तियों को ही नेतृत्व प्राप्त होता है। उसके अनुयायी अत्यन्त प्रयत्नशील, धर्म-प्रचारक तथा राजनीतिक अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले थे। इसका कारण यह मत था कि प्रत्येक अनुयायी को ईश्वर ने संसार में कुछ अच्छे काम करने के लिए चुना है।

उसने अपने शासनकाल में जिनेवा में अत्यन्त कठोर नियन्त्रण लागू करना आरम्भ किया। नाचना, ताश खेलना, थियेटर जाना या इतवार के दिन काम करना, भड़कीले वस्त्र पहनना आदि वर्जित थे और कठोरता से इन्हें लागू किया जाता था। किन्तु काल्विन के इतने कठोर नियन्त्रण से अपराध कम नहीं हुए।

काल्विन लूथर से कुछ बातों में भिन्न था, वह विधि को सर्वशक्तिमान मानता था, जबकि लूथर व्यक्ति के मन को प्रमुख स्थान देता था। दोनों नेताओं में विश्राम दिवस (सैवथ = इतवार) के सम्बन्ध में मतभेद था। इतवार को लूथर चर्च जाना पर्याप्त समझता था लेकिन काल्विन उस दिन काम करने का विरोधी था। काल्विन ने व्यापारी तथा साहूकार की मेहनत और किफायतसारी की प्रशंसा की थी, जबकि लूथर धनलोलुपता का विरोधी था। काल्विन ने पोप के प्रभाव को पूर्णरूप से समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसका प्रभाव केवल स्विट्जरलैण्ड तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि उन सब स्थानों में फैल गया जहाँ व्यापार तथा वाणिज्य अधिक प्रगतिशील थे। यह पूँजीजीवी वर्ग का धर्म बन गया, यद्यपि कुछ लोग इसमें साधारण वर्ग के भी थे। यह इंगलैण्ड, हालैण्ड, फ्रांस, स्काटलैंड आदि में फैल गया और इसका प्रभाव अत्यधिक रहा। आधुनिक युग में, इस सम्प्रदाय के मध्यम वर्ग के अनुयायी विभिन्न राजनीतिक परिवर्तनों के समर्थक तथा पोषक रहे।

इंगलैण्ड में धर्म-सुधार आन्दोलन

इंगलैण्ड मे धर्म-सुधार आन्दोलन का प्रारम्भ किसी धर्म-प्रचारक द्वारा नही हुआ, बल्कि राज्याध्यक्ष के प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वहाँ आन्दोलन केवल राजनीतिक था, विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ भी इस आन्दोलन मे सहायक हुईं। इंगलैण्ड का राष्ट्रीय चर्च पोप के नियन्त्रण से काफी मुक्त हो चुका था लेकिन पूर्णरूप से स्वतन्त्र नहीं हुआ था और इंगलैण्ड का राष्ट्रीय स्वाभिमान, पोप के थोड़े नियन्त्रण को भी सहन करने को तैयार नहीं था। पोप के विरुद्ध असन्तोष को बढ़ाने में विक्लिफ आदि का भी हाथ था। टामस मोर ने यूटोपिया के माध्यम से चर्च की विभिन्न कुरीतियों की निन्दा की थी। 1520 ई. के बाद आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में लूथर के विचार व्याप्त थे तथा उनका काफी प्रचार होता था।

आरम्भ में आठवें हेनरी ने लूथर के लेखों की निन्दा की थी और पोप ने उसे धर्म-रक्षक की उपाधि दी थी, लेकिन हेनरी का पोप से एक व्यक्तिगत प्रश्न को लेकर मतभेद हुआ। हेनरी अपनी पत्नी कैथेराइन से विवाह सम्बन्ध विच्छेद करके एनीबोलिन से शादी करना चाहता था और इस कार्य के लिए पोप से अनुमति चाहता था, कैथेराइन स्पेन के सम्राट चार्ल्स पंचम की निकट सम्बन्धी थी, इसलिए पोप उसकी अनुमति भी नहीं देना चाहता था। साथ ही लूथर का आन्दोलन आरम्भ हो जाने के कारण मना भी नही करना चाहता था क्योंकि उसे भय था कि कहीं इंगलैण्ड लूथर समर्थक न बन जाय। हेनरी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी सम्राट था, उसने पोप से क्रुद्ध होकर इगलैण्ड के चर्च को अलग करने की ठानी।

हेनरी ने पोप के विरुद्ध कार्य करने के लिए पार्लियामेण्ट की सहायता ली और 1529 ई में एक विशेष अधिवेशन बुलाया जो 1536 ई. तक चलता रहा। पार्लियामेण्ट के इस अधिवेशन को रिफार्मेशन पार्लियामेण्ट कहते हैं। इसी पार्लियामेण्ट के विभिन्न नियमों के अन्तर्गत धार्मिक जीवन तथा संगठन को पोप के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया। इस परिवर्तन का मुख्य रूप राजनीतिक था। पोप से सम्बन्ध विच्छेद राजा की ओर से हुआ तथा ये सब परिवर्तन ऐसे दिखायी पड़ते थे जो केवल इंगलैण्ड के पृथक् अस्तित्व की घोषणा करते हों। पार्लियामेण्ट में पास विभिन्न नियमों के अनुसार राजा को इगलैण्ड के चर्च का अधिपति मान लिया गया। धार्मिक धन जो पोप को भेजा जाता था, बन्द कर दिया गया। मुकदमों की अपील जो रोम के पोप को भेजी जाती थी बन्द कर दी गयी। 1536 ई में पार्लियामेण्ट ने कुछ मठों को बन्द करने का आदेश दिया और आगे कुछ वर्षों में सब मठों की सम्पत्ति राज्य द्वारा हरण कर ली गयी। बाइबिल का अंग्रेजी में अनुवाद प्रत्येक गिरजाघर में रख दिया गया। लेकिन हेनरी ने प्रोटेस्टेण्ट सिद्धान्तों को मान्यता नहीं दी।

हेनरी की मृत्यु के पश्चात् प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथोलिक धर्मों का बोलबाला 11 वर्षों में दो शासक गद्दी पर बैठे—पहला प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बिका था

[illegible] दूसरा शासन कैथोलिकों का। दोनों ने अन्य धर्मों के मानने वालों पर अत्याचार किये। 1558 ई. में ऐलिजाबेथ प्रथम गद्दी पर बैठी। उसके शासनकाल में धार्मिक विवादों को दूर करने के लिए मध्यम मार्ग अपनाया गया। 1563 ई. में 39 अनुच्छेद राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार लिये गये, और 1570 ई. तक चर्च को प्रोटेस्टेण्ट बना दिया गया, यद्यपि कुछ मामलों में नियम इतने ढीले रखे गये कि कैथोलिक भी उनको मान सकें। इस प्रकार पोप के नियन्त्रण से इंगलैण्ड की धार्मिक व्यवस्था को मुक्त कर लिया गया।

स्काटलैण्ड में कैथोलिक चर्च की स्थिति अत्यन्त खराब थी। 16वीं शताब्दी के आरम्भ में पादरी वर्ग अत्यन्त भ्रष्ट था, वह अपना समय विलासिता और राजनीतिक षड्यन्त्रों में व्यतीत करता था। जॉन नोक्स के नेतृत्व में वहाँ धर्म-सुधार आन्दोलन आरम्भ हुआ, उसने काल्विन के उग्र समर्थकों के सिद्धान्तों की स्थापना का समर्थन किया और वहाँ पर प्रेसबिटेरियन चर्च की स्थापना की गयी।

प्रतिरोधी सुधार आन्दोलन

16वीं शताब्दी के धर्म-सुधार आन्दोलन का एक पक्ष लूथर तथा उससे प्रोत्साहन पाने वाले अन्य सुधार आन्दोलन थे। इन सब आन्दोलनों ने पोप की सत्ता को स्वीकार करना बन्द कर दिया था। इसी सुधार आन्दोलन का दूसरा पक्ष प्रतिरोधी सुधार या कैथोलिक प्रतिक्रिया थी, जिसके अनुसार कैथोलिक धर्म में जो दोष उत्पन्न हो गये थे उन्हें दूर किया जा सके। यद्यपि कैथोलिक धर्म में सुधार लूथर के आन्दोलन के पूर्व ही आरम्भ हो गये थे, लेकिन लूथर के आन्दोलन के पश्चात् इन सुधारों की आवश्यकता अधिक अनुभव होने लगी थी। स्पेन में 15वीं शताब्दी में धर्म सुधार हुए थे तथा पादरियों के भ्रष्ट जीवन में सुधार लाये गये थे। यही कारण था कि स्पेन से ही कैथोलिक धर्म में सुधार आरम्भ हुए। रोम के पोप सुधार के पक्ष में उस समय तक नहीं हुए जब तक उन्हें ज्ञान नहीं हो गया कि विभिन्न देश लूथर के अनुयायी होकर रोम के पोप के नियन्त्रण से मुक्त हो रहे हैं। 1540 ई. के लगभग स्थिति यह थी कि लूथर के आक्षेपों का रोम में कोई उत्तर नहीं था। वे समझते थे कि लूथर का कथन सम्भवतः सही है। यह कहना शायद अतिशयोक्ति न हो, कि रोम के अधिकांश धार्मिक पदाधिकारी विटनबर्ग की ओर बढ़ रहे थे और वे रोम के पोप को भी उधर ले जाना चाहते थे। ऐसा नहीं हुआ अथवा ऐसा करने में कुछ कर्मचारी असफल रहे यह केवल कैथोलिक प्रतिरोधी सुधार आन्दोलन का ही परिणाम था। इस प्रतिरोधी आन्दोलन में दो तत्वों का मुख्य योगदान है—1. जेसुइट दल का गठन, 2. काउन्सिल आव ट्रेण्ट।

जेसुइट दल का गठन

ईसाई धर्म में विभिन्न अवसरों पर भिक्षुओं के सगठन में फेर-बदल होते रहे हैं। इसी प्रकार का एक सगठन 16वीं शताब्दी में हुआ। इस समय में सगठन करने वाला स्पेन का एक लंगड़ा सिपाही इगनेशियस लोयोला था। 1521 ई. में जब वह

काउन्सिल आव ट्रेण्ट

लूथर के आन्दोलन के बाद, इस बात की आवश्यकता अधिक थी कि कैथोलिक चर्च अपने सिद्धान्तों की पुनः व्याख्या करे तथा प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन से अपने को बचाये। 1534 ई. के पश्चात् विभिन्न पोप सुधारवादी विचारों से प्रभावित थे और चुनौती का मुकाबला करने के लिए 1545 ई. में एक विशाल सभा बुलायी गयी जिसमें चर्च के विभिन्न पदाधिकारी आमन्त्रित किये गये। यह सभा रुक-रुककर 1563 ई. तक अपने अधिवेशन करती रही। इस सभा ने उन सब सिद्धान्तों का पुनः समर्थन किया जिनकी आलोचना लूथर और उसके समर्थकों द्वारा की गयी थी। भक्ति के साथ-साथ अच्छे कार्यों को भी बराबर का महत्त्व दिया गया। संस्कारों की आवश्यकता को पुनः स्पष्ट किया गया। मठों, भिक्षुओं की सहायता, पोप की अध्यक्षता को अनिवार्य बताया गया, ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के स्रोत के सम्बन्ध के बाइबिल तथा सन्तों और पोप की शिक्षाओं को समान महत्त्व दिया गया। पोप की सर्वोच्चता को पुन. स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। ट्रेण्ट काउन्सिल के बारे में इतिहासकार सर्पी ने बताया है कि यद्यपि इस काउन्सिल को धर्म-विवाद समाप्त करने के लिए बुलाया गया था लेकिन इसने धर्म विवादों को स्थायी बना दिया।

कुछ विषयों में सुधार भी किये गये, जैसे साधारण बिशप काउन्सिल के उच्च अधिकार नहीं स्वीकार किये गये, इण्डलजेंस की बिक्री बन्द कर दी गयी, पादरियों की शिक्षा के लिए संस्थाएँ स्थापित की गयी। कैथोलिक धर्म के समर्थकों की कार्य-विधि में एक दोषपूर्ण संस्था अथवा जाँच न्यायालय को पुनर्जीवन प्रदान किया गया। इन जाँच न्यायालयों में धर्म-विरोधी मुकदमों को तय किया जाता था और ये न्यायालय विभिन्न स्थानों पर होते थे। इनकी स्थापना की प्रतिक्रिया यह थी कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म का तीव्र विरोध आरम्भ हुआ। दूसरी पद्धति जो इससे भी अधिक दूषित थी और जिसका सहारा लेकर धर्म-विरोध को समाप्त करने की चेष्टा की गयी, वह थी वर्जित पुस्तकों तथा ग्रन्थों की अनुक्रमणिकाएँ प्रकाशित करने की। इसके अन्तर्गत सब सुधारकों की पुस्तकें वर्जित कर दी गयीं। इस अनुक्रमणिका का एक ही प्रभाव हुआ कि चर्च की प्रधानता वाले देशों में थोड़े समय के लिए स्वतन्त्र चिन्तन की परम्परा समाप्त होती दिखायी दी।

प्रतिरोधी सुधार आन्दोलन का प्रभाव

जैसुइट सगठन तथा ट्रेण्ट काउन्सिल और सुधारवादी पोप के प्रयत्नों के फलस्वरूप कैथोलिक चर्च अपनी गिरती हुई स्थिति को रोक सका। कुछ स्थानों पर यह अपने खोये हुए स्थान को पुनः प्राप्त कर सका, जैसे इटली तथा जर्मनी में कैथोलिक चर्च का प्रभाव बढ़ा। जेसुइट दल ने धर्मान्धता को बढ़ावा देकर असहिष्णुता का परिचय दिया। यूरोप में धर्म के नाम पर संघर्ष बहुत बढ़ा और तीस वर्षों तक (1618 ई. से 1648 ई.) यह संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष के बाद भी किसी दल की पूर्ण विजय नहीं हुई। उत्तरी जर्मनी प्रोटेस्टेण्ट बना रहा और दक्षिणी जर्मनी रोमन

28 वर्ष का था, युद्ध में उसकी टाँग जख्मी हो गयी थी जिससे वह जीवन भर लँगड़ाता रहा। वह अत्यन्त कठोर तपस्वी जीवन व्यतीत करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ईश्वर की कृपा के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। उसने अपने कुछ शिष्यों के साथ (जिनमें एक फांसिस जेवियर था) 1540 ई. मे 'आर्डर आव जीसस' की स्थापना की जिसके अनुसार उन्होंने पोप के प्रति पूर्ण भक्ति की बात कही, और इसके अनुयायी जेसुइट कहलाये। उनका सगठन सेना की भाँति होता था। प्रत्येक बात मे कार्यकुशलता सबसे बड़ा गुण था और इसका उद्देश्य विशिष्ट वर्ग के लोगों को अपने समुदाय मे भर्ती करना था। ये हृष्ट-पुष्ट, योग्य वक्ता तथा सम्पन्न परिवार के लोगों को विशेष रूप से चुनते थे। इस समुदाय का सचालक एक जनरल होता था और वह निरकुश होता था। इस समुदाय मे पदोन्नति धीमे-धीमे होती थी। इसका एक गुप्त वर्ग भी होता था जिसके सदस्य कुछ गुप्त अथवा खतरनाक कार्य करने की क्षमता रखते थे। इस समुदाय का एक विशिष्ट लक्षण बिना शर्त तथा बिना प्रश्न किये हुए, आज्ञा पालन था।

इस समुदाय की प्रगति बहुत वेग से हुई। यह समुदाय बुद्धिजीवी वर्ग पर प्रभाव स्थापित करना चाहता था, इसलिए इन्होंने शिक्षा-प्रसार पर विशेष महत्त्व दिया। इस समुदाय को मुख्यतः सफलताएँ मध्य यूरोप मे तथा यूरोप के बाहर मिली। यूरोप के बाहर प्रोटेस्टेण्ट कम फैल सके, कुछ तो इस कारणवश कि वे अपनी स्थिति को सुरक्षित करने में लगे थे, दूसरे यह कि 16वीं शताब्दी में अन्य देशों से व्यापार स्पेन तथा पुर्तगाल के हाथो मे था, इसलिए प्रोटेस्टेण्ट समुदाय को एशिया अथवा अफ्रीका निवासियो से सम्पर्क का अवसर कम था।

जेसुइट समुदाय का मुख्य उद्देश्य कैथोलिक चर्च के लिए सघर्ष करना था। इसमे यह सफल भी रहा, लेकिन इस समुदाय ने कोई महान वैज्ञानिक, महान दार्शनिक अथवा महान सत नही पैदा किया। जेसुइट सगठन धार्मिक सैन्यवाद का प्रतीक था। समाज मे किसी आदर्श के लिए मतान्धतापूर्ण धारणा पैदा करने मे तथा किसी लक्ष्य को सगठन और अनुशासन के आधार पर जीतने में जेसुइट समुदाय प्रायः अद्वितीय था। लोयोला के मुख्य अनुयायी जेवियर की सफलता उसकी अपनी योग्यता के कारण नही थी, बल्कि उसने राज्य शक्ति के बल पर लोगों को ईसाई धर्म मे परिवर्तित किया था। उसने पुर्तगाल के राजा जॉन को एक पत्र लिखा था कि प्रत्येक ऐसे गवर्नर की सम्पत्ति छीन ली जाय और उसको बन्दी बना लिया जाय जिसने बहुत-से लोगो को ईसाई धर्म में परिवर्तित नही किया हो। यही कारण था कि पुर्तगाली शासक भारत मे लोगो को जबरदस्ती ईसाई बनाने मे बदनाम हुए। जेवियर के मिशन का सगठन बहुत ऊपरी था। उसने किसी उस देश की भाषा में, जहाँ वह गया था, योग्यता प्राप्त नही की। उसने केवल कुछ वाक्य रट रखे थे और उन्ही को वह अपने भाषणो मे दोहरा देता था।

री असन्तुष्ट थी। इसने एक घटिया कलाकार को माइकेलेंजेलो की नग्न कलाकृतियो को वस्त्र पहनाने के लिए नियुक्त किया।

इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक युग के आगमन मे धर्म-सुधार आन्दोलन का काफी महत्त्व है। पुनर्जागरण एक ऐसा आन्दोलन था जो कुछ बुद्धिजीवियो तक सीमित था, लेकिन धर्म-सुधार आन्दोलन मे अवश्य जनता का सहयोग अत्यधिक रहा। धर्म-सुधार आन्दोलन की मान्यताएँ इस जगत से अधिक सम्बन्धित थी और इसलिए व्यापारी और पूजीवादियो ने इसका विशेष स्वागत किया।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नो के सही उत्तर का क्रमाक कोष्ठक मे लिखिए :

1. धर्म-सुधार आन्दोलन लोकप्रिय हुआ क्योकि—
   (क) यह धार्मिक कारणो से प्रेरित आन्दोलन था
   (ख) यह आन्दोलन राष्ट्रीय निरकुश राजतन्त्रो की स्थापना के लिए था
   (ग) इसके द्वारा चर्च की सम्पत्ति पर नियन्त्रण की माँग थी
   (घ) उपरोक्त सभी कारण थे ( )
2. धार्मिक करो के विरोध का मुख्य कारण था—
   (क) जनता की आर्थिक दशा खराब होना
   (ख) करो का भार अधिक होना
   (ग) करो की आय का देश के बाहर जाना
   (घ) करो की आय का विलासी जीवन पर खर्च होना ( )
3. पोप की प्रतिष्ठा के लिए 14वी शताब्दी की सबसे घातक घटना थी—
   (क) एक के स्थान पर दो पोप होना
   (ख) फ्रास द्वारा पोप को बन्दी बनाया जाना
   (ग) पोप द्वारा इण्डलजेन्स बेचने के लिए ऐजेण्ट नियुक्त करना
   (घ) पोप का विलासी होना। ( )
4. सेवानारोलों से उसके अनुयायी भी प्रसन्न नही थे, क्योकि—
   (क) वह तपस्वी जीवन पर अधिक बल देता था
   (ख) उसने विलासिता को कम करवाने का प्रयत्न किया।
   (ग) अपने आपको ईश्वरीय शक्ति से प्रेरित बताया
   (घ) उसने पोप के आदेशो का पालन करने से मना किया ( )
5. जिस सुधारक को अपना पूर्व मत वापस न लेने के कारण जिन्दा जला दिया गया, वह था—
   (क) जान हस (ख) सेवानारोलों
   (ग) विक्लिफ (घ) लूथर ( )

संघर्षात्मक बना रहा। पूरी 17वीं शताब्दी भर यह धार्मिक अत्याचार तथा मतभेद चलते रहे और अन्त में इसके बुरे परिणामों को देखकर ही नीति में कुछ परिवर्तन हुआ।

धर्म-सुधार आन्दोलन की देन

सहिष्णुता का विकास—धर्म-सुधार आन्दोलन का सबसे स्पष्ट तथा स्थायी प्रभाव ईसाई जगत को दो अथवा अधिक भागों में बाँट देना था। जर्मनी के विभिन्न राज्य—नार्वे, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, इगलैण्ड, स्काटलैण्ड, हालैण्ड आदि देश—पोप के नियन्त्रण से मुक्त हो गये। पोप के अधीन देशों में भी प्रोटेस्टेण्ट अल्पसंख्यक बने रहे। इस विभाजन का निकट भविष्य में तो अवश्य यह परिणाम निकला कि धर्म के नाम पर संघर्ष बढ़ गया लेकिन थोड़े समय पश्चात् जब यह ज्ञान हो गया कि कोई एक समुदाय दूसरों को समाप्त नहीं कर सकता तब सहिष्णुता का दृष्टिकोण बढ़ा।

व्यक्तिवादी विचारधारा

धर्म-सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का विकास हुआ तथा शिक्षा का प्रसार हुआ। लूथर के अनुयायियों ने संस्कारों तथा विभिन्न आडम्बरों से व्यक्ति को मुक्ति दिलायी थी। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र निर्णय का अधिकार दे दिया था तथा उसकी मुक्ति का मार्ग भक्ति बताकर उसको पृथक एवं स्वतन्त्र चिन्तन का अवसर प्रदान किया था और इस प्रकार उसको परम्परागत ज्ञान की परिधि से बाहर निकाला। इससे व्यक्तिवादी विचारधारा को प्रोत्साहन मिला। यह बात भी सही है कि ये धर्म-सुधारक वास्तविक धर्म स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं थे लेकिन इन्होंने प्रचलित धर्म को चुनौती देकर स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन दिया।

शिक्षा का प्रसार तथा इतिहास में रुचि

अपने विचारों को अधिक से अधिक लोगों में फैलाने के लिए दोनों पक्षों ने शिक्षा का प्रसार किया। लूथर ने जर्मनी में स्कूल खोलने पर बल दिया। इगलैण्ड में मठों की सम्पत्ति छीनकर स्कूलों की स्थापना की गयी। इतना ही नहीं बल्कि पुस्तकों के प्रकाशन में भी बहुत सहयोग मिला और विशाल लाइब्रेरियों की स्थापना आरम्भ हुई। इतिहास पढ़ने तथा जानने को विशेष बढ़ावा मिला। प्रोटेस्टेण्ट नेताओं ने तत्कालीन चर्च की ईसा और सन्त पीटर के समय से तुलना की और इस प्रकार इतिहास पढने की एक नयी इच्छा जागृत हुई। इसके अतिरिक्त प्रोटेस्टेण्ट धर्म ने राष्ट्रीय सीमाओं को महत्त्व प्रदान किया और राष्ट्रीय राज्य स्वाभाविक रूप से अपने राष्ट्र के भूत के बारे में विशेष रुचि लेने लगे।

जिज्ञासा को निरुत्साहित करना

लेकिन प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के कुछ बुरे प्रभाव भी रहे। बाइबिल पर पूर्ण आस्था रखने के कारण तर्क और बुद्धि के आधार पर नयी जिज्ञासा को निरुत्साहित किया। धार्मिक संघर्षों के कारण कला की प्रगति की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। कालविन के विचार तो बहुत कठोर थे। ट्रेण्ट कौंसिल तो मानव शक्ल के चित्रण से

6. लूथर द्वारा पोप के कार्यों की आलोचना की पहली सार्वजनिक घटना थी—
   (क) विटनबर्ग के गिरजाघर के दरवाजे पर 95 वाद-विवाद के विषय चिपकाना
   (ख) प्रिपेरियस से समझौता न करना
   (ग) कैजेटन से शास्त्रार्थ करना
   (घ) पोप के धर्म बहिष्कृति के आदेश को जलाना ( )
7. लूथर और पोप के संघर्ष का मुख्य कारण था—
   (क) पोप द्वारा धार्मिक सिद्धान्तो मे आवश्यक फेर-बदल करना
   (ख) पोप का विलासी और भ्रष्ट जीवन
   (ग) पोप द्वारा प्रमाण-पत्रों की बिक्री (घ) पोप का विदेशी होना ( )
8. विकलिफ और लूथर के सिद्धान्तों मे मुख्य अन्तर था—
   (क) लूथर भक्ति को मोक्ष का साधन मानता था
   (ख) लूथर लौकिक शक्ति को धार्मिक शक्ति से सर्वोपरि समझता था
   (ग) चर्च द्वारा किये गये सस्कारो को उचित नही समझता था
   (घ) भ्रष्ट पदाधिकारियों को हटा देना चाहता था ( )
9. सुधारवादी आन्दोलनकारी प्रोटेस्टेण्ट कहलाये क्योंकि—
   (क) सुधारवादियो ने 1529 ई. के प्रतिबन्धो का विरोध किया
   (ख) इन्होंने पोप का विरोध किया
   (ग) चर्च की सत्ता को मानेन से इनकार कर दिया
   (घ) सुधारवादी रोमन चर्च के नियन्त्रण से बाहर चले गये ( )
10. लूथर के आन्दोलन का जर्मनी में सबसे अधिक फैलने का कारण था—
   (क) जर्मनी के राजकुमारों ने पोप के नियन्त्रण से मुक्त होने के लिए इसको प्रोत्साहन दिया
   (ख) जर्मनी की आर्थिक दुर्बलता
   (ग) जर्मनी का रोम से दूर होना
   (घ) जर्मनी में लूथर का जन्म होना ( )
11 स्विट्जरलैण्ड मे एक सुधारक ने कर्म करने का उपदेश दिया, यह सुधारक था—
   (क) कालविन (ख) ज्विगली
   (ग) इरेसमस (घ) सेवानारोलों ( )
12. इगलैण्ड में स्वतन्त्र चर्च की स्थापना का श्रेय दिया जाता है—
   (क) हेनरी को (ख) चार्ल्स प्रथम को
   (ग) जार्ज पचम को (घ) ऐलिजाबेथ को ( )
13. जेसुइट दल के गठन का एक विशिष्ट लक्षण था—
   (क) बिना शर्त बिना प्रश्न किये हुए आज्ञा पालन
   (ख) पदोन्नति धीरे-धीरे होना

(घ) इण्टरडिक्ट की विधि (ड) पुण्य कोष

3. मिशनारियों के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. हेनरी 'धर्म रक्षक' पोप के विरुद्ध क्यों हो गया ?
5. रिफार्मेशन पार्लियामेण्ट ने क्या कार्य किये ?
6. पुर्तगालियों ने अपनी बस्तियों में अन्य धर्मावलम्बियों को जबरदस्ती ईसाई बनाया। इस नीति के लिए कौन उत्तरदायी था ?
7. ट्रेण्ट की काउन्सिल धार्मिक विवाद तो समाप्त न कर सकी किन्तु उसने कुछ कुरीतियाँ अवश्य दूर कीं। ऐसी तीन कुरीतियाँ बताइए जिन्हें यह दूर करने में सफल रही।
8. सुधार आन्दोलन जर्मनी में ही क्यों हुआ ? कोई तीन कारण लिखिए।
9. ज्विगली चर्च विरोधी क्यों हो गया ?
10. काल्विन और लूथर के सिद्धान्तों में मुख्य अन्तर क्या थे ? कोई तीन अन्तर लिखिए।
11. जेसुइट दल की स्थापना के मुख्य उद्देश्य क्या थे ?
12. जर्मनी में लूथर के सिद्धान्तों के प्रचार के कोई तीन कारण लिखिए।
13. मध्यकाल में दो विभिन्न दर्शन कौनसे थे ? दोनों का अन्तर बताइए।
14. इरेसमस के तत्कालीन चर्च व्यवस्था के विषय में विचार बताइए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. धर्म-सुधार आन्दोलन के लिए क्या कारण उत्तरदायी थे ?
2. उन घटनाओं का वर्णन कीजिए जिनसे मार्टिन लूथर चर्च का विरोधी बना।
3. धर्म-सुधार आन्दोलन का क्या प्रभाव पड़ा ?

3

इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र का विकास

मेग्ना कार्टा की पृष्ठभूमि

12वीं शताब्दी के अन्त मे इगलैण्ड में जॉन शासन करता था। उसको सामन्तो ने निर्वाचित किया था। वह निकृष्टतम शासक था। उसके समय मे तीन सघर्ष हुए—फास से, पोप से तथा सामन्तो से। इन तीनो संघर्षों में वह असफल रहा। फास के कुछ क्षेत्रो पर से इंगलैण्ड का नियन्त्रण समाप्त हो गया। जॉन ने पोप की अधीनता स्वीकार की और सामन्तो के अधिकार स्वीकार किये। 1214 ई. मे जॉन ने फास से अपने खोये हुए प्रान्त पुनः प्राप्त करने चाहे लेकिन वह इस कार्य मे असफल रहा। उसकी असफलता से सामन्तो को अपने अधिकार प्रस्तुत करने तथा जॉन को उनको मानने के लिए बाध्य करने का अवसर मिला।

मेग्ना कार्टा पर हस्ताक्षर

पोप के प्रति पूर्ण समर्पण करने से तथा जॉन के व्यक्तिगत आचरण से इंगलैण्ड के सामन्त तथा पादरी (जिन्हें पोप से सघर्ष के समय जॉन ने सताया था) असन्तुष्ट थे। आर्कबिशप लैंगटन के नेतृत्व में सामन्तो ने जॉन को 1215 ई. मे कुछ शर्तें मानने पर तथा एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इस सन्धि-पत्र को मेग्ना कार्टा या महाधिकार-पत्र कहते हैं।

मेग्ना कार्टा की धाराएँ

इस अधिकार-पत्र मे 63 शर्तें थी और ये उन शिकायतो के लिए उपचारमात्र थी, जो इगलैण्ड के विभिन्न वर्गों की जॉन की नीति के खिलाफ थी। यद्यपि इनमे से अधिकाश शर्तें समय के व्यतीत होने से मामूली दिखाई पड़ती हैं लेकिन उस समय ये महत्त्वपूर्ण थी। इनमें से कुछ प्रमुख धाराएँ इस प्रकार थी :

1. चर्च की स्वतन्त्रता पूरी तरह स्वीकार कर ली गयी।

2. किसी भी स्वतन्त्र व्यक्ति को बिना अपराध बन्दी नहीं बनाया जा सकता और बिना नियमो का उल्लघन किये हुए किसी को दण्ड नही दिया जा सकता।

3. सामन्तो द्वारा दिये जाने वाले कर एक निश्चित मात्रा मे निर्धारित कर दिये गये। कोई भी नया टैक्स बिना सामन्तो की साधारण सभा की स्वीकृति के नही लगाया जा सकता। यह नियम ही आगे चलकर इस तर्क का जनक हुआ कि बिना

[illegible] की स्वीकृति के कोई टैक्स नहीं लगाया जाना चाहिए।

4. सामन्तों ने वचन दिया कि वे अपने कृषकों के प्रति उदारता का व्यवहार करेंगे।

5. व्यापारियों को व्यापारिक सुविधाएँ उपलब्ध रहेंगी।

मेग्ना कार्टा का स्वरूप

इस अधिकार-पत्र में सामन्तों ने अपने स्वार्थों को पूरा कर लिया था। सामन्त चाहते थे कि राजा उनसे केवल परम्परागत धन ही वसूल करे। इस प्रकार ये सामन्त राजा को मनमानी करने से रोक देना चाहते थे। इन 63 धाराओं में से $\frac{2}{3}$ धाराएँ सामन्तों के अधिकारों से सम्बन्धित थीं। इनमें सामन्तों के अधीन रहने वाले कृषकों के अधिकारों का वर्णन नहीं के बराबर था। उनकी स्थिति वैसी ही बनती रही, जैसी इस अधिकार-पत्र के पहले थी। साधारण व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करने के लिए उनकी स्वतन्त्रता के लिए भी कुछ धाराएँ थीं। मुख्य रूप में यह पत्र एक सामन्ती समझौता था जिसमें राजा ने अपने अधीन सामन्तों के परम्परागत अधिकारों को स्वीकार किया था।

मेग्ना कार्टा का महत्व तथा प्रभाव

इस पत्र ने तत्कालीन दोषों को निश्चित रूप से समाप्त करने का प्रयत्न किया था। इसमें गूढ़ बातें कम थीं, लेकिन भविष्य में इसमें विभिन्न गूढ़ बातों को ढूंढ़ लिया गया और इस अधिकार-पत्र को महत्वपूर्ण बना लिया गया। भावी पीढ़ियाँ इस पत्र की धाराओं को नित नये अर्थ प्रदान करती रहीं तथा इसको अधिक व्यापक सन्दर्भ में काम में लाती रहीं। कालान्तर में यह पत्र पहले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बन गया। इसीलिए कहा जाता है कि मेग्ना कार्टा का महत्व उन बातों में नहीं था जो उसमें लिखी हुई थीं, बल्कि उन अर्थों में था जिनको आदर्श बनाकर उसमें ढूंढ़ा गया और जो आने वाली पीढ़ियों को प्रभावित करते रहे।

समय के व्यतीत होने से विभिन्न अंग्रेज लेखकों ने इस अधिकार-पत्र को अन्य उपमाएँ दी हैं। कुछ इसको अंग्रेजी स्वतन्त्रता की आधारशिला मानते हैं, किसी ने इसे अंग्रेजी संविधान की बाइबिल माना है। राजा के निरंकुश व्यवहार तथा अधिकारों पर यह पहला नियन्त्रण था और भविष्य में जब कभी नेताओं ने किसी राजा के निरंकुश अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई तब यह अधिकार-पत्र ही नेताओं को इकट्ठा करने का साधन बना।

यही कारण था कि 14वीं और 15वीं शताब्दियों में यह अधिकार-पत्र प्रायः भुला दिया गया। इसके स्थान पर लोगों के दिमागों में पार्लियामेण्ट का अधिक महत्वपूर्ण स्थान बन गया था। 16वीं शताब्दी में भी इस पत्र की ओर ध्यान नहीं दिया गया था क्योंकि इस पत्र में सामन्तों और साधारण जनता में कुछ अन्तर बताया गया था और समाज के यह दोनों वर्ग अपने आपसी मतभेदों को भूल जाना चाहते थे। शेक्सपीयर जैसे साहित्यकार ने अपने नाटक 'किंग जॉन' में मेग्ना कार्टा का वर्णन तक

नहीं किया है। लेकिन 17वीं शताब्दी में जब स्टुअर्ट राजाओं के विरुद्ध संघर्ष हुआ तब वकीलों तथा पुरातत्ववेत्ताओं ने मैग्ना कार्टा को खोज निकाला और इस पत्र को अंग्रेजी स्वतन्त्रता की देवी घोषित किया। उसकी धाराओं का गलत अर्थ स्वतन्त्रता के लिए लाभदायक रहा और आज के विद्वानों के लिए आश्चर्यजनक।

17वीं शताब्दी में राजा और पार्लियामेण्ट के मध्य संघर्ष

ट्यूडर काल में ही पार्लियामेण्ट अपने अधिकारों के बारे में इतनी जागरूक हो चुकी थी कि वह किसी भी सम्राट से संघर्ष के लिए तैयार हो गयी थी किन्तु उस समय खुलकर राजा की नीति की आलोचना नहीं की जाती थी।

स्टुअर्ट राजा भी ट्यूडर राजाओं की भाँति अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहते थे। लेकिन तब आन्तरिक और बाह्य स्थिति बदल चुकी थी। इंगलैण्ड में वाणिज्य और व्यापार का काफी विस्तार हो चुका था। मध्यम वर्ग भी शक्तिशाली बन चुका था। दूसरी ओर स्टुअर्ट राजा जेम्स तथा चार्ल्स प्रथम ऐसे सिद्धान्तों पर विदेश तथा आन्तरिक नीति चलाना चाहते थे कि संघर्ष निश्चित-सा दिखायी पड़ता था। इस संघर्ष निम्न के कारण प्रमुख थे :

1. **राजा का दैवी अधिकार**—स्टुअर्ट राजा यह मानते थे कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, इसलिए उसकी आज्ञाओं का पालन होना चाहिए और राजा अपने कार्यों के लिए केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है। राजा की शक्ति के विरुद्ध कार्य करना ईश्वर के विरुद्ध कार्य करना है। जेम्स तथा चार्ल्स रोमन विधि के अनुयायी थे जो समझते थे कि राजा ही विधि का स्रोत है। इन विचारों को क्रियान्वित करने में केवल पार्लियामेण्ट ही एक बाधा थी। पार्लियामेण्ट के विभिन्न नेताओं का कहना था कि नियमों का परिवर्तन केवल पार्लियामेण्ट द्वारा ही सम्भव है इसलिए पार्लियामेण्ट से संघर्ष होना स्वाभाविक ही था।

2. **धार्मिक मतभेद**—पार्लियामेण्ट के अधिकांश सदस्य प्यूरिटन तथा प्रेसबिटेरियन थे। ये दोनों मतावलम्बी पोप तथा रोमन कैथोलिक चर्च के उग्र विरोधी थे। जेम्स प्रथम बिशपों की व्यवस्था का बड़ा समर्थक था। उसकी सहानुभूति कैथोलिकों के साथ थी। वह विशेष रूप से प्रेसबिटेरियन शाखा के विरुद्ध था क्योंकि यह शाखा प्रजातन्त्रीय प्रणाली पर सब कार्यों का संचालन चाहती थी। ऐसे दल से राजतन्त्र को भय हो सकता था। जेम्स प्रथम ने रोमन कैथोलिकों के प्रति सहानुभूति की नीति अपनायी। वह स्पेन की राजकुमारी से अपने उत्तराधिकारी का विवाह करना चाहता था जिससे कैथोलिक राज्यों के साथ भी उसके मित्रता के सम्बन्ध बने रहें। इस प्रकार धार्मिक मतभेद राजनीति तक पहुँच गया था।

3. **आर्थिक कारण**—16वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में एक प्रभावशाली मध्यम वर्ग का विकास हो चुका था। यह वर्ग स्पेन विरोधी था क्योंकि स्पेन ने दक्षिणी अमरीका के व्यापार पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित कर रखा था। जेम्स स्पेन का विरोध नहीं करना चाहता था क्योंकि वह अत्यन्त शान्तिप्रिय था। इसके अतिरिक्त

जेम्स के शासनकाल में अमरीका से आने वाली चाँदी-सोने के कारण वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ गया था, मुद्रा का मूल्य घट गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि शासन का खर्च बढ़ गया किन्तु आय नहीं बढ़ी। जेम्स तथा उसके उत्तराधिकारी को खर्च चलाने के लिए पार्लियामेण्ट से धन की आवश्यकता पड़ी। कुछ यह भी हुआ कि जेम्स उतना मितव्ययी नहीं था जितने ट्यूडर शासक होते थे, इसलिए आर्थिक संकट के पैदा होने में कुछ तो परिस्थितियों का योगदान था और कुछ जेम्स का।

4. असफल वैदेशिक नीति—ट्यूडर शासकों के प्रभाव तथा सम्मान बढ़ने का एक कारण उनकी सफल वैदेशिक नीति थी किन्तु जेम्स प्रथम के शासक बनने के बाद यह सफलता असफल हो गयी। इसमें जेम्स का दोष कुछ अधिक था क्योंकि वह एलिजाबेथ की स्पेन विरोधी नीति को छोड़कर स्पेन से मैत्री करना चाहता था। यूरोप में तीस वर्षीय धार्मिक युद्ध 1618 ई. में आरम्भ हो गया था। जेम्स इस युद्ध में रोमन कैथोलिकों का समर्थन करना चाहता था जिससे स्पेन से मैत्री बनी रह सके। जेम्स प्रथम अपनी शान्तिप्रियता के कारण तथा कैथोलिक राज्यों से मैत्री के कारण असफल रहा। चार्ल्स फ्रांस में ह्यूजिनॉट्स के समर्थन में अथवा स्पेन के विरुद्ध असफल रहा इसलिए पार्लियामेण्ट इन दोनों सम्राटों से असन्तुष्ट थी।

5. राजा के मन्त्रियों पर अविश्वास—जेम्स तथा उसके पुत्र चार्ल्स की नीतियों पर मतभेद होने के साथ-साथ उनके प्रमुख परामर्शदाताओं पर भी सन्देह बना रहता था। जॉर्ज विलयर्स जिसको जेम्स ने ड्यूक ऑव बकिंघम की उपाधि दे दी थी, कैथोलिक राज्यों के साथ मैत्री चाहता था। जब वह चार्ल्स की शादी स्पेन की राजकुमारी से नहीं करवा सका तो फ्रांस के शासक चौथे हेनरी की पुत्री से शादी करवा दी। इसलिए पार्लियामेण्ट बकिंघम के मन्त्री पद से परे रहते हुए चार्ल्स की नीतियों का समर्थन नहीं करना चाहती थी। बकिंघम के प्रश्न को लेकर चार्ल्स का पहली और दूसरी पार्लियामेण्ट से काफी झगड़ा हुआ।

चार्ल्स प्रथम

6. यह संघर्ष सम्भवतः काफी समय तक चलता रहता लेकिन आर्थिक कारणों से बहुत शीघ्र इसका हल करना आवश्यक हुआ। चार्ल्स प्रथम को स्पेन तथा फ्रांस के विरुद्ध युद्ध संचालन के लिए धन की आवश्यकता थी। पार्लियामेण्ट को टैक्सों के बढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं थी यदि चार्ल्स अपने सलाहकार ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करे जिनको पार्लियामेण्ट का विश्वास प्राप्त हो। चार्ल्स को अन्त में विवश होकर पार्लियामेण्ट की कुछ शर्तों को स्वीकार करना पड़ा क्योंकि वह फ्रांस के साथ

युद्ध में व्यस्त था। इसी पृष्ठभूमि में चार्ल्स ने 1628 ई. में पिटीशन ऑव राइट्स को स्वीकार किया।

पिटीशन ऑव राइट्स 1628 ई.

इस याचिका में पालियामेण्ट के सदस्यों ने चार्ल्स की नीतियों की आलोचना की तथा कुछ कार्यों को अवैधानिक तथा अनुचित घोषित किया था। ये कार्य थे :

(1) पालियामेण्ट की अनुमति के बिना कोई टैक्स लगाना अथवा ऋण लेना।

(2) बिना किसी अपराध के किसी व्यक्ति को कैद करना।

(3) गृहस्थों के घरों में उनकी इच्छा के विरुद्ध सैनिकों को रखना।

(4) शान्ति के समय में फौजी कानून द्वारा अपराधी घोषित करना अथवा दण्ड देना।

पिटीशन का महत्त्व—चार्ल्स प्रथम इन शर्तों को हृदय से मानने के लिए तैयार नहीं था, लेकिन धन की आवश्यकता से उसे इस याचिका को मानने पर विवश होना पड़ा। यह याचिका इंगलैण्ड में पालियामेण्ट के सदस्यों के लिए बड़ी सफलता थी और साधारण व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित रखने की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। पिटीशन का स्वरूप पूर्णतया व्यावहारिक था। इसमें किसी मौलिक *सिद्धान्त की चर्चा नहीं की गयी थी। इस याचिका को स्वीकृति देते समय* चार्ल्स ने यह स्वीकार किया था कि राज्य में कानून सर्वोपरि है। अंग्रेज लेखक एडम्स ने इस याचिका को कानून और राजा के विशेषाधिकार के मध्य लकीर खीचने का पहला प्रयास बताया है। यह याचिका राजा से पालियामेण्ट को सत्ता स्थानान्तरण में पहला प्रयास था। ट्यूडर शासकों के राजतन्त्र की स्थापना के पश्चात् यह पहला वैधानिक नियन्त्रण राजसत्ता की शक्तियों पर लगाया गया था। ट्रेवेलियन के शब्दों में यह अधिकार याचिका संघर्ष की समाप्ति नहीं थी; बल्कि उन सिद्धान्तो के लिए, जो इस याचिका मे निहित थे, संघर्ष आरम्भ हुआ।

संघर्ष का पुनः आरम्भ

चार्ल्स ने अपने युद्धों के लिए धन प्राप्ति की वजह से इस याचिका को स्वीकृति दी थी। लेकिन पालियामेण्ट के सदस्य इस याचिका पर हस्ताक्षर हो जाने से सन्तुष्ट नही थे। वे राजा के अधिकारो को निरंकुश नही बनने देना चाहते थे। उन्होंने 1629 ई. मे राजा के द्वारा लगाये गये टनेज और पौण्डेज पर आपत्ति उठाई और बकिंघम *पर महाभियोग चलाने की बात पुन. दोहराई। इसी समय किसी व्यक्ति द्वारा बकिंघम* की हत्या कर दी गयी। चार्ल्स भी विदेशी युद्ध मे सफल हुआ। युद्ध समाप्त हो गया। चार्ल्स को धन की उतनी अधिक आवश्यकता नही रही और उसने बिना पालियामेण्ट *का अधिवेशन बुलाये शासन करना आरम्भ किया।* इससे संघर्ष के दूसरे चरण की भूमिका बनती दिखायी पडी।

चार्ल्स का व्यक्तिगत शासन—*1629* ई. से 1640 ई. तक चार्ल्स प्रथम ने व्यक्तिगत शासन की स्थापना की। उसने अनियमित साधनो से धन वसूल करने का

प्रयास किया। कुछ पुराने नियमों को पुनः लागू करके भारी धनराशि जुर्माने के रूप में वसूल की। इन ग्यारह वर्षों तक बिना पार्लियामेण्ट का अधिवेशन बुलाये ही चार्ल्स प्रशासन करता रहा। यह घटना अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं थी क्योंकि इसमें भी अधिक समय तक एलिजाबेथ ने पार्लियामेण्ट का अधिवेशन नहीं बुलाया था। यह घटना आपत्तिजनक इसलिए थी कि नया मध्यम वर्ग चार्ल्स की आर्थिक तथा धार्मिक नीति में असन्तुष्ट था। उसकी टनेज और पौण्डेज की नीति से सारा व्यापारी वर्ग असन्तुष्ट हुआ। टनेज का अर्थ था वह टैक्स जो आयात अथवा निर्यात की गयी शराब पर प्रति टन के हिसाब से लगाया जाता था। पौण्डेज भी एक टैक्स था जो सूखी वस्तुओं के आयात तथा निर्यात पर प्रति पौण्ड के हिसाब में लगाया जाता था। जहाजी कर (Ship Money) पहले केवल युद्ध के समय लगाया जाता था। चार्ल्स ने यह कर सब इंगलैण्ड निवासियों पर लगाया। ऐसा करने में चार्ल्स का मुख्य सलाहकार वेंटवर्थ था जिसको बाद में स्ट्रैफोर्ड की उपाधि दी गयी।

1629 से 1640 ई. के मध्य दो व्यक्तियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—कोक तथा हैम्पडन। दोनों ने चार्ल्स के व्यक्तिगत शासन का विरोध किया। कोक उच्चकोटि का वकील था तथा पिटीशन ऑव राइट्स का मसौदा बनाने में उसने विशेष कार्य किया था। कोक ने चार्ल्स का विरोध इसलिए अधिक किया था क्योंकि चार्ल्स रोमन विधि को लागू करना चाहता था जो इंगलैण्ड के कॉमन लॉ के विरुद्ध थी। विशेषाधिकार वाले न्यायालय इंगलैण्ड के बाहर की देन थी इसलिए उसे स्वीकार करने में विशेष आपत्ति थी।

चार्ल्स ने न्यायालयों में भी अपने पक्ष के जजों को नियुक्त किया। इसकी पराकाष्ठा हैम्पडन के मुकदमे में हुई। हैम्पडन ने जहाजी कर देने से मना कर दिया क्योंकि यह टैक्स पार्लियामेण्ट द्वारा नहीं लगाया गया था। जब हैम्पडन पर मुकदमा चलाया गया तो न्यायालय ने हैम्पडन को दोषी ठहराया। इस निर्णय की तीव्र आलोचना हुई।

स्काटलैण्ड में धार्मिक मतभेद

धार्मिक नीति में चार्ल्स अपनी इच्छाओं को जनता पर थोपना चाहता था और इस कार्य में उसका सहायक आर्कबिशप लॉड था। वह रोमन कैथोलिकों के प्रति उदार था तथा सब लोगों पर रोमन कैथोलिक चर्च को स्थापित कर देना चाहता था। चार्ल्स के धार्मिक अत्याचारों की पराकाष्ठा उस समय हुई जब उसने स्काटलैण्ड पर भी अपने विचार लागू करने चाहे और वहाँ की पूजा-पाठ विधि में परिवर्तन किये। परिणामस्वरूप दो बार बिशप से युद्ध हुआ। पहली बार चार्ल्स पराजित हुआ और उसको यह स्वीकार करना पड़ा कि स्काटलैण्ड के धार्मिक कार्य वहाँ की असेम्बली तथा संसद द्वारा तय किये जायें। लेकिन इस संसद ने भी चार्ल्स की नीति का समर्थन नहीं किया। चार्ल्स ने स्काटलैण्ड पर दूसरी बार आक्रमण किया लेकिन इस बार भी वह पराजित हुआ। उसने स्काटलैण्ड की सेना का खर्चा देना स्वीकार किया

और इस प्रकार विवश होकर उसे पार्लियामेण्ट को फिर बुलाना पड़ा।

लॉंग पार्लियामेण्ट

1640 ई. मे आर्थिक कारणों से विवश होकर चार्ल्स को पार्लियामेण्ट का अधिवेशन बुलाना पड़ा। इसे लॉंग पार्लियामेण्ट कहते हैं। इस सभा का नेता पिम था। उसका कहना था कि राजनीतिक जीवन में पार्लियामेण्ट के अधिकार उतने ही आवश्यक हैं जितने मनुष्य के लिए उसकी आत्मा की चेतन शक्ति। इस लॉंग पार्लियामेण्ट में पिम और हैम्पडन ने मिलकर कार्य किया।

लॉंग पार्लियामेण्ट का महत्व—लॉंग का पार्लियामेण्ट अधिवेशन स्काटलैण्ड की सेनाओं को धन देकर इगलैण्ड से बाहर भेजने के लिए बुलाया गया था, लेकिन इस कार्य के पूरा होने से पहले पार्लियामेण्ट के सदस्यों की शिकायतें दूर करना आवश्यक था। लॉंग पार्लियामेण्ट का अधिवेशन इगलैण्ड के राजनीतिक जीवन मे एक महत्वपूर्ण मोड़ था। इसने न केवल राजतन्त्र को निरंकुश नहीं होने दिया बल्कि 'हाउस ऑव कामन्स' को प्रत्यक्ष रूप से देश का प्रशासन संभालने योग्य बनाया। इस लॉंग पार्लियामेण्ट ने इतना परिवर्तन अवश्य किया कि बाद में आने वाले स्टुअर्ट शासक चार्ल्स की नीति को न अपना सके और पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के बिना नीति संचालन नही किया।

लॉंग पार्लियामेण्ट से पूर्व 'लार्ड्स सभा' का प्रभुत्व अधिक रहता था और 'कॉमन्स सभा', ट्यूडर शासकों के समय में उन अधिनियमों को पास कर देती थी जिन्हें 'लार्ड्स सभा' द्वारा रखा जाता था। लेकिन इस समय मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की सभा ने प्रशासन में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसका एक कारण तो यह था कि कॉमन्स सभा अब कार्य करने मे दक्ष हो गयी थी और कमेटी पद्धति के अनुसार यह स्वयं प्रस्ताव अथवा अधिनियम प्रस्तुत करने लगी थी। दूसरी बात यह थी कि अब लन्दन शहर पहले जैसा नहीं था। वह इंगलैण्ड के विभिन्न नगरों की अपेक्षा अधिक धनी था तथा इगलैण्ड मे होने वाले विभिन्न आन्दोलनों का नेतृत्व अथवा समर्थन लन्दन द्वारा होने लगता था। तीसरा कारण यह था कि 1640 ई. मे पार्लियामेण्ट कार्य की परिधि केवल आलोचनाओं तक ही सीमित नही थी अपितु यह अवसर राज्य सभा पर नियन्त्रण स्थापित करने का था। सौभाग्यवश इस सदन में विभिन्न नेता इस योग्य थे जो शक्ति प्राप्त करने के लिए जनसमूह का प्रयोग कर सकते थे।

लॉंग पार्लियामेण्ट के कार्य—लॉंग पार्लियामेण्ट ने प्रारम्भिक दो वर्षों में कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये। सबसे पहले इसने विशेषाधिकार वाली अदालतों को समाप्त किया। 'कोर्ट आफ स्टार चैम्बर', 'हाई कमीशन' आदि को कानून पास करके समाप्त कर दिया गया। 'शिप मनी', 'टनेज', 'पौण्डेज' आदि को पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृति न होने के कारण अवैध घोषित कर दिया गया। इस प्रकार राजा को पार्लियामेण्ट की स्वीकृति पर आधारित बना दिया गया। दूसरा मुख्य कार्य चार्ल्स के प्रमुख सलाहकारों को दण्ड देना था। चार्ल्स का मुख्य सलाहकार स्ट्रेफोर्ड था। पहले कॉमन्स सभा ने उस

गृह-युद्ध (1642-1649 ई.) के कारण

राजनैतिक संघर्ष के लिए पार्लियामेण्ट प्रायः तत्पर थी। पार्लियामेण्ट के कॉमन्स सदस्यों ने दो प्रस्ताव बहुत कम बहुमत से पास किये। एक के अनुसार चर्च पर बिशपों का नियन्त्रण समाप्त कर दिया गया, दूसरे के अनुसार यह कहा गया कि राजा के मन्त्रिमण्डल के मन्त्री ऐसे होने चाहिए जिनको पार्लियामेण्ट का विश्वास प्राप्त हो। इसी समय आयरलैण्ड में एक धार्मिक उपद्रव हुआ जो कैथोलिकों द्वारा आरम्भ किया गया। प्रश्न था कि इस विद्रोह को कुचलने के लिए सेना का नियन्त्रण किसके हाथ में रहे। धार्मिक प्रश्न को लेकर पार्लियामेण्ट में दो दल हो गये जो उनकी राजनीतिक विचारधारा को भी प्रभावित करते रहे। पार्लियामेण्ट के वाद-विवादों तथा मतभेदों से चार्ल्स को यह आशा बँधी कि वह पुनः अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है। इसलिए वह अपने विरोधी कॉमन्स के पाँच प्रमुख नेताओं को बन्दी बनाने के लिए स्वयं सेना लेकर कॉमन्स के अधिवेशन में पहुँचा। ये पाँच सदस्य थे—पिम, हैम्पडन, हैजले-रिग तथा स्ट्रोड। ये पाँचों सदस्य पूर्व सूचना के आधार पर संसद से पहले ही चले गये थे। इसका एक ही परिणाम हुआ कि राजा के विरोधियों को भी सैनिक शक्ति का सहारा लेना पड़ा और एक सैनिक संघर्ष की तैयारी शुरू हो गयी। इस प्रकार इस गृह-युद्ध के राजनीतिक तथा धार्मिक कारण थे।

गृह-युद्ध का स्वरूप—यह संघर्ष किसी ऐसे समाज में नहीं था जिसका ढाँचा तथा संगठन खण्डित हो रहा हो या जहाँ वर्गों का संघर्ष अत्यधिक बढ़ गया हो। आर्थिक दृष्टि से भी इंगलैण्ड सम्पन्न तथा प्रगतिशील था। इतना अवश्य है कि पुराने सामन्ती वर्गों ने राजा का समर्थन किया और धर्म-सुधार आन्दोलन के पश्चात् जिस वर्ग का विकास हुआ था उसने संसद का समर्थन किया। जमींदार वर्ग संघर्ष में दोनों तरफ से बँटा था। कुछ लार्ड्स भी पिम आदि की तरफ थे। राजा के अधिकांश समर्थक गाँवों में रहते थे, जिनका व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं था। उत्तरी और पश्चिमी इंगलैण्ड ने राजा का समर्थन किया तथा दक्षिणी और पूर्वी भाग पार्लियामेण्ट के पक्ष में था। पार्लियामेण्ट के समर्थक राउण्डहेड (Roundheads) कहलाये क्योंकि प्यूरिटन अपने बाल इस तरह कटवाते थे कि सिर गोल दिखायी देता था। राजा के समर्थक कैवेलियर कहलाये क्योंकि वे अधिकांशतया घुड़सवार होते थे।

रोमन कैथोलिक पूरी तरह से चार्ल्स तथा उसकी पत्नी के साथ थे जबकि

प्यूरिटन तथा अन्य सुधारवादी पार्लियामेण्ट के साथ थे। चार्ल्स का धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप गृह-युद्ध के लिए अधिक उत्तरदायी हुआ। राजनीतिक मतभेद तो शायद किसी

प्रकार से हल हो जाते लेकिन दोनो का मिश्रण इतना अधिक था कि उनको पृथक-पृथक नही किया जा सकता था।

1642 से 1660 ई. तक विकास—1642 ई. में गृह-युद्ध आरम्भ हुआ और अगले 6 वर्षों तक चलता रहा। आरम्भ मे पार्लियामेण्ट का पक्ष दुर्बल था। 1643 ई. मे पार्लियामेण्ट को स्काटलैण्ड का समर्थन प्राप्त हो गया और क्रामवैल के नेतृत्व मे सेना का पुनर्गठन किया गया। विभिन्न सफलताओं के पश्चात् 1949 ई. में

चार्ल्स प्रथम को मृत्युदण्ड दे दिया गया। इस युद्ध मे चार्ल्स धन के अभाव मे हार गया। पार्लियामेण्ट के साथ समुद्री तटवर्ती प्रदेश होने से विदेशी व्यापार चलता रहा और चार्ल्स को विदेशो से हथियार आदि भी उपलब्ध नही हो सके।

1649 ई. से 1660 ई. तक इगलैण्ड मे राजतन्त्र को समाप्त कर दिया गया और इस अवधि मे सैनिक अधिकारियों के हाथ मे राज्य सत्ता रही। एक लिखित विधान का निर्माण कराया गया। लेकिन यह प्रयोग सफल नही रहा। इन वर्षों मे राष्ट्र में साधारण सर्वमान्य भावना राजतन्त्र के पक्ष मे थी और सैन्यवाद के विरुद्ध थी। सैन्यवाद विरोधी भावनाएँ इतनी अधिक थी कि इसके कुछ कार्य यद्यपि सराहनीय थे लेकिन उनको पुनः प्राप्त करने मे अगली दो-तीन शताब्दियाँ लगभग गयी। वह कार्य थे—तीनों देशो (स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड व इंगलैण्ड) के लिए एक संघीय पार्लियामेण्ट की व्यवस्था, मताधिकार मे सुधार एवं परिवर्तन तथा ससद के स्थानो का पुर्नविभाजन आदि। इस सघर्ष से यह स्पष्ट हो गया कि भविष्य मे वह ही सरकार सर्वमान्य होगी जो नियमित होगी तथा बल पर आधारित नही होगी और अपना कार्य सहयोग तथा सहमति के आधार पर चलायेगी। 1660 ई. मे राजतन्त्र को इन्ही आवश्यकताओ के अनुसार कार्य करना था।

रक्तहीन क्रान्ति की पृष्ठभूमि—1660 ई. से 1688 ई. तक स्टुअर्ट शासकों को पुनः राज्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन इस समय के दोनों शासक किसी न किसी रूप मे कैथोलिक धर्म को स्थापित करना, पार्लियामेण्ट के अधिकारो को कम करना तथा राजतन्त्र को शक्तिशाली बनाना चाहते थे। जेम्स द्वितीय ने विशेषकर कैथोलिकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की। 1687 ई मे इगलैण्ड के अधिकाश नेता यह सोचते थे कि जेम्स द्वितीय की शीघ्र मृत्यु हो जायेगी और वे उसके अनुचित कार्यों से मुक्ति पा सकेंगे लेकिन जब जून 1688 ई. मे जेम्स को पुत्र प्राप्त हुआ तो क्रान्ति प्रायः अनिवार्य हो गयी। फ्रास मे चौदहवें लुई की धार्मिक नीतियों के फलस्वरूप हजारो ह्यूजिनॉट्स फ्रास से बाहर जा रहे थे तथा हजारो की सख्या में उनको मृत्यु के घाट उतारा जा रहा था। इन विस्थापित व्यक्तियो में अधिकाश शिल्पी तथा कारीगर थे।

इन धार्मिक अत्याचारो ने 1688 ई मे एक क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की। इसने पोप के समर्थको के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण पैदा हुआ जो जेम्स द्वितीय के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इन धार्मिक अत्याचारो के लिए जेसुइट उत्तरदायी थे। इसी वातावरण मे 30 जून, 1688 ई. को उन सात बिशपों को वैधानिक रूप से निर्दोष घोषित किया गया, जिनको जेम्स द्वितीय ने इस अपराध में दण्ड देना चाहा था कि उन्होंने राजा की आज्ञाओं को (जिनके अनुसार कैथोलिको पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये थे) चर्च मे पढ़ने से मना कर दिया था। इसके तुरन्त पश्चात् ही इगलैण्ड के विभिन्न दलों के प्रतिनिधियो ने जेम्स के दामाद विलियम से इगलैण्ड का शासक बनने का अनुरोध किया और दिसम्बर 1688 ई. मे जेम्स ने स्वयं फ्रास भागकर

विलियम का मार्ग सरल कर दिया। पालियामेण्ट ने राजगद्दी को रिक्त घोषित किया और विलियम तथा उसकी पत्नी मेरी को संयुक्त रूप से सम्राट घोषित किया।

क्रान्ति के परिणाम तथा महत्त्व—(1) इस क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि 1688 ई. में राजा के दैवी शक्ति सिद्धान्त का अन्त हो गया और राजगद्दी पर ऐसे राजा तथा रानी को बिठाया गया जो पालियामेण्ट की कृपा के पात्र थे तथा जिन्हे पालियामेण्ट ने आमन्त्रित किया था। इस प्रकार राजा भी ऐसा कर्मचारी हो गया जो अयोग्य होने पर हटाया जा सके।

(2) दूसरा परिणाम यह निकला कि राजा और पालियामेण्ट के मध्य वह संघर्ष जो 17वीं शताब्दी के आरम्भ से चला आ रहा था, अब समाप्त हो गया और पालियामेण्ट की प्रधानता को स्वीकार कर लिया गया।

(3) तीसरा परिणाम यह हुआ कि कैथोलिक धर्म की पुनः स्थापना की सम्भावना समाप्त हो गयी।

(4) आन्तरिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भी इंगलैण्ड की नीति में कुछ मौलिक परिवर्तन हुआ। अब नीति फ्रांस के अधीन न रहकर फ्रांस विरोधी हो गयी और इस प्रकार क्रान्ति ने यूरोपीय राजनीति को भी प्रभावित किया।

सवैधानिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। सम्राट के अधिकारो पर कोई नियन्त्रण स्थापित नहीं किया गया। 1689 ई. में टॉलरेशन एक्ट पास किया गया जिसके अनुसार सब धर्मावलम्बियो को (कैथोलिकों को छोड़कर) समान रूप से धार्मिक सुविधाएँ प्रदान की गयी। दिसम्बर 1689 ई. में बिल ऑव राइट्स पास किया गया। इसमें कोई नये सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किये गये। इसके अनुसार पालियामेण्ट की अनुमति के बिना कोई टैक्स नहीं लगाया जा सकता था।

गौरवपूर्ण क्रान्ति—इस क्रान्ति को गौरवपूर्ण क्रान्ति कहा जाता है। लेकिन यह गौरवपूर्ण किसी कार्य के आधार पर नहीं थी बल्कि यह गौरव इसके रक्तहीन होने में था। यह कोई गौरवपूर्ण स्थिति नहीं थी कि एक बाह्य राजकुमार तथा बाह्य सेना की सहायता से इंगलैण्ड निवासी अपने उन अधिकारो को प्राप्त कर सके जिन्हें उन्होंने स्वयं आपसी फूट के कारण खोया था। 1694 ई. में एक 'त्रैवार्षिक एक्ट' पास किया गया जिसके अनुसार पालियामेण्ट को तीन साल में एक बार निश्चित रूप से बुलाया जाना चाहिए। वास्तव में वार्षिक अधिवेशन की एक परम्परा स्थापित हो गयी क्योंकि फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में आर्थिक तथा सैनिक आवश्यकताएँ बढ़ती जाती थी। इस क्रान्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 1701 ई. का उत्तराधिकार निर्णायक कानून था जिसके अनुसार कोई कैथोलिक राजा अथवा कैथोलिक राजकुमारी से विवाहित राजा इंगलैण्ड की गद्दी पर नहीं बैठ सकता था। इस प्रकार भविष्य में राजाओं के लिए एक सीमित राजतन्त्र की स्थापना की गयी।

यह क्रान्ति वास्तव में एक रूढ़िवादी क्रान्ति थी। चूंकि जेम्स द्वितीय ने देश की संस्थाओ को समाप्त करने का प्रयत्न किया था इसलिए आगे किसी ने इन

इस क्रान्ति का मुख्य कार्य देश की संस्थाओं को सुरक्षित रखना था। जेम्स द्वितीय ने विभिन्न संस्थाओं के कार्यों पर आघात किया था तथा साधारण नियमों के पालन में बाधायें उत्पन्न की थीं। यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी कि इस क्रान्ति के पश्चात् परिवर्तन विरोधी भावना व्यापक हो। जेम्स द्वितीय की नीति ने प्रचलित संस्थाओं की सुरक्षा को स्वतन्त्रता की सुरक्षा का द्योतक बना दिया इसलिए 18वीं शताब्दी में विद्वानों के लिए पुराने नियम अन्ध श्रद्धा का स्थान बन गये।

18वीं शताब्दी में विकास—18वीं शताब्दी सामूहिक जीवन में विभिन्न प्रकार के दोषों से परिपूर्ण रही। संसद अथवा म्युनिसिपल चुनावों में मनचाहे दोष रह सकते थे, चाहे वे कितने ही हास्यास्पद क्यों न हों लेकिन 'जो कुछ है ठीक है' का दृष्टिकोण विद्यमान था। इस शताब्दी में इंगलैण्ड की महानता उसकी संगठित संस्थाओं में नहीं थी, अपितु उसकी सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति में थी। औद्योगिक क्रान्ति इसी शताब्दी में आरम्भ हुई। इन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों का शायद राजनीति पर प्रभाव भी उन्हीं पर जाता लेकिन अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम और उसके शीघ्र पश्चात् ही फांस की राज्यक्रान्ति तथा 20 वर्षों का सैनिक संघर्ष उसमें बाधाजनक रहे और 1815 ई. में जब फ्रांस के साथ संघर्ष समाप्त हुआ तो इंगलैण्ड के शासक वर्ग उस सामाजिक और आर्थिक स्थिति से उत्पन्न राजनीतिक परिवर्तनों को नहीं रोक सके।

19वीं शताब्दी के आरम्भ में स्थिति—इस शताब्दी में इंगलैण्ड ने अपनी नाविक शक्ति को अत्यधिक बढ़ाया। इस आधार पर भारत में तथा अन्य स्थानों पर अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना हुई। 19वीं शताब्दी के राजनीतिक नेताओं के समक्ष मुख्य समस्या, राजनीति की प्रचलित व्यवस्था को नयी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना था। इसका अर्थ था कि पहले मध्यम वर्ग और बाद में श्रमिक वर्ग को राजनीतिक अधिकारों का भागीदार बनाया जाये। 1820 ई. के लगभग यह स्पष्ट दिखायी देता था कि यदि इन वर्गों को राजनीतिक अधिकार नहीं दिये गये तो कैबिनेट प्रणाली और पार्लियामेण्टरी व्यवस्था, जिसका पिछले 150 वर्षों में विकास हुआ था, टूट जायगी। इसलिए 19वीं शताब्दी में विभिन्न नियम बनाकर राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन किये गये।

इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र का विकास (1832-1919 ई.)

19वीं शताब्दी के तीसरे दशक में कैनिंग की मृत्यु हो गयी। वह पार्लियामेण्ट में सुधार करने का विरोधी था। उसकी मृत्यु के पश्चात् अन्य कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो सुधारों की माँग के बढ़ते हुए वेग को रोक सके। यह समय के प्रभाव का ही परिणाम था कि अत्यन्त रूढ़िवादी मन्त्रिमण्डल कैथोलिकों पर से प्रतिबन्ध हटाने पड़े।

पार्लियामेण्ट की प्रतिनिधित्व प्रणाली के दोष

1830 ई. के लगभग प्रतिनिधित्व प्रणाली में विभिन्न दोष प्रचलित थे। बहुत-से ऐसे नगरों को, जो औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप बन गये थे, पार्लियामेण्ट में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त नहीं था, जबकि दूसरी ओर विभिन्न उजड़े हुए गांवों को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इसका परिणाम यह हुआ था कि पार्लियामेण्ट पर कुछ पूंजीपतियों अथवा सम्पन्न व्यक्तियों का नियन्त्रण था। कुछ स्थानों पर स्पष्ट रूप से प्रतिनिधि बनने का अधिकार बेचा जाता था। कुछ उदाहरण हास्यास्पद भी हैं—जैसे एक गांव *'ओल्ड सारम'* एक उजाड़ पहाड़ी थी, डनविच ग्राम समुद्र में गिर चुका था, लेकिन दोनों स्थानों से प्रतिनिधि आते थे। इसी प्रकार स्कॉटलैण्ड में 'ब्यूट' नामक गांव का उदाहरण है—उस गांव में केवल एक व्यक्ति मताधिकारी था और चुनाव के समय वह स्वयं अपना नामांकन करता था, स्वयं ही उसका अनुमोदन करता था और फिर निर्विरोध चुना जाता था।

इसके अतिरिक्त मत देने का अधिकार भी सब लोगों को समान योग्यता के आधार पर नहीं था। विभिन्न स्थानों पर विभिन्न लोगों को विभिन्न आधारों पर मत देने का तथा विभिन्न 'काउन्टीज' को विभिन्न प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था।

1830 ई. में मध्यवर्ग एवं श्रमिक वर्गों में फैलते हुए व्यापक असन्तोष से यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं फ्रांस की भाँति इंगलैण्ड में भी क्रान्ति न हो जाये। जुलाई 1830 ई. में हुई पेरिस क्रान्ति से एक वास्तविक भय उत्पन्न हुआ। उस समय समस्त इंगलैण्ड में सुधार की आवश्यकता पर विचार-विमर्श हो रहा था। यद्यपि इस बात पर मतभेद था कि किस सीमा तक सुधार किये जायें लेकिन पुराने 'बरों' के अधिक प्रतिनिधित्व के सभी विरुद्ध थे और सब ही नेता इस बात पर भी सहमत थे कि नये नगरों को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिलना चाहिए।

प्रथम रिफार्म एक्ट का पास होना—ऐसे अवसर पर 'ह्विग दल' ने मध्यम वर्ग का नेतृत्व किया तथा 1830 ई. में शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् प्रतिनिधित्व प्रणाली में व्याप्त दोषों को दूर करने का आश्वासन दिया। लेकिन बिल का पास होना उतना सरल नहीं था। 1831 ई. में एक बिल कॉमन्स में पास किया गया लेकिन लार्ड्स ने उसे अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप पुनः कॉमन्स का निर्वाचन हुआ और ह्विग दल को पहले से अधिक बहुमत प्राप्त हुआ। दूसरी बार फिर बिल क कॉमन्स ने पास कर दिया और फिर लार्ड्स ने अस्वीकार कर दिया। इससे कुछ स्थानों पर उपद्रव हुए। विवश होकर राजा को यह आश्वासन देना पड़ा कि यदि लार्ड्स सभा ने बिल को पास नहीं किया तो नये लार्ड्स सदस्य बढ़ा दिये जायेंगे जिससे बिल के पक्ष में बहुमत हो जाय। इस आश्वासन से लार्ड्स ने बिल को पास कर दिया और 1832 ई. में प्रथम सुधार अधिनियम पास हुआ।

प्रथम रिफार्म एक्ट की धाराएँ

(1) उन सब 'बरो' के प्रतिनिधि भेजने के अधिकार समाप्त कर दिये गये

जिनकी जनसंख्या 2,000 से कम थी। इस प्रकार के 57 बरो थे।

(2) जिन 'बरो' की जनसंख्या 2,000 से 4,000 तक थी उनको केवल एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार से उपलब्ध स्थान नये औद्योगिक नगरों को दे दिये गये।

(3) 'बरो' तथा 'काउन्टियों' में मताधिकार को अधिक विस्तृत किया गया।

सुधार नियम का प्रभाव तथा महत्व

इस सुधार नियम ने मध्यम वर्ग का प्रभुत्व अधिक बढ़ा दिया और राजनीतिक शक्ति भूस्वामियों के स्थान पर मध्यम वर्ग को सौंप दी गयी। यह पहला अधिनियम था जिसमे जनता के प्रतिनिधित्व की बात कही गयी थी। इससे पहले केवल कुछ समुदायों अथवा वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था। लेकिन प्रतिनिधि चुनने का अधिकार अभी भी केवल सम्पत्ति के मालिकों को ही दिया गया। यह ठीक है कि श्रमिक वर्गों को मतदान का अधिकार प्रदान नहीं किया गया, लेकिन वे इस बात की आशा रखते थे कि एक बार यदि राजनीतिक शक्ति का एकाधिकार सामन्तों के हाथ से छिन गया तो उनका भी नम्बर शीघ्र ही आ जायेगा, इसलिए इस बिल के पक्ष में हुए आन्दोलन में सब लोगों ने साथ दिया था।

यह भी ठीक ही है कि 1832 ई. के बाद की और पहले की पार्लियामेंट को देखकर ऐसा लगता था जैसे कोई विशेष परिवर्तन 1832 ई. के सुधार नियम ने नहीं किया था, लेकिन इसकी कुछ धाराएँ क्रान्तिकारी सिद्ध हुईं जिनका प्रभाव थोड़े समय बाद ही अनुभव किया जा सका। राजा द्वारा संसद सदस्यों को प्रश्रय देने तथा नियुक्त करने का अधिकार समाप्त करके राजा के प्रभाव को कम किया गया। इससे राजा का प्रभाव, मन्त्रियों की नियुक्ति तथा मन्त्रिमण्डल के गठन पर, कम हो गया। निर्वाचन पद्धति के विस्तृत कर देने से राजनीतिक दलों के गठन पर प्रभाव पड़ा। जनमत की प्रधानता घोषित करने से कालान्तर में कॉमन्स की प्रधानता स्थापित हुई और लार्ड्स का प्रभाव कम हो गया।

दूसरा तथा तीसरा सुधार अधिनियम (1867 तथा 1884 ई.)

1832 ई. के सुधार अधिनियम से साधारण वर्गों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। पार्लियामेण्ट के सदस्य श्रमिक वर्गों को राजनीतिक अधिकारों के दिये जाने के विषय में बड़े उदासीन थे, इसलिए 1838 से 1848 ई. तक श्रमिकों का आन्दोलन इंगलैण्ड में अत्यन्त प्रभावशाली बना। इसकी 6 सूत्रीय माँग थी—वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान, वार्षिक पार्लियामेण्ट, मताधिकार का साधारण वर्गों को प्राप्त होना, सदस्यों को वेतन दिया जाना और समान निर्वाचन क्षेत्र बनाना। यद्यपि यह आन्दोलन असफल रहा लेकिन यह माँगें बहुत समय तक आन्दोलन का मुख्य विषय बनी रहीं और आने वाले वर्षों में इन्हें पूरा करने का प्रयत्न किया गया।

दूसरा सुधार अधिनियम—1866 ई. तक मताधिकार को अधिक विस्तृत बनाने का आन्दोलन इतना लोकप्रिय हो रहा था कि इंगलैण्ड के दोनों राजनीतिक दल

सुधार नियम पास करना चाहते थे और वास्तव में कंजर्वेटिव दल के नेता डिज्रेली 1867 ई. मे दूसरा सुधार नियम पास कर दिया। इस नियम के अनुसार मतदाता की सख्या में लगभग 50% की वृद्धि कर दी गयी। कुछ छोटे बरो को प्रतिनि भेजने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। इस अधिनियम से शहरों में प्रत्येक घ के मालिक को मतदान का अधिकार दे दिया गया। शिल्पियों को तथा 10 पौ वार्षिक किराया देने वाले किरायेदारो को यह अधिकार प्राप्त हो गया। इससे श्रमि को भी बहुत बड़ी सख्या मे मताधिकार मिल गया।

1867 ई. के एक्ट के पश्चात् मतदाताओ की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हु थी लेकिन निर्वाचन प्रणाली मे कुछ प्रमुख दोष रह गये थे। चुनाव के समय भ्रष्टा चार तथा अनुचित प्रभाव व्यापक रूप से प्रचलित थे। प्रतिनिधि भेजने के अधिका को अभी सामान्य रूप से समान नहीं बनाया गया था।

तीसरा सुधार अधिनियम 1872 ई.—ग्लेडस्टन ने गुप्त मतदान का नियम पास किया। 1883 ई. मे चुनाव पर होने वाले खर्च की धन राशि निर्धारित क दी गयी। प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए 1884–85 ई. में दो नियम पास किये गये। पहला नियम मताधिकार से सम्बन्धित था। इसके अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में भी प्रत्येक घर के मालिक अथवा किरायेदार को मताधिकार दे दिया गया। इससे मतदाताओं की सख्या तीन गुनी बढ गयी। कुछ भेदभाव अभी रह गये थे जो कुछ समय पश्चात् दूर हुए।

निर्वाचन क्षेत्रो में सुधार—लेकिन मताधिकार से महत्वपूर्ण प्रश्न स्थानों के विभाजन का था। अभी भी प्रतिनिधित्व का अधिकार समान जनसख्या के आधार पर नहीं था। उदाहरणार्थ, लिवरपूल नगर में 1,55,000 जनसख्या केवल एक प्रतिनिधि भेज सकती थी जबकि कालन मे 5,000 जनसख्या को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। 73 बरों ऐसे थे जिनको प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था और जिनमें से प्रत्येक की जनसख्या 15,000 से कम थी। इसलिए 1885 ई. मे एक नियम पास किया गया जिसके अनुसार एक निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि भेजा जाया करेगा और जनसख्या के आधार पर पहले के 72 बरो के अधिकार समाप्त कर दिये गये। निर्वाचन क्षेत्रो मे काफी फेर-बदल किया गया और साधारणतया 54,000 जनसख्या पर एक प्रतिनिधि भेजा जाने लगा।

जनता प्रतिनिधित्व का नियम 1918 ई.

जो दोष निर्वाचन प्रणाली में रह गये थे, वे प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ही दूर हो सके। इस नियम के अनुसार सारी निर्वाचन प्रणाली में परिवर्तन किये गये। निर्वाचन क्षेत्रो मे भी परिवर्तन किये गये तथा मताधिकार भी अधिक विस्तृत कर दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक वयस्क पुरुष को मताधिकार दे दिया गया तथा प्रत्येक 30 वर्ष से अधिक आयु वाली स्त्री को भी मताधिकार दे दिया गया, यदि वह सम्पत्ति की मालिक थी अथवा किसी मालिक की पत्नी थी। इन धाराओं का यह

परिणाम निकला कि लगभग 20 लाख पुरुषों और 85 लाख स्त्रियों को मत देने का अधिकार उपलब्ध हुआ। 1928 ई. में एक नया नियम पास किया गया जिसके अनुसार पुरुषों के समान 21 वर्ष की आयु वाली महिलाओं को भी मताधिकार प्राप्त हो गया।

इस नियम के पश्चात् इंगलैण्ड में व्यस्क मताधिकार स्थापित हो गया। 1948 ई. में विश्वविद्यालयों के विशेष प्रतिनिधित्व को भी समाप्त कर दिया गया और 1949 ई. में हाउस ऑव कॉमन्स के निर्वाचन क्षेत्रों का पुन. विभाजन हुआ और समस्त इंगलैण्ड को 625 क्षेत्रों में बाँट दिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र का विकास अत्यन्त मंदगति से हुआ। 1832 ई. के नियम से मध्यम वर्ग को, 1867 ई. के नियम से श्रमिक वर्ग को तथा 1884 ई. के नियम से कृषकों को मताधिकार दे दिया गया। 1918 ई. में स्त्रियों को मताधिकार तथा पुरुषों के लिए व्यस्क मताधिकार लागू कर दिया गया। इन निर्वाचन सुधारों का प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा और यह कहा जा सकता है कि कैबिनेट प्रणाली, लार्ड्स की महत्ता कम होना तथा कॉमन्स का प्रभावशाली होना और राजा का केवल वैधानिक राजा बना रहना इसके कुछ स्पष्ट द्योतक है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. सामन्तों ने जॉन को 1215 ई. में जिस सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया वह था—
   (क) मैग्ना कार्टा (ख) बिल ऑव पिटीशन
   (ग) पिटीशन ऑव राइट्स (घ) पेरिस समझौता ( )
2. 1642 से 1649 ई. तक इंगलैण्ड में चलने वाले गृहयुद्ध में चार्ल्स की पराजय का मुख्य कारण था—
   (क) चार्ल्स का जनता ने समर्थन नहीं किया
   (ख) राजा के विरोधियों को स्काटलैण्ड की सहायता प्राप्त हो गयी
   (ग) राजा के पास योग्य सेनापति न था
   (घ) चार्ल्स के पास धन का अभाव था ( )
3. गौरवपूर्ण क्रान्ति किस काल में हुई—
   (क) ट्यूडर (ख) स्टुअर्ट (ग) नार्मन (घ) हैनोवर ( )
4. रक्तहीन क्रान्ति का मुख्य परिणाम था—
   (क) राजा का दैवी अधिकार समाप्त होना
   (ख) राजा पार्लियामेण्ट द्वारा मनोनीत होने लगा
   (ग) राजा भी एक निर्वाचित कर्मचारी बन गया
   (घ) राजा और संसद के मध्य सैनिक संघर्ष समाप्त हो गया। ( )

5. उत्तराधिकार निर्णायक कानून के
(क) सीमित राजतन्त्र की
(ग) राजा के लिए पालियामेण्ट व
(घ) इगलैण्ड मे पूर्ण प्रजातन्त्र की
6. 1830 के पश्चात् इगलैण्ड मे प्रजातन
(क) पालियामेण्ट मे कनिग जैसे
विरोध नही कर रहा था
(ख) इगलैण्ड मे आर्थिक और
आवश्यक हो गये थे (ग)
(घ) फ्रास की भाँति क्रान्ति का ड
7. प्रथम सुधार अधिनियम का ९१
(क) राजनीतिक शक्ति भू-स्वा
(ख) लार्ड सभा के अधिकार कम
(ग) श्रमिकों को मतदान का अ
(घ) राजनीतिक दलो के गठन

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 4 से 6 प
1. मैग्ना कार्टा की मुख्य धाराएँ
2. जेम्स स्पेन से मैत्री का इच्छुक था ज
3. 'पिटीशन आव राइट्स' को चार्ल्स
4. लॉग पार्लियामेण्ट के कोई दो महत्
5. गौरवपूर्ण क्रान्ति से आप क्या समझ
6. 1830 के पश्चात् वे आर्थिक,
जो सुधारो के लिए उत्तरदायी थी।
7. 'प्रथम रिफार्म एक्ट' की तीन मुख्य
8. आपके विचार से ग्लेडस्टन के म
समय क्या उद्देश्य रहे होगे ? बता
9. एक समय-सारणी बनाइए तथा ि
(क) वह वर्ष जब मध्यम वर्ग को
(ख) वह वर्ष जब श्रमिक वर्ग को
(ग) वह वर्ष जब कृपको को मत

निबन्धात्मक प्रश्न

, ट्यूडर काल मे राजा और पालिय
वपूर्ण क्रान्ति के परिणाम तथा
रिफार्म एक्ट' के प्रभाव एव

4

अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठभूमि

18वीं शताब्दी इंगलैण्ड में स्थिरता का युग थी, लेकिन राजनीतिक दृष्टि से दो महत्त्वपूर्ण क्रान्तियाँ भी इसी शताब्दी में हुईं। इनमें से एक अमरीका में हुई और दूसरी फ्रांस में। 1763 ई. के पश्चात् अमरीकी उपनिवेशों की समस्या जटिल बन गयी थी। जब तक कनाडा फ्रांस के अधिकार में था, तब तक इंगलैण्ड की सेनाएँ उपनिवेशों की सुरक्षा के लिए आवश्यक थीं। साथ ही अंग्रेजी नाविक बेड़ा समुद्री डाकुओं से उनकी सुरक्षा में सहायक था तथा उनके व्यापार में सुविधा उपलब्ध करता था। 1763 ई. में जब कनाडा पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया और फ्रांस के आक्रमण से सुरक्षा की आवश्यकता समाप्त हो गयी, उस समय यह प्रश्न उठा कि व्यापारिक सुविधा के लिए किस सीमा तक अंग्रेजों का नियन्त्रण सहन किया जा सकता है। अमरीकी उपनिवेशों में इस प्रश्न पर चर्चा होने लगी थी कि इंगलैण्ड के अधीन रहने से उपनिवेशों को क्या लाभ है।

इंगलैण्ड का दृष्टिकोण भिन्न था। यह पहला अवसर था कि इंगलैण्ड को एक विशाल साम्राज्य उपलब्ध हो गया था और इंगलैण्ड के लिए उपनिवेशों पर आधिपत्य स्थापित रखना कहीं अधिक आवश्यक था ताकि साम्राज्य बना रह सके। इंगलैण्ड के शासकों की दृष्टि में उपनिवेशों से धन प्राप्त करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना राजभक्ति तथा राजाज्ञाकारिता की आशा करना था। इस प्रकार एक ओर उपनिवेशों में इंगलैण्ड के प्रति असन्तोष और उसके अधिकार की जाँच हो गयी थी, और दूसरी ओर इंगलैण्ड वासियों की दृष्टि में उपनिवेशों को राजाज्ञाकारिता सिखाना आवश्यक था। ये दोनों विभिन्न दृष्टिकोण एक संघर्ष की पृष्ठभूमि थे।

1763 ई. के पश्चात् दृष्टिकोण में अन्तर—एक और जटिलता इन दोनों के सम्बन्ध में थी। 1763 ई. से पूर्व न तो इंगलैण्ड ने कठोरता से अपने नियंत्रण को लागू किया था और न उपनिवेशों ने इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट के अधिकार को स्पष्ट रूप से चुनौती दी थी। इंगलैण्ड के शासकों ने उपनिवेशों द्वारा नियमोल्लंघन के व्यवहार को अनदेखा कर रखा था और उपनिवेशों में इच्छानुसार नियमों का उल्लंघन हो रहा था। 1763 ई. के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन आ गया और विभिन्न तुच्छ मतभेद बदली हुई परिस्थिति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिखायी पड़ने लगे।

इन विभिन्न दृष्टिकोणो के रहते हुए तथा दोनों की भिन्न-भिन्न इच्छाएँ होते हुए कुछ ऐसी घटनाएँ 1763 ई. के पश्चात् हुईं जिनके परिणामस्वरूप अमरीकी उपनिवेश स्वतन्त्रता के संघर्ष के लिए बाध्य हुए। इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि इगलैण्ड का नियन्त्रण, उपनिवेशों पर कभी भी शक्तिशाली नही था। 1763 ई. के पश्चात् इगलैण्ड की पालियामेण्ट तथा उपनिवेशो की व्यवस्थापिका सभाओ मे भिन्न-भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व था। इगलैण्ड की पालियामेण्ट इंगलैण्ड के व्यापारियो के हित मे, और उपनिवेशो की व्यवस्थापिका अमरीका निवासियों के हित में नियम बनाना चाहती थी। ऐसा कहा जाता है कि 1763 ई. में उपद्रव के लिए स्थिति तो तैयार थी परन्तु उपनिवेशो मे एकता की भावना का अभाव था। इस कमी को 1763-1775 ई. के मध्य पालियामेण्ट की नीति ने ही पूरा कर दिया।

उपनिवेशों में प्रचलित शासन प्रणाली—उपनिवेशों की शासन प्रणाली इगलैण्ड की ही भाँति थी। उपनिवेशो की न्याय व्यवस्था भी इगलैण्ड से प्रभावित थी। गवर्नरो की नियुक्ति इंगलैण्ड के राजा द्वारा होती थी, लेकिन उसका वेतन अधिकाश उपनिवेशो में वहाँ की व्यवस्थापिका सभा ही निश्चित करती तथा देती थी। गवर्नरो को नियमों को अस्वीकार करने का अधिकार था लेकिन यदि संघर्ष हो जाय तो गवर्नरों को झुकना भी पडता था।

अमरीकी उपनिवेश संघर्ष के मार्ग पर—इस बीच विभिन्न घटनाएँ ऐसी हुईं जिनसे अमरीकी उपनिवेशों को सघर्ष के लिए बाध्य होना पड़ा।

(1) सप्तवर्षीय युद्ध के मध्य ही सघर्ष के लिए भूमिका तैयार हुई, जब 1760 ई मे इगलैण्ड ने उपनिवेशों के तस्कर व्यापार को रोकने का प्रयास किया और सरकारी कर्मचारियों द्वारा पुलिस की सहायता से व्यापारियो के घरो की तलाशी आरम्भ की। 1765 ई. मे **ओटिस** (Otis) नामक नामी वकील ने इस नियम को मौलिक अधिकारों के विरुद्ध बताया।

ओटिस यद्यपि न्यायालय मे सफल नही हुआ लेकिन उसने पहली वार इगलैण्ड के अधिकारियों को खुली चुनौती दी थी।

(2) **उपनिवेशों पर व्यापारिक नियंत्रण**—1763 ई. के पश्चात् इगलैण्ड के शासको मे इस बात के लिए जागरूकता पैदा हो रही थी कि उपनिवेशों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाय। सप्तवर्षीय युद्ध मे उपनिवेशो ने इगलैण्ड का कोई विशेष साथ नहीं दिया था इसलिए प्रशासक उसको इगलैण्ड के साथ आर्थिक तथा राजनीतिक बन्धनों मे बाँध देना चाहते थे। यह कार्य टैक्स आदि लगाकर ही हो सकता था। जब ग्रेनविल को यह पता चला कि इगलैण्ड की सरकार अमरीका मे सीमा शुल्क अधिकारियों को 8,000 पौण्ड वार्षिक वेतन देती थी, पर केवल 2,000 पौण्ड कर वसूल कर पाती थी, तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही और उसने कठोरता से कर वसूल करने की सोची। तस्कर व्यापार को रोकने के लिए अंग्रेजी नाविक बेड़े को निगरानी के लिए नियुक्त किया गया। व्यापार सम्बन्धी नियमों को कठोरता से लागू किय'

अपनाये गये, अपितु कठोर शब्दों का भी प्रयोग किया गया। विरोध केवल भाषणों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि कार्य रूप में भी परिवर्तित हुआ। विभिन्न नगरों में स्टाम्प एक्ट का पक्ष लेने वाले व्यक्तियों के घरों पर हमला बोल दिया गया। कुछ न्यायालयों के रिकार्ड जला दिये गये। एक्ट के लागू होने से पहले स्टाम्प बेचने वालों ने स्टाम्प बेचना छोड़ दिया था अथवा न बेचने का वायदा किया था। बोस्टन नगर की जनता ने मुख्य न्यायाधीश के घर पर धावा बोल दिया और उसका सब सामान यहाँ तक कि उसकी अन्तिम कमीज भी जला दी गयी। जिस दिन स्टाम्प एक्ट लागू हुआ उसी दिन स्टाम्प गलियों में जलाये गये और समाचार-पत्रों ने स्टाम्प चिपकाने के स्थान पर मुर्दा खोपड़ियाँ छापीं।

इस एक्ट का प्रभावशाली ढंग से विरोध करने के लिए एक स्टाम्प एक्ट कांग्रेस बनायी गयी जिसने इंगलैण्ड की सरकार से इन नियमों को वापस लेने का अनुरोध किया और यह तर्क प्रस्तुत किया कि बिना प्रतिनिधियों के टैक्स नहीं लगाने जाने चाहिए, *इसलिए केवल वे टैक्स ही लगाये जा सकते थे जिनको व्यवस्थापिका सभाएँ लगाएँ।* इस विरोध के साथ-साथ अंग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और स्टाम्प एक्ट के अन्तर्गत स्टाम्प की बिक्री नहीं हुई।

अंग्रेजी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रभाव इंगलैण्ड के व्यापारी वर्ग पर पड़ा और इसी समय जॉर्ज तृतीय ने ग्रेनविल को मन्त्री पद से हटा दिया। बर्क पिट भी इस नियम के विरोध में था। अतः 1766 ई. में स्टाम्प एक्ट वापस ले लिया गया। लेकिन सोचकर कि ऐसा करने से उपनिवेशों को यह भ्रान्ति न हो पाये कि इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट *को टैक्स लगाने का अधिकार नहीं है,* पार्लियामेण्ट ने *टैक्स समाप्त करने के साथ ही यह* भी घोषणा की कि उसे कर लगाने का अधिकार है। फिर भी उपनिवेशों में एक्ट की *समाप्ति से खुशियाँ मनायी गयीं।*

अंग्रेजी शासकों ने इस आन्दोलन से कुछ *नहीं* सीखा और टाउनशेन्ड (*वित्त प्रधान मन्त्री*) ने नये कर *1767* ई. में लगाये। इसका भी विरोध किया गया और अंग्रेजी वस्तुओं के बहिष्कार की नीति अपनायी गयी। इस बार भी प्रभाव पहले जैसा *ही हुआ* और 1770 ई. में पार्लियामेण्ट ने इन्हें भी समाप्त कर दिया और केवल चाय पर *टैक्स* लगा रहने दिया।

यद्यपि अमरीकी उपनिवेशों ने टैक्सों का विरोध यह कहकर किया कि उनका पार्लियामेण्ट में कोई प्रतिनिधित्व नहीं था लेकिन अमरीकी उपनिवेशों के नेता इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट के अन्दर प्रतिनिधित्व नहीं चाहते थे। वे न इंगलैण्ड द्वारा लगाये गये टैक्सों से मुक्ति चाहते थे। आरम्भ में उपनिवेशों के नेता यह मानते थे कि पार्लियामेण्ट को व्यापार नियंत्रित करने के लिए टैक्स लगाने का अधिकार है लेकिन आमदनी प्राप्त करने के लिए टैक्स लगाने का अधिकार नहीं। लेकिन इसका अभिप्राय था कि वे [illegible] विरोध किया जायगा।

चाय पर टैक्स 1770 ई. में भी जारी रहा था। 1773 ई. में ईस्ट इंडिया [illegible]

कम्पनी की आर्थिक दशा सुधारने के लिए इस कम्पनी को अमरीका में चाय भेजने का एकाधिकार दे दिया गया क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक दशा खराब थी और चाय का बहुत बड़ा भण्डार इंगलैण्ड के समुद्री तट पर रखा हुआ था। चाय कर तीन पेंस प्रति पौण्ड के हिसाब से लगाया जाता था। इस चाय कर के पश्चात् भी अमरीका में चाय इंगलैण्ड की अपेक्षा सस्ती मिलती थी, फिर भी उन तस्कर व्यापारियों को हानि तो होनी ही थी जो हालैण्ड अथवा अन्य स्थानों से चाय ले आते थे। इंगलैण्ड से आयी हुई चाय सस्ती थी। इसलिए उनको आर्थिक हानि होती थी। इसके अतिरिक्त यह भी भय था कि इंगलैण्ड सरकार यदि चाय के व्यापार का एकाधिकार एक कम्पनी को दे सकती थी तो इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का व्यापार भी किसी अन्य व्यापारियों के समुदाय को दिया जा सकता है और इस प्रकार उपनिवेशों के व्यापारियों को भारी हानि हो सकती है।

बोस्टन टी पार्टी (1773 ई.)— समुद्रतट के व्यापारियों ने जनता को उत्तेजित किया कि वे अंग्रेजों के भक्त व्यापारियों को अंग्रेजी चाय के बेचने से रोकें। अतः एक दिन (16 दिसम्बर 1773 ई.) बहुत-से देशभक्तों ने अमरीका के देशी निवासियों के भेष में बोस्टन बन्दरगाह में खड़े तीन जहाजों पर लदी चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह घटना ही 'बोस्टन टी पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध है।

इंगलैण्ड की नीति—यह घटना इंगलैण्ड की दृष्टि में उद्दण्डता की प्रतीक थी अतः इंगलैण्ड मैसेच्यूसैट्स के विरुद्ध तुरन्त कार्य किया। बोस्टन बन्दरगाह को बन्द कर दिया गया जिसका प्रभाव था व्यापारियों को अत्यधिक हानि। मैसेच्यूसैट्स के सरकारी प्रशासन में मौलिक परिवर्तन भी किये गये। संयोगवश इसी समय 'क्यूबेक ऐक्ट' पास किया गया जिसका अभिप्राय था अमरीकी उपनिवेशों के विस्तार को रोकना। 1774 ई. में फिलाडेल्फिया में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें इंगलैण्ड के विरुद्ध शिकायतों की एक सूची बनायी गयी और यह आशा व्यक्त की गयी कि अमरीकी उपनिवेश पार्लियामेण्ट के उन नियमों का पालन करेंगे जो वास्तव में व्यापार नियमित करने के लिए बनाये जायें।

स्वतन्त्रता की घोषणा (4 जुलाई, 1776 ई.)—1775 ई. में फिलाडेल्फिया में दूसरी अमरीकी महाद्वीपीय सभा बुलायी गयी। इस सभा में कई मत थे। कुछ लोग सोचते थे कि समझौता हो जायेगा, दूसरी ओर वे लोग थे जो समझते थे कि यह असम्भव है और स्वतन्त्रता चाहते थे, तीसरा दल उन लोगों का था जो समझते थे कि शक्ति के आधार पर इंगलैण्ड अमरीकी उपनिवेशों की बात मान लेगा। इस समय जो विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता की बात नहीं कही गयी थी। कुछ नेताओं ने जार्ज तृतीय को एक पिटीशन भेजा जिसमें पार्लियामेण्ट के नियमों के अत्याचार से अमरीकी उपनिवेश को बचाने की बात कही गयी थी। किन्तु जार्ज ने अमरीकी उपनिवेश निवासियों को विद्रोही घोषित किया। यह घटना अगस्त 1775 की थी। नवम्बर तक जार्ज तृतीय तथा उसके मन्त्रियों ने युद्ध का दृढ़ सकल्प

कर लिया था। इसी बीच जून 1775 ई. में बकर हिल नामक स्थान पर उपनिवेश की सेनाओं को हटाने में अंग्रेजी सेना को भयंकर क्षति उठानी पड़ी। मार्च 1776 ई. तक उपनिवेश सेनाएं कुछ सफलता प्राप्त कर चुकी थीं। इसी समय टॉमस पेन की पुस्तिका 'कामन सेन्स' अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई और हजारों की संख्या में हाथों हाथ बिक गयी। पेन एक अंग्रेज था जो साल भर पहले ही अमरीका में आया था। उसका विश्वास था कि इंगलैण्ड और अमरीकी उपनिवेशों को विधाता ने ही अलग-अलग रहने के लिए बनाया था, तभी तो दोनों में इतना अधिक अन्तर है। इस पुस्तिका में उसने इसी प्रकार का मत व्यक्त किया था। उसके अनुसार पुर्नमिलन एक झूठा स्वप्न था। अप्रेल 1776 ई. में कांग्रेस ने विश्व के अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। वास्तव में यह कार्य स्वतन्त्रता का पर्याय था। 2 जुलाई 1776 ई. को फिलाडेल्फिया कांग्रेस ने स्वतन्त्रता के पक्ष में मत दिया और 4 जुलाई को स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गयी।

स्वतन्त्रता घोषणा-पत्र—इस स्वतन्त्रता घोषणा-पत्र में उपनिवेशवासियों ने अपने पक्ष को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। वह घोषणा-पत्र एक क्रान्तिकारी कार्य था क्योंकि इसने एक क्रान्ति को जो आरम्भ हो चुकी थी ठीक और उचित बताने का प्रयत्न किया। इसमें कोई नये विचार प्रतिपादित नहीं किये गये थे। यह घोषणा-पत्र उस समय केवल एक वैधानिक तर्क था।

युद्ध का संक्षिप्त वर्णन (1775-1783 ई.)

अमरीकी उपनिवेश असगठित थे। उनके पास कोई फौज नहीं थी। न ही कोई समुद्री बेड़ा था और न कोई केन्द्रीय सरकार थी और उन्हें संघर्ष करना पड़ रहा था। विश्व की एक बड़ी साम्राज्य शक्ति से, जिसको समुद्रों पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त था और जिसके पास सगठित सेना थी।
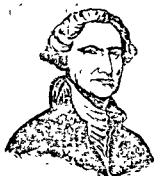
जार्ज वाशिंगटन

लेकिन इंगलैण्ड की कठिनाई थी कि उसको 4,800 किलोमीटर दूर युद्ध करना पड़ रहा था और उनके सैनिक वहाँ के स्थानीय मार्गों से पूरी तरह से परिचित भी नही थे। अमरीकी सेना छापामार प्रणाली अपना रही थी। आवागमन के साधन बहुत कम थे और घने जगलों में अमरीकी सेना को छिपने के लिए पर्याप्त सुविधाएँ थीं। इंगलैण्ड में जनमत विभक्त था तथा खाद्य सामग्री सरलता से उपलब्ध नही थी।

जार्ज वाशिंगटन अमरीकी सेना का सेनापति था। उसने 1776 ई. में अंग्रेजों को बोस्टन खाली करने पर बाध्य किया। उसको ब्रोकलिन नामक स्थान पर असफलता मिली।

लेकिन 1777 ई. में अंग्रेजी सेनाध्यक्ष बरगोइन को सेराटोगा के स्थान पर हराया। बरगोइन को अपनी सम्पूर्ण सेना (जो 5,000 से अधिक थी) अमरीकी जनरल गेट्स को समर्पित करनी पड़ी। यह युद्ध निर्णायक रहा और इसका महत्त्व अधिक नहीं आँका जा सकता। इसी सफलता का समाचार सुनकर फ्रांस अमरीकी उपनिवेशों की तरफ से युद्ध में सम्मिलित हुआ। परोक्ष रूप में फ्रांस की सरकार पहले से ही सहायता कर रही थी पर अब युद्ध में पूरी तरह सम्मिलित हो गयी। फ्रेंच समुद्री बेड़े ने ब्रिटिश सेनाओं को सामान भेजने की कठिनाइयों को और अधिक बढ़ा दिया।

उत्तरी अमरीका 1783

1778 ई. में अंग्रेजों ने फिलाडेल्फिया खाली कर दिया। 1781 ई. में कार्नवालिस ने यार्कटाउन नामक स्थान पर आत्मसमर्पण कर दिया। इस पराजय के पश्चात् हाउस ऑफ कामन्स ने अमरीका की स्वतन्त्रता को स्वीकार करने का निश्चय किया। अप्रैल 1782 ई. में शान्ति वार्ता विधिपूर्वक आरम्भ हो गयी और जनवरी 1783 ई. में इंगलैण्ड तथा फ्रांस और स्पेन के बीच प्रारम्भिक समझौता हो जाने के बाद सितम्बर 1783 ई. में पेरिस की सन्धि के अनुसार इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य

अमरीका में (13 उपनिवेशों ने अब यह नाम अपना लिया था) शान्ति स्थापित हुई। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं :

(1) इंगलैंड ने संयुक्त राज्य अमरीका की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया।

(2) मिसीसिपी की पश्चिमवर्ती भूमि संयुक्त राज्य के अधिकार में स्वीकार कर ली गयी।

(3) संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने यह स्वीकार किया कि वह अंग्रेज साहूकारों को अमरीका निवासियों से ऋण वसूल करने में बाधाएँ उत्पन्न नहीं करेगी
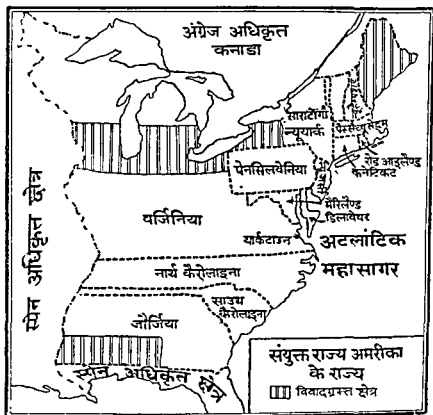
तथा संघर्ष में अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान रहे व्यक्तियों को उनकी सम्पत्ति के बदले में सम्पत्ति देने की सिफारिश अन्य राज्यों से करेगी। किन्तु इन राज्यों ने दोनों बातों को स्वीकार नहीं किया।

इंगलैण्ड ने फ्रांस के साथ वारसाई की सन्धि की, जिसके अनुसार फ्रांस को पश्चिमी द्वीप समूह में टोबेगो, भारत में कुछ व्यापारिक केन्द्र (चन्द्रनगर) तथा कुछ अन्य स्थानों पर द्वीप आदि प्राप्त हुए। लेकिन इस युद्ध से फ्रांस का राजकीय ऋण बहुत बढ़ गया। इंगलैण्ड से स्पेन को फ्लोरिडा प्राप्त हुआ।

समय रेखा

1760
इंग्लैण्ड द्वारा तस्कर व्यापार रोकने का प्रयत्न
ओटिस द्वारा इंग्लैण्ड के अधिकार को चुनौती
1762
सप्त वर्षीय युद्ध का अन्त
1764
चीनी कर लगाया जाना
स्टाम्प ऐक्ट लागू करना
1766
स्टाम्प ऐक्ट का अन्त
नये करों का लगाया जाना
1768
1770
नये करों की समाप्ति
1772
बोस्टन टी पार्टी
1774
फिलाडेल्फिया सम्मेलन
बंकर हिल में अंग्रेजी सेना को भारी क्षति
1776
अमरीका की स्वतंत्रता घोषणा अंग्रेजों का बोस्टन से भागना
अंग्रेजों की सैराटोगा के स्थान पर हार
1778
फिलाडेल्फिया से अंग्रेजों का हटना
1780
अंग्रेजों का यार्कटाऊन के स्थान पर समर्पण
1782
पैरिस की सन्धि पर हस्ताक्षर और अमरीकी स्वतंत्रता को स्वीकार करना
1784
1786
1788
संयुक्त राज्य अमरीका का नया संविधान
1790
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 2 वर्ष

इंगलैण्ड की असफलता के कारण—यह आश्चर्यजनक ही प्रतीत होता है कि इंगलैण्ड, जिसने कुछ वर्षों पहले ही फ्रांस को हराकर कनाडा पर अधिकार स्थापित किया था, अब असंगठित उपनिवेशों के विद्रोह नहीं कुचल सका। इंगलैण्ड के पास साधन अधिक थे और फिर भी वह असफल रहा, इसके कुछ प्रमुख कारण थे :

(1) इंगलैण्ड ने अमरीकी उपनिवेशों की शक्ति को बहुत कम समझा था इसलिए आवश्यक तैयारी नहीं की गयी थी।

(2) जॉर्ज तृतीय युद्ध सम्बन्धी योजनाओं में अधिक हस्तक्षेप करता था और सैनिक अफसरों को कार्य करने की स्वतन्त्रता कम थी।

(3) इंगलैण्ड को युद्ध संचालन 4,800 किलोमीटर दूर करना पड़ता था जहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों से सैनिक भली-भाँति परिचित नहीं थे।

(4) फ्रांस का ठीक मौके पर अमरीका को सैनिक सहायता देना तथा युद्ध में खुले रूप से सम्मिलित होना इंगलैण्ड के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ।

अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम का महत्त्व

पेरिस की सन्धि से न केवल एक नये स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई और इंगलैण्ड के एक साम्राज्य का अन्त हुआ, बल्कि इसके अन्य बहुत-से महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले।

अमरीका में—अमरीका में एक संघीय संविधान की स्थापना हुई जो आरम्भ में तो दुर्बल अवश्य था किन्तु 1789 ई. में एक सबल संघ की स्थापना की गयी जो कालान्तर में प्रभावशाली तथा शक्तिशाली होता गया। यहीं पर सबसे पहला लिखित संविधान बना। युद्ध की आवश्यकता को पूरा करने के लिए स्वतन्त्रता के पश्चात् अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने के लिए अमरीका में शीघ्र औद्योगिक परिवर्तन हुए और इंगलैण्ड का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त हुआ।

यूरोप में—इस स्वतन्त्रता संग्राम का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव फ्रांस पर पड़ा। फ्रांस ने इंगलैण्ड से अपनी पहली पराजय का बदला तो अवश्य ले लिया था लेकिन बहुत बड़ी कीमत चुकाकर। फ्रांस का सरकारी ऋण इतना अधिक बढ़ गया कि राजतन्त्र के विरुद्ध क्रान्ति की आवश्यकता पड़ी। फ्रांस की सरकार के दिवालियापन के लिए बहुत सीमा तक अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त परोक्ष प्रभाव यह भी पड़ा कि फ्रांस के बहुत-से सैनिक अमरीका में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष देख चुके थे इसलिए वे फ्रांस में भी उसी प्रकार स्वतन्त्रता चाहते थे।

इंगलैण्ड पर—इस क्रान्ति का इंगलैण्ड पर भी प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड की औपनिवेशिक नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इन सम्बन्धों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया लेकिन यह नीति केवल उन उपनिवेशों से सम्बन्धित थी जहाँ पर गोरे लोग रहते थे। भारत में जिस उपनिवेश की स्थापना इस समय आरम्भ हुई थी वहाँ पर यह नीति लागू नहीं की गयी थी। दूसरा प्रभाव इंगलैण्ड पर यह पड़ा कि जॉर्ज तृतीय की निरंकुशता समाप्त हो गयी। अमरीकी स्वतन्त्रता

(क) इंग्लैण्ड में स्वतन्त्रता की रक्षा हो
(ख) उपनिवेशों का लाभ हो
(ग) दोनों का लाभ हो
(घ) दोनों में से किसी का लाभ न हो ( )

2. उपनिवेश ने इंग्लैण्ड के अधिकारियों के विरुद्ध न्यायालय की शरण ली, क्योंकि—
(क) सरकारी कर्मचारियों ने पुलिस के साथ उपनिवासियों के घरों की तलाशी ली
(ख) इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट ने 'स्टाम्प एक्ट' पास कर दिया
(ग) इंग्लैण्ड ने अपनी सेनाएँ अमरीका में रख दी
(घ) इंग्लैण्ड की संसद में अमरीका का कोई प्रतिनिधि नहीं था ( )

3. इंग्लैण्ड की सरकार ने 'स्टाम्प एक्ट' वापस ले लिया, क्योंकि—
(क) यह कर लाभदायक नहीं था
(ख) एक्ट में अनेक कमियाँ रह गयी थीं
(ग) अमरीका के निवासियों ने इसका तीव्र विरोध किया
(घ) एक्ट पास करने में अमरीका के लोगों का हाथ नहीं था ( )

4. अमरीकी राष्ट्रवादियों ने इंग्लैण्ड का विरोध करने के लिए कौनसा मार्ग अपनाया ?
(क) अंग्रेजी वस्तुओं के बहिष्कार का
(ख) इंग्लैण्ड की संसद में अपने प्रतिनिधि भेजने का
(ग) नया नेता चुनने का
(घ) सरकार को कर न देने का ( )

5. अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम का जिस देश पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा वह था—
(क) फ्रांस (ख) जर्मनी
(ग) पुर्तगाल (घ) स्पेन ( )

6. फ्रांस में भी अमरीका के प्रभाव के कारण क्रान्ति हो गयी। इस प्रभाव के वाहक थे—
   (क) वे फ्रांसीसी सैनिक जो अमरीका लड़ने गये थे
   (ख) वे विद्वान जिन्होंने अमरीका के विषय में जानकारी दी
   (ग) वे सैनिक जो लुई 16वें से असंतुष्ट थे
   (घ) जनता जो अमरीका जैसा शासन चाहती थी ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5–6 पंक्तियों में लिखिए।

1. 1783 ई. की सन्धि की कोई तीन शर्तें बताइए।
2. अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम में इंगलैण्ड की सफलता के कोई तीन कारण लिखिए।
3. अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम का फ्रांस पर क्या प्रभाव पड़ा ?
4. इंगलैण्ड की नीति में अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम के कारण क्या मुख्य परिवर्तन आये ?
5. बोस्टन टी पार्टी क्या थी ?
6. अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम में हिस्सा लेने से फ्रांस और स्पेन को क्या लाभ हुए ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम के वे आर्थिक और राजनीतिक कारण बताइए जिनके कारण उपनिवेशवासी संघर्ष के लिए तैयार हो गये।
2. अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम का महत्त्व लिखिए।

5

फ्रांस की क्रान्ति (1789-1799 ई.)

17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में रक्तहीन क्रान्ति हुई और 18वीं शताब्दी में अमरीकी उपनिवेशों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया, लेकिन इन दोनों क्रान्तियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण फ्रांस की क्रान्ति थी जो 1789 ई. में आरम्भ हुई। इस क्रान्ति का विश्व के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस क्रान्ति ने न केवल फ्रांस की स्थिति में परिवर्तन किया बल्कि विश्व के अन्य देशों पर कालान्तर में महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाले। यह शायद कुछ आश्चर्यजनक मालूम पड़े कि 1789 ई. में फ्रांस में जनता का कोई प्रभावशाली वर्ग क्रान्ति नहीं चाहता था या यह कहना शायद अधिक उचित होगा कि वहाँ की जनता अथवा कुछ प्रभावशाली वर्ग प्रचलित स्थिति में कुछ सुधार चाहते थे। किन्तु वे सुधार उन व्यक्तियों द्वारा सम्भव नहीं थे जो 1789 ई. में फ्रांस में शक्तिशाली थे। परिणामस्वरूप फ्रांस में क्रान्ति आरम्भ हुई।

निरंकुश राजतन्त्र

यूरोप में 17वीं तथा 18वीं शताब्दी निरंकुश राजतन्त्र की शताब्दियाँ मानी जाती हैं। लेकिन फ्रांस में यह राजतन्त्र निरंकुश होने के साथ-साथ अकुशल भी था। स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के समर्थकों ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि बता रखा था और यह विश्वास साधारण नागरिकों में व्यापक था कि सुख-दुःख का देने वाला राजा ही है। अतः सब हानिकारक अथवा दुखद घटनाओं के लिए राजा को दोषी ठहराया जाता था। अकुशल राजतन्त्र के परिणामस्वरूप राजा के विरुद्ध भावनाएँ यहाँ तक बढ़ी हुई थीं कि यदि कोई पुल टूट जाता अथवा किसी बुढ़िया का पुत्र बीमार हो जाता तो इन कार्यों का दोष भी राजा को दिया जाता था।

फ्रांस में राजा वास्तव में राज्य की समस्त शक्तियों का स्वामी था। वह किसी भी व्यक्ति को बिना अपराध जेल में रख सकता था। ऐसी राजाज्ञाओं द्वारा जेल में रखे गये व्यक्तियों पर वर्षों तक मुकदमा नहीं चलाया जाता था। इन राजाज्ञाओं को 'लेत द काशे' (*Lettres de Cachet*) कहते हैं। राजा प्रेस पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा सकता था। राजतन्त्र की अकुशलता का सबसे बड़ा प्रमाण उसकी असफल विदेश नीति थी। आन्तरिक शासन पद्धति इतनी अकुशल थी कि देश में

6. फ्रास में भी अमरीका के प्रभाव के कारण क्रान्ति हो गयी। इस प्रभाव के वाहक थे—
   (क) वे फ्रांसीसी सैनिक जो अमरीका लड़ने गये थे
   (ख) वे विद्वान जिन्होंने अमरीका के विषय मे जानकारी दी
   (ग) वे सैनिक जो लुई 16वें से असंतुष्ट थे
   (घ) जनता जो अमरीका जैसा शासन चाहती थी ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5-6 पंक्तियों में लिखिए।

1. 1783 ई. की सन्धि की कोई तीन शर्तें बताइए।
2. अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम मे इंगलैण्ड की सफलता के कोई तीन कारण लिखिए।
3. अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम का फ्रास पर क्या प्रभाव पड़ा?
4. इगलैण्ड की नीति मे अमरीका के स्वतन्त्रता सग्राम के कारण क्या मुख्य परिवर्तन आये?
5. बोस्टन टी पार्टी क्या थी?
6. अमरीका के स्वतन्त्रता सग्राम में हिस्सा लेने से फ्रांस और स्पेन को क्या लाभ हुए?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अमरीका के स्वतन्त्रता सग्राम के वे आर्थिक और राजनीतिक कारण बताइए जिनके कारण उपनिवेशवासी संघर्ष के लिए तैयार हो गये।
2. अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम का महत्त्व लिखिए।

5

फ्रांस की क्रान्ति (1789-1799 ई.)

17वी शताब्दी मे इगलैण्ड मे रक्तहीन क्रान्ति हुई और 18वी शताब्दी मे अमरीकी उपनिवेशो ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष किया, लेकिन इन दोनों क्रान्तियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण फ्रास की क्रान्ति थी जो 1789 ई. मे आरम्भ हुई। इस क्रान्ति का विश्व के इतिहास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस क्रान्ति ने न केवल फ्रास की स्थिति मे परिवर्तन किया बल्कि विश्व के अन्य देशो पर कालान्तर मे महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाले। यह शायद कुछ आश्चर्यजनक मालूम पडे कि 1789 ई. मे फ्रास मे जनता का कोई प्रभावशाली वर्ग क्रान्ति नही चाहता था या यह कहना शायद अधिक उचित होगा कि वहाँ की जनता अथवा कुछ प्रभावशाली वर्ग प्रचलित स्थिति मे कुछ सुधार चाहते थे। किन्तु वे सुधार उन व्यक्तियो द्वारा सम्भव नही थे जो 1789 ई. मे फ्रास मे शक्तिशाली थे। परिणामस्वरूप फ्रास मे क्रान्ति आरम्भ हुई।

निरंकुश राजतन्त्र

यूरोप मे 17वी तथा 18वी शताब्दी निरकुश राजतन्त्र की शताब्दियाँ मानी जाती हैं। लेकिन फ्रांस में यह राजतन्त्र निरकुश होने के साथ-साथ अकुशल भी था। स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के समर्थको ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि बता रखा था और यह विश्वास साधारण नागरिको मे व्यापक था कि सुख-दुःख का देने वाला राजा ही है। अत. सब हानिकारक अथवा दुखद घटनाओ के लिए राजा को दोषी ठहराया जाता था। अकुशल राजतन्त्र के परिणामस्वरूप राजा के विरुद्ध भावनाएँ यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि यदि कोई पुल टूट जाता अथवा किसी बुढ़िया का पुत्र बीमार हो जाता तो इन कार्यों का दोष भी राजा को दिया जाता था।

फ्रास में राजा वास्तव मे राज्य की समस्त शक्तियो का स्वामी था। वह किसी भी व्यक्ति को बिना अपराध जेल मे रख सकता था। ऐसी राजाज्ञाओं द्वारा जेल में रखे गये व्यक्तियो पर वर्षों तक मुकदमा नही चलाया जाता था। इन राजाज्ञाओं को 'लेत द काशे' (*Lettres de Cachet*) कहते हैं। राजा प्रेस पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा सकता था। राजतन्त्र की अकुशलता का सबसे बड़ा प्रमाण उसकी असफल विदेश नीति थी। आन्तरिक शासन पद्धति इतनी अकुशल थी कि देश मे

जिनके अनुसार इंग्लैण्ड में बना हुआ सामान फ्रांस में मुक्त रूप से आयात किया जा सकता था। इससे फ्रांस के विभिन्न उद्योगों को भारी क्षति पहुँची और सरकार की लोकप्रियता तथा व्यापारिक नीतियों के प्रति असन्तोष बढ़ता गया।

बौद्धिक कारण

फ्रांसीसी दार्शनिकों का योगदान—फ्रांस के दार्शनिकों का फ्रांस की क्रान्ति में विशेष हाथ था। यह कहना उचित ही होगा कि यदि फ्रांस में दार्शनिक न होते तो शायद वहाँ क्रान्ति का आरम्भ न होता, यद्यपि इनका प्रभाव परोक्ष रूप से था। इन दार्शनिकों ने जनता के दुख को सुनकर प्रकट किया। उन्होंने क्रान्ति का प्रचार नहीं किया था लेकिन उस समय की राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक स्थिति के खोखलेपन को स्पष्ट किया था और तत्कालीन स्थिति के प्रति आस्था समाप्त करदी थी। पादरियों, कुलीनों के विशेषाधिकार पर आक्षेप लगाये थे और निरंकुश शासन के विरुद्ध भावनाओं को स्पष्ट किया था। इन दार्शनिकों में निम्न का मुख्य योगदान था।

मोण्टेस्क्यू (1689-1755 ई.)—मोण्टेस्क्यू पर इंगलैण्ड के दार्शनिक 'लॉक' तथा अंग्रेजी शासन प्रणाली का काफी प्रभाव था। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'स्प्रिट ऑव दी लॉज़' है। उसका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है इसलिए आवश्यक है कि उस पर विभिन्न नियन्त्रण लगाये जायें। राज्य की शक्तियों का भी इसीलिए विभाजन आवश्यक है कि साधारण जनता के अधिकारों की सुरक्षा व्यवस्थित रह सके, व्यवस्थापिका और न्याय सम्बन्धी अधिकार पृथक-पृथक संस्थाओं और व्यक्तियों में निहित होने चाहिए, कार्यकारिणी का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। यह तर्क निरंकुश राजतन्त्र के लिए काफी हानिकारक था। इसी के साथ-साथ उसने यह भी कहा कि फ्रांस जैसे देश के लिए सीमित राजतन्त्र ही उचित व्यवस्था है। मोण्टेस्क्यू के सिद्धान्तों ने फ्रांस के प्रथम लिखित संविधान को अत्यधिक प्रभावित किया था।

वालतेयर (1694-1778 ई.)—वालतेयर ने फ्रांस में मानसिक क्रान्ति पैदा करने में महत्वपूर्ण कार्य किया। उसको अपने विचारों के कारण बहुत समय तक फ्रांस के बाहर रहना पड़ा। वह लगभग पचास वर्षों तक फ्रांस में अपनी कविता, कहानियों, व्यंग्य नाटक, निबन्ध आदि द्वारा चर्च तथा पादरी वर्ग की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाता रहा। वह लोगों में प्रचलित चर्च की आस्था को भयंकर आघात पहुँचाया करता था। उसका कहना था कि चर्च का नियन्त्रण अज्ञान और अन्धविश्वास पर आधारित है। उसका स्पष्ट नारा था—'भ्रष्ट गिरजे को नष्ट कर दो'। उसके कटाक्ष ऐसे उपहासपूर्ण होते थे कि उनका जवाब नहीं दिया जा सकता था लेकिन वह प्रजातन्त्र का समर्थक नहीं था।

रूसो (*1722-1778 ई.*)—18वीं शताब्दी के महान दार्शनिकों में रूसो की गणना होती है। समाज में प्रचलित असमानता और अशान्ति को क्रान्ति के निकट ले जाने में रूसो का सबसे अधिक हाथ था। उसके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—असमानता

को करों के रूप में देना था। धनी वर्ग राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधार सकते थे लेकिन ये करों से मुक्त थे।

आय कम, खर्च अधिक होना—फ्रांस में आय तथा खर्च का कोई नियमित हिसाब नहीं रखा जाता था। बजट शब्द का प्रयोग भी उस समय फ्रांस में नहीं होता था। राजा के व्यक्तिगत और राजकीय खर्च में कोई अन्तर नहीं था। लुई 16वाँ तथा उसकी रानी 'मेरी' आतवाने अत्यन्त खर्चीले स्वभाव के थे। आमदनी से अधिक खर्च होता था और इसलिए खर्च के लिए धन का अभाव रहता था। अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के पश्चात् आर्थिक स्थिति और खराब हो गयी थी। इस युद्ध के कारण 120 करोड़ का ऋण लेना पड़ा था। राज्य परिवार का खर्च चलाने के लिए ऋण लिया जाता था। 1789 ई. में यह ऋण 446 करोड़ 60 लाख था। यह राशि इतनी अधिक थी कि इसका ब्याज ही राज्य की वार्षिक आय से अधिक होता था।

यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि फ्रांस सरकार के दिवालिया होने से यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि फ्रांस की आर्थिक दशा खराब थी। एक राष्ट्र के रूप में फ्रांस सम्पन्न तथा धनी था। फ्रांस के कृषक भी दक्षिणी जर्मनी, पोलैण्ड और कहीं-कहीं इगलैण्ड के कृषकों से भी अच्छी दशा में थे। फ्रांस का विदेशी व्यापार 1789 ई. में अत्यन्त प्रगति पर था। यह ठीक है कि पेरिस में श्रमिकों तथा निम्न श्रेणी के सदस्यों की आर्थिक दशा खराब थी लेकिन क्रान्ति का आरम्भ करने में उनका हाथ कम था बल्कि धनी मध्यम वर्ग का अधिक था।

कर वसूल करने की पद्धति दोषपूर्ण होना—राजतन्त्र की करों की वसूली ठीक समय पर होती रहे, इसके लिए परोक्ष करों को वसूल करने का ठेका दे दिया जाता था। यह ठेका पूंजीपतियों को ही दिया जा सकता था जो अपनी ओर से राज्यकोष में धन जमा करा देते थे। ठेका लेने वाले पूंजीपति 'टैक्स फार्मर' कहलाते थे। ये अधिकारी राज्य को दी जाने वाली निश्चित धनराशि से अधिक जितना वसूल करते थे वह अपने पास रख लेते थे। बहुधा ये 'टैक्स फार्मर' स्वयं प्रत्येक कर से मुक्त होते थे। इस प्रकार राज्य के सभी धनी वर्ग करों के बोझ से मुक्त हो जाते थे। कुछ स्थानों पर राज्य के कर्मचारी टैक्स वसूल करते समय ही अपना वेतन काटकर शेष धन राज्यकोष में भेजते थे। बहुधा यह भी होता था कि राज्य का खर्च चलाने के लिए अगले वर्षों का टैक्स भी पहले से वसूल कर लिया जाता था।

व्यापार में विभिन्न बाधाएँ—आर्थिक कारणों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण फ्रांस में एक नये सम्पन्न व्यापारी वर्ग का विकास था। यह सम्पन्न व्यापारी तथा मध्यम वर्ग राज्य की व्यापारिक तथा प्रशासकीय नीतियों से असन्तुष्ट था। राज्य के कुछ कार्यों—जैसे, व्यापारियों पर विभिन्न स्थानों से कच्चा माल खरीदने पर प्रतिबन्ध, वस्तुओं के मूल्य पर रोकथाम तथा शिल्पियों के वेतन निर्धारण आदि पर आपत्ति उठायी जाती थी। 1786-87 ई. में फ्रांस ने इगलैण्ड के साथ एक व्यापारिक समझौता किया

जिसके अनुसार इंगलैण्ड में बना हुआ सामान फ्रास में मुक्त रूप से आयात किया जा सकता था। इससे फ्रांस के विभिन्न उद्योगों को भारी क्षति पहुँची और सरकार की आर्थिक तथा व्यापारिक नीतियों के प्रति असंतोष बढ़ता गया।

बौद्धिक कारण

फ्रांसीसी दार्शनिकों का योगदान—फ्रांस के दार्शनिकों का फ्रांस की क्रान्ति में विशेष हाथ था। यह कहना उचित ही होगा कि यदि फ्रांस में दार्शनिक न होते तो शायद वहाँ क्रान्ति का आरम्भ न होता, यद्यपि इनका प्रभाव परोक्ष रूप से था। इन दार्शनिकों ने जनता के दुख को खुलकर प्रकट किया। उन्होंने क्रान्ति का प्रचार नहीं किया था लेकिन उस समय की राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक स्थिति के खोखलेपन को स्पष्ट किया था और तत्कालीन स्थिति के प्रति आस्था समाप्त करदी थी। पादरियों, कुलीनों के विशेषाधिकार पर आक्षेप लगाये थे और निरंकुश शासन के विरुद्ध भावनाओं को स्पष्ट किया था। इन दार्शनिकों में निम्न का मुख्य योगदान था।

मौण्टेस्क्यू (1689-1755 ई)—मौण्टेस्क्यू पर इगलैण्ड के दार्शनिक 'लॉक' तथा अंग्रेजी प्रशासन प्रणाली का काफी प्रभाव था। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'स्प्रिट ऑव दी लॉज' है। उसका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है इसलिए आवश्यक है कि उस पर विभिन्न नियन्त्रण लगाये जायें। राज्य की शक्तियों का भी इसीलिए विभाजन आवश्यक है कि साधारण जनता के अधिकारों की सुरक्षा व्यवस्थित रह सके, व्यवस्थापिका और न्याय सम्बन्धी अधिकार पृथक-पृथक संस्थाओं और व्यक्तियों में निहित होने चाहिए, कार्यकारिणी का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। यह तर्क निरंकुश राजतन्त्र के लिए काफी हानिकारक था। इसी के साथ-साथ उसने यह भी कहा कि फ्रांस जैसे देश के लिए सीमित राजतन्त्र ही उचित व्यवस्था है। मौण्टेस्क्यू के सिद्धान्तों ने फ्रास के प्रथम लिखित संविधान को अत्यधिक प्रभावित किया था।

वालतेयर (1694-1778 ई)—वालतेयर ने फ्रास में मानसिक क्रान्ति पैदा करने में महत्वपूर्ण कार्य किया। उसको अपने विचारों के कारण बहुत समय तक फ्रास के बाहर रहना पड़ा। वह लगभग पचास वर्षों तक फ्रास में अपनी कविता, कहानियों, व्यग्य नाटक, निबन्ध आदि द्वारा चर्च तथा पादरी वर्ग की प्रतिष्ठा को आघात पहुचाता रहा। वह लोगों में प्रचलित चर्च की आस्था को भयंकर आघात पहुँचाया करता था। उसका कहना था कि चर्च का नियन्त्रण अज्ञान और अन्धविश्वास पर आधारित है। उसका स्पष्ट नारा था—'भ्रष्ट गिरजे को नष्ट कर दो'। उसके दृष्टांत ऐसे उपहासपूर्ण होते थे कि उनका जवाब नहीं दिया जा सकता था लेकिन वह प्रजातन्त्र का समर्थक नहीं था।

रूसो (1722-1778 ई.)—18वीं शताब्दी के महान दार्शनिकों में रूसो की गणना होती है। समाज में प्रचलित असमानता और अशान्ति को क्रान्ति के निकट ले जाने में रूसो का सबसे अधिक हाथ था। उसके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—असमानता

का आरम्भ' (1755 ई.) और 'सोशल कान्ट्रैक्ट' (1762 ई.)। दूसरे ग्रन्थ को तो 'क्रान्ति की बाइबिल' कहा जाता है, और रूसो को क्रान्ति का जन्मदाता कहा जाता है। रूसो के विचार अपने समय के प्रचलित विचारों से भिन्न थे। वह प्रजातन्त्र का समर्थक था। उसका प्रमुख विचार था कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है लेकिन वह तुरन्त ही समाज के धर्म के और अन्य बन्धनों में बाँध दिया जाता है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात उसने यह कही थी कि 'सरकार का गठन मनुष्यों की इच्छा पर तथा उनकी सुविधा के लिए हुआ है। सरकार के समस्त अधिकार उसको जनता द्वारा दिये गये हैं। यदि सरकार अन्यायपूर्ण कार्य करे तो जनता को अधिकार है कि वह उसे बदल सके।' इस प्रकार उसने लोगों को एक नये विश्व का रास्ता दिखाया। रूसो का फ्रांस की क्रान्ति में जबरदस्त हाथ था।

दार्शनिकों का प्रभाव—इन दार्शनिकों ने जनता के शिक्षित तथा मध्यम वर्ग को प्रचलित स्थिति के दोष बताकर पुरानी परिपाटी की जड़ें हिला दीं। इन दार्शनिकों के विचारों पर क्लबों में, होटलों में, चाय की दुकानों पर चर्चा होती थी। दार्शनिकों ने क्रान्ति का आरम्भ भले ही न करवाया हो लेकिन उन्होंने धर्म के प्रति श्रद्धा और राजा के प्रति सम्मान की भावना को ठेस अवश्य पहुँचाई थी। एक बार आरम्भ हो जाने के पश्चात् किस प्रकार नयी व्यवस्था का गठन किया जाय इस विषय में अवश्य मार्ग-दर्शन इन दार्शनिकों के लेखों द्वारा ही हुआ था।

अमरीकी क्रान्ति का प्रभाव—निरंकुश राजतन्त्र की सत्ता अधिकांशतः सैनिक प्रशासन पर ही निर्भर रहती थी। सेना में कुछ असन्तोष पहले से चला आ रहा था और फ्रांस के सिपाहियों में भी अब रूसो और वाल्तेयर के विचारों की चर्चा होने लगी थी। लेकिन अमरीकी क्रान्ति ने फ्रांसीसी सैनिकों में स्वतन्त्रता और समानता के लिए संघर्ष की भावना पैदा की और 1783 ई. के पश्चात् सैनिक अधिकारी तथा कर्मचारी फ्रांस की सेना में भी स्वतन्त्रता और समानता की भावना जागृत करने में सहायक हुए।

तत्कालिक कारण—जितने कारण ऊपर बताये गये हैं वे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते थे कि फ्रांस में 1789 ई. में क्रान्ति क्यों आरम्भ हुई। ये सब कारण 18वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में प्रचलित थे। लेकिन दो कारण ऐसे हुए जो फ्रांस को क्रांति के निकट पहुँचाने में सहायक हुए। पहला कारण था राजा की दुर्बलता और दूसरा कारण था राज्य की आर्थिक स्थिति का संकटपूर्ण होना।

1. **लुई 16वें का दुर्बल होना**—जिस समय लुई 16वाँ गद्दी पर बैठा था उसकी आयु 20 वर्ष की थी। वह अनुभवहीन था और सदा ही किसी न किसी के प्रभाव में रहा था—पहले अपनी माता और भाई के, और बाद में अपनी पत्नी मेरी आन्तवाने के। निस्सन्देह वह ईमानदार तथा सहृदय व्यक्ति था, लेकिन वह कर्मठ नहीं था और दृढ़ता से किसी नीति पर कार्य नहीं कर सकता था। उसको शिकार खेलने अथवा संगीत का शौक था। उसकी पत्नी आन्तवाने आस्ट्रिया के सम्राट ल्योपोल्ड की

मेरी आन्तवाने

करना था। [illegible] थी। वह राजनीति में अधिक रुचि [illegible] थी। लेकिन फ्रांस- [illegible] में उसने [illegible]। [illegible] राजनीतिक स्थिति [illegible]।

लुई 16वें ने आरम्भ में तुर्गो (Turgot) को अपना मन्त्री नियुक्त किया जिससे वह आर्थिक स्थिति को सुधार सके। जनता ने इस नियुक्ति का स्वागत किया। तुर्गो ने अनुपयोगी पदों को समाप्त करना चाहा था तथा मितव्ययता के आधार पर राज्य की आर्थिक दशा को सुधारना चाहा था। उसने अनाज के व्यापार से सब प्रतिबन्ध हटाने का भी प्रस्ताव किया। लेकिन जैसे ही तुर्गो ने कुछ निश्चित सुधार सुझाये, उसको पद से हटा दिया गया। उसका पद से हटाया जाना वाल्तेयर की दृष्टि में भयंकर भूल थी। तुर्गो ने स्वयं अपने हटने पर कहा था कि दुर्बलता के कारण ही चार्ल्स प्रथम को इंगलैण्ड में फाँसी मिली थी। तुर्गो स्वयं जीवित नहीं था जब उसकी भविष्यवाणी सही हुई थी।

2 **राज्य सरकार की आर्थिक स्थिति खराब होना**—यह ही तात्कालिक कारण था जिससे फ्रांस में व्याप्त असन्तोष एक क्रान्ति के रूप में परिवर्तित हुआ। तुर्गो के हटा दिये जाने के पश्चात् नैकर को मन्त्री नियुक्त किया गया। उसके समय में फ्रांस ने अमरीकी स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया जिससे ऋण बहुत अधिक बढ़ गया। 1781 ई. में नैकर ने जनता के असन्तोष को दूर करने के लिए एक वित्त रिपोर्ट प्रकाशित की। यह रिपोर्ट पूर्णतया झूठी थी और इसका अभिप्राय जनता का विश्वास प्राप्त करना था। लेकिन वह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त न कर सका और उसको पद से हटा दिया गया।

1781-83 ई. में मेरी आन्तवाने ने स्वयं वित्त प्रशासन का भार सँभाला और असफल रहने पर कोलोन नामक व्यक्ति को वित्त विभाग सौंपा गया। उसने राज्य के खर्चे में वृद्धि की और राज्य को दिवालियापन के बिलकुल निकट लाकर खड़ा कर दिया। 1787 ई. में राजा को उसने यह स्पष्ट सलाह दी कि राज्य में अधिक कर लगाने के लिए कौंसिल आव नोटेबल्स (Council of Notables) का अधिवेशन बुलाया जाय। लेकिन इस अधिवेशन से भी समस्या का हल नहीं निकला क्योंकि इस सभा ने टैक्स लगाने के किसी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। कोलोन को मन्त्री पद से हटा दिया गया और नये मन्त्री ने स्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाने की सलाह दी।

स्टेट्स जनरल का अधिवेशन (1789 ई.)

स्टेट्स जनरल फ्रांस की वह सामन्तीय सभा थी जिसमें समाज के तीनों वर्गों

के प्रतिनिधि होते थे तथा ये तीन सदनों में पृथक्-पृथक् विचार-विमर्श करते थे। इस सभा का पिछले 175 वर्षों से अधिवेशन नहीं बुलाया गया था और बहुत-से लोगों को इसका कोई ज्ञान न था। यह सभा पहले ही शक्तिहीन थी और इसका कार्य राजा से केवल प्रार्थना करना होता था। इस सभा के माध्यम से फ्रांस के विभिन्न वर्गों के लोग अपने विचार प्रकट कर सकते थे। 1788 ई. की ग्रीष्म ऋतु में लुई ने स्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाये जाने की अनुमति दे दी। यह अधिवेशन पहले 1 मई 1789 ई. को बुलाया गया था। लुई 16वें की इस घोषणा से उसकी लोकप्रियता बढ़ी और यह आशा उत्पन्न हुई कि फ्रांस में अब उदार प्रशासन की स्थापना हो सकेगी।

इस घोषणा के प्रकाशित होते ही तृतीय वर्ग के नेताओं ने अपने विचार बहुत अधिक वेग से प्रकाशित करने आरम्भ किये और यह माँग रखी कि तृतीय वर्ग के प्रतिनिधियों की संख्या पहले दोनों वर्गों के सदस्यों की संख्या के बराबर होनी चाहिए और यह माँग भी प्रस्तुत की गयी कि तीनों सदनों के सदस्य एक स्थान पर विचार-विमर्श करें जिससे व्यक्तिगत बहुमत के आधार पर निर्णय हो सके। राजा ने तृतीय वर्ग के प्रतिनिधियों की संख्या दुगनी कर दी और दूसरे प्रश्न पर कोई स्पष्ट निर्णय नहीं दिया। तृतीय श्रेणी के प्रतिनिधियों ने उसका उत्तर भी अपने पक्ष में ही समझा क्योंकि उसके बिना प्रतिनिधियों की संख्या का बढ़ाया जाना निरर्थक था।

1788 ई. के जाड़ों में राजनीतिक तनाव बढ़ता गया। साथ ही उस वर्ष सूखा और ओलों की वर्षा से फसल खराब हो गयी और गरीब वर्ग की आर्थिक कठिनाइयाँ अधिक बढ़ गयी थीं। इससे वातावरण में अधिक तनाव आ गया था। तृतीय श्रेणी के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष होता था। जनता द्वारा दिये गये शिकायत पत्रों में किसी राजनीतिक क्रान्ति की बात ही नहीं कही गयी थी, केवल समान करों की माँग की गयी थी और कुछ स्वतन्त्रता तथा बिना अपराध जेल में बन्द किये जाने से मुक्ति चाही थी। सामन्तों के कुछ शिकायत पत्रों में भी समान करों की बात कही गयी थी। सब वर्ग ही निरंकुश राजतन्त्र विरोधी थे।

नेशनल असेम्बली की घोषणा—5 मई, 1789 ई. को लुई 16वें ने स्टेट्स जनरल के अधिवेशन के सम्मुख भाषण दिया। लेकिन तृतीय श्रेणी के प्रतिनिधियों ने मौलिक प्रश्न उठाया कि तीनों सदनों की बैठक सामूहिक तथा सम्मिलित रूप से होनी चाहिए, यदि ऐसा न हुआ तब उनकी संख्या दोगुनी होने से भी कोई लाभ नहीं होगा। तृतीय वर्ग के सदस्य अब पहले जैसे नहीं थे। इस श्रेणी के 90% सदस्य शिक्षित, सम्पन्न और प्रभावशाली व्यक्ति थे। उन्होंने अन्य दोनों सदनों को एक ही स्थान पर बैठकर विचार-विमर्श करने का निमन्त्रण भेजा। किन्तु लुई ने इस प्रश्न को हल नहीं किया अतः तृतीय वर्ग ने 17 जून, 1789 ई. को अपने आपको राष्ट्रीय असेम्बली घोषित कर दिया। यह उपाधि स्टेट्स जनरल को प्राप्त होती थी। अब तृतीय श्रेणी के प्रतिनिधियों ने स्वय को समस्त स्टेट्स जनरल के कार्य करने के योग्य

समझा। कुछ सदस्य प्रथम तथा द्वितीय वर्गों से भी उठकर तृतीय वर्ग के साथ बैठक में सम्मिलित हो गये थे।

20 जून, 1789 ई. को बारिश में भीगते हुए जब राष्ट्रीय असेम्बली के सदस्य अपने निश्चित भवन में पहुँचे तो उन्हें उस सदन पर ताला लगा हुआ मिला और साथ ही राजा का यह आदेश भी कि सदन अपने अधिवेशन स्थगित करे। तृतीय श्रेणी के सदस्यों ने पास ही के एक टेनिस कोर्ट भवन में जाकर शपथ ली कि जब तक वे अपना कार्य पूरा न कर लेंगे तब तक किसी की भी आज्ञा से वे अपनी सभा भंग नहीं करेंगे। इस प्रकार राष्ट्रीय सभा ने न केवल स्टेट्स जनरल के अधिकारों को छीन लिया था बल्कि राजाज्ञा का भी उल्लंघन किया था। क्रान्ति आरम्भ हो चुकी थी।

लुई का समर्पण—लुई 16वें ने 23 जून को स्टेट्स जनरल के अधिवेशन में अन्तिम बार भाषण दिया और तीनों सदनों को अलग-अलग विचार-विमर्श करने का आदेश दिया। लेकिन लुई के जाते ही कुछ सिपाहियों ने तृतीय श्रेणी के सदस्यों को चले जाने के लिए कहा और उस समय **मीराबो** ने (जो एक प्रभावशाली नेता था) सिपाहियों को कहा कि यदि उन्हें सदस्यों के हटाने का आदेश दिया गया है तो वे बलपूर्वक उन्हें हटा दें किन्तु **बेली** ने (जो राष्ट्रसभा का अध्यक्ष था) कहा कि जब राष्ट्र एवं सदन में सम्मिलित हो तो उसे कोई आदेश नहीं दे सकता था। लुई को विवश होकर अपनी आज्ञाओं की अवहेलना सहन करनी पड़ी। 27 जून को राजा ने सामन्तों तथा पादरियों को राष्ट्रीय सभा में जाकर सम्मिलित होने का आदेश दिया।

उसी दिन आर्थर यंग (तत्कालीन पर्यटक) ने लिखा कि क्रान्ति पूर्ण हो चुकी थी। 30 जून, 1789 ई. को पादरी तथा सामन्त पूर्ण नीरवता के वातावरण में राष्ट्रीय असेम्बली में सम्मिलित हो गये। इतनी शीघ्रता से पुराना ढाँचा क्रम में खण्डित हो जायेगा इसकी किसी को आशा भी नहीं थी। वास्तव में यह क्रान्ति का आगमन था।

बास्तील का पतन—14 जुलाई, 1789 ई. को एक ओर राष्ट्रीय सभा संवैधानिक ढंग से राष्ट्रीय समस्याओं का हल ढूढ़ रही थी, दूसरी ओर पेरिस की जनता को राजतन्त्र के विरुद्ध भड़काया जा रहा था। 14 जुलाई, 1789 ई. को पेरिस की कुछ भीड़ बास्तील के दुर्ग पर धावा बोलने के लिए चल पड़ी। बास्तील में 'लैत्र दा काशे' द्वारा पकड़े हुए व्यक्तियों को रखा जाता था। इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया, बन्दियों को मुक्त कर दिया गया और दुर्ग के पत्थरों को स्मारक के रूप में लोग उठाकर ले गये अथवा सड़कों पर बिछा दिये। बास्तील—निरंकुश राजतन्त्र का प्रतीक—अब खण्डित हो चुका था।

राष्ट्रीय सभा के सुधार

अगस्त 1789 ई. में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं—(1) 4 अगस्त को सामन्त प्रथा का अन्त कर दिया गया। इस प्रथा को समाप्त करने में स्वयं सामन्तों ने ही पहल की थी। इसी अधिवेशन में विभिन्न कर तथा सामन्तीय विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया गया और इस प्रकार 5 अगस्त की सुबह तक एक नये फ्रांस का

आरम्भ हो चुका था। 4 अगस्त को सामन्तीय अधिकारों को समाप्त करने के पश्चात् यह आवश्यक हुआ कि मनुष्य के मानवीय अधिकारों की घोषणा कर दी जाए और 27 अगस्त, 1789 ई. को मनुष्य के मौलिक अधिकारों की घोषणा भी कर दी गयी जिसमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव आदि की बात कही गयी थी। इन्हीं तीनों बातों को लिखते हुए इसे दिखाया गया था। धार्मिक स्वतन्त्रता, भाषण की स्वतन्त्रता आदि अधिकार भी जनसाधारण को दे दिये गए।

फ्रांस की क्रान्ति के समय क्रान्तिकारियों द्वारा अपनाया गया चिह्न जिसमें तिरंगा झण्डा, ढोल रखने के चूनी के कुछ निशानियों को दर्शाया गया इत्यादि वर्ग के साथ उनकी राष्ट्रीयता आदि का समावेश किया गया है, जो क्रान्ति के उद्देश्यों के प्रतीक थे
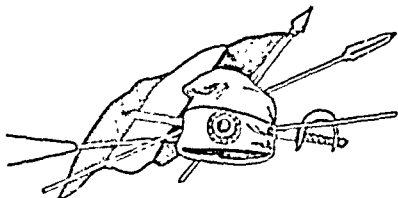
धर्म पर लौकिक नियन्त्रण—सामन्तीय व्यवस्था तथा निरंकुश राजतन्त्र को समाप्त करने के पश्चात् अब चर्च का नम्बर था। समानता के लिए उसके विशेषाधिकारों को समाप्त करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त राज्य की कुछ आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए इसी चर्च पर नियन्त्रण करना आवश्यक था। 2 नवम्बर, 1789 ई. में चर्च भूमि को चर्च से छीन लिया गया और इस भूमि को प्रतिभूति मानकर एक नयी प्रतीक मुद्रा (पत्र मुद्रा) का चलन किया। इस मुद्रा को ऐसाइनेट्स कहते थे। फरवरी 1790 ई. में मठों को सहसा भंग कर दी गयी और एक प्रान्त में अब केवल एक मठ ही रहने दिया गया। अप्रैल 1790 ई. में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गयी और जुलाई 1790 ई. में चर्च के अधिकारियों का निर्वाचन आरम्भ कर दिया गया। वे अब राजकीय कर्मचारी बन गये और उन्हें राज्य की ओर से वेतन दिया जाने लगा।

नये संविधान का निर्माण : 1791 ई.

राष्ट्रीय असेम्बली ने देश के लिए एक नया संविधान बनाने का कार्य 1791 ई. में पूरा किया। इस संविधान के निर्माण में पूंजी वाले मध्यम वर्ग का प्रभाव दिखायी पड़ता था। इसका लक्ष्य एक सीमित राजतन्त्र की स्थापना था तथा शक्ति

विभाजन के स्थान पर प्रान्त के विभिन्न भागों का गठन था। फ्रांस को 83 भागों में बाँट दिया गया। राज्य के मन्त्रियों को व्यवस्थापिका सभा में बैठने नहीं दिया गया। व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये नियमों पर राजा को हस्ताक्षर करने ही पड़ते थे। वह यदि चाहे तो कुछ विलम्ब अवश्य कर सकता था। व्यवस्थापिका के सदस्यों का निर्वाचन केवल दो वर्ष के लिए ही किया गया। न्यायालय के प्रशासन में भी सुधार किया गया। निर्वाचित जजों की नियुक्ति की गयी। ज्यूरी प्रबन्ध को सस्ता बना दिया गया और यह सुविधा दी गयी कि एक जिले का जज दूसरे जजों के निर्णय पर पुन विचार कर सकता था। पेरिस में एक उच्च न्यायालय स्थापित किया गया।

राष्ट्रीय सभा के कार्य का मूल्यांकन—राष्ट्रीय सभा ने यह सब कार्य दो वर्षों के भीतर ही कर दिये जो अन्य देशों में शताब्दियों में हुए थे। पुरानी व्यवस्था को समाप्त करने में इस सभा का कार्य बहुत सराहनीय था। सब अधिकारों तथा शक्तियों को जनता में निहित रखा गया था। राष्ट्रीय सभा के विभिन्न कार्यों का प्रभाव बहुत सराहनीय था। सब अधिकारों तथा शक्तियों को जनता में निहित रखा गया था। राष्ट्रीय सभा के विभिन्न कार्यों के प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण रहे। इतने महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के परिणाम भी जटिल हुए जिनके कारण बाह्य तथा आन्तरिक समस्याओं की बढ़ोत्तरी हुई। दो वर्षों की अल्प अवधि में पुरातन व्यवस्था को समाप्त करना, नयी व्यवस्था के आगमन की पृष्ठभूमि थी। अपना अधिवेशन समाप्त करते समय इस सभा ने प्रतिनिषेधात्मक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार उसके सदस्यों ने व्यवस्थापिका सभा के लिए निर्वाचन में भाग नहीं लिया। इससे क्रान्ति का नेतृत्व अनुभवहीन नवयुवकों के हाथ में चला गया।

फ्रांस का यूरोप के साथ संघर्ष (1790-92 ई.)

संघर्ष के कारण—फ्रांस की क्रान्ति केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रही और केवल फ्रांस में प्रचलित पुरानी व्यवस्था ने इसका विरोध नहीं किया बल्कि शीघ्र ही इसे यूरोप के अन्य देशों के साथ संघर्ष में उलझना पड़ा। व्यवस्थापिका सभा के सदस्य अपेक्षाकृत उग्र विचारों वाले थे और वे गणतन्त्र स्थापित करना चाहते थे। विदेशों से युद्ध के निम्नलिखित कारण थे

(1) फ्रांस में सामन्त प्रथा के समाप्त हो जाने से बहुत-से सामन्त फ्रांस से बाहर चले गये थे किन्तु वे निरन्तर इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि किसी प्रकार विदेशी सहायता से फ्रांस पर आक्रमण कर सकें और अपने अधिकारों को पुन. प्राप्त कर सकें। कुछ जर्मन सामन्तों की भी जागीरें फ्रांस में थीं जो अब समाप्त हो चुकी थीं। उन्होंने फ्रांस से क्षतिपूर्ति के लिए कहा लेकिन फ्रांस ने इनकार कर दिया और इस प्रकार फ्रांस के प्रवासी सामन्त तथा कुछ जर्मन सामन्त एक साथ हो गये।

(2) लुई 16वें की पत्नी आस्ट्रिया के सम्राट की बहिन थी। वह अपने पक्ष के लिए विदेशी सैनिक सहायता लेना चाहती थी। लुई स्वयं निश्चयहीन था, इसलिए वह अपनी पत्नी के कहने में आ गया। लुई के विदेशी सैनिक सहायता लेने से

लुई विरोधी तत्वों को प्रोत्साहन मिला। आस्ट्रिया का राजवंश यह सहन नहीं कर सकता था कि फ्रांस के राजा पर कोई आपत्ति आये और उसकी सहायता न की जाये। आस्ट्रिया की सहायता करने मे बाह्य हस्तक्षेप ने आक्रमण का रूप धारण कर लिया।

(3) क्रान्तिकारियों का यह अनुमान था कि यह क्रान्ति बिना अन्य देशों में फैले हुए स्थायी न हो सकेगी। व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों ने राजनीतिक सिद्धान्तों को एक दृढ़-शक्ति का रूप प्रदान किया। उन्होंने फ्रास की जनता की समस्या को सब राज्यों की समस्या बना दिया और अन्य देशों की जनता को इस बात के लिए उकसाया कि वह भी अपने राज्य में स्थापित सामन्तीय व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन कर दे।

संघर्ष का आरम्भ—जून 1791 ई. मे लुई तथा मेरी आन्तवाने पेरिस से भेष बदलकर भागते हुए पकड़े गये और उन्हें अपराधियों की भाँति रहने पर बाध्य किया गया। जुलाई मे आस्ट्रिया के सम्राट ने यूरोप के अन्य सम्राटों से फ्रास के सम्राट का समर्थन करने को पत्र द्वारा अनुरोध किया। कोई समर्थन न मिलने पर भी 17 अगस्त, 1792 को पिलनिज की घोषणा की, जिसमे उपरोक्त बात का समर्थन किया गया, लेकिन आस्ट्रिया का सम्राट अभी युद्ध के लिए तैयार न था। जनवरी 1792 ई. मे आस्ट्रिया से यह आश्वासन माँगा गया कि वह फ्रांस विरोधी सभी सन्धियों को समाप्त कर देगा। इस आश्वासन के अस्वीकृत हो जाने पर 20 अप्रैल, 1792 ई. को फ्रास ने युद्ध की घोषणा करदी।

लुई 16वे की पत्नी मेरी आन्तवाने द्वारा फ्रास की सेनाओं की सब योजनाएँ शत्रुओं को बता दी जाती थी और परिणामस्वरूप अगले कुछ वर्षों में फ्रास की सेनाएँ बुरी तरह पराजित हुई। फ्रांसीसी सैनिकों को हारते हुए देखकर आस्ट्रिया के सिपाही उनका मजाक उड़ाते थे। जुलाई 1792 ई. आस्ट्रिया, प्रशा के सेनाध्यक्ष ब्रॅजविक ने फ्रास के क्रान्तिकारियों को कडी से कडी सजा देने की धमकी दी। 2 सितम्बर, 1792 ई. को आस्ट्रिया की सेनाएँ पेरिस के बहुत निकट पहुँच गयी। तभी फ्रास की सेनाओं का पुनर्गठन किया गया और फ्रांस को गणतन्त्र घोषित कर दिया गया और राजा को निलम्बित कर दिया गया। इसी बीच पेरिस मे कत्लेआम शुरू कर दिया गया ताकि गणतन्त्र के शत्रुओं का नाश किया जा सके।

वामी का युद्ध—20 सितम्बर, 1792 ई. मे विदेशी सेनाओं का पेरिस मे प्रवेश रोकने के लिए कुछ सेना सगठित की गयी और 20 सितम्बर को वामी नामक स्थान पर युद्ध हुआ। यह युद्ध भमकर नहीं था और प्रशा की सेनाएँ सफलता प्राप्त नही कर सकी। प्रशा की सेनाओं को पीछे हटना पडा। लेकिन इस सघर्ष का परिणाम फ्रास की क्रान्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। इस सफलता से यह भय समाप्त हो गया कि क्रान्ति को समाप्त किया जा सकेगा। इससे फ्रास की सेनाओं को वह साहस प्राप्त हुआ जिससे वे आने वाले वर्षों मे यूरोप के अन्य देशों से युद्ध करती रही।

उग्र क्रान्ति का विकास (1792-94 ई.)—राजा के निलम्बित किये जाने के पश्चात् फ्रांस के सब वयस्क पुरुषों को मताधिकार देकर राष्ट्रीय कन्वेन्शन का चुनाव किया गया और क्रान्ति का नेतृत्व उग्र विचार के समर्थकों के हाथ में चला गया। पिछले सभी दलों की व्यवस्थाओं से देश की साधारण जनता को विशेष लाभ नहीं हुआ था। इसलिए अब क्रान्ति का नेतृत्व मध्यम वर्ग के सम्पन्न नेताओं के हाथ में न होकर साधारण वर्ग के हाथों में पहुँच गया। इस समय के प्रमुख नेता थे—दान्तों, मारों और रोबेस्पियर। ये तीनों नेता राजतन्त्र को समाप्त कर देना चाहते थे और फ्रांस को गणतन्त्र बनाना चाहते थे।

दान्तों—यह जेकोबिन दल का एक प्रमुख नेता था। वह एक मध्यम श्रेणी के परिवार में पैदा हुआ था। उसने एक सफल वकील की ख्याति प्राप्त कर ली थी। वह वाद विवाद में दक्ष था तथा उसके भाषणों में जादू का-सा असर होता था, लोग खड़े खड़े रहकर उसको सुनते रहते थे। अप्रैल 1793 ई. में जब कन्वेन्शन के अधिकांश सदस्य उसके विरुद्ध थे, वह अपने भाषण द्वारा लोगों को अपने पक्ष में कर गया। सितम्बर 1792 ई. के हत्याकाण्ड में उसका अधिक उत्तरदायित्व था। वह इस बात में विश्वास रखता था कि शत्रु का विनाश करने का सबसे सरल उपाय यह है कि उसके मन में आतंक बिठाया जाय। वह साहस और दुस्साहस में विश्वास रखता था। अप्रैल 1793 ई. में गिरोन्दिस्ट दल के पतन के पश्चात् यह सुरक्षा समिति का सदस्य नियुक्त कर दिया गया। 5 अप्रैल, 1794 ई. को उसको मृत्यु दण्ड दे दिया गया।

दान्तों

मारों—यह भी जेकोबिन दल का एक प्रमुख नेता था। वह एक योग्य चिकित्सक था। वह पेरिस की जनता को क्रान्तिकारी कार्य करने के लिए भड़काया करता था तथा जनता को प्रशासन पर अपना अधिकार अथवा नियन्त्रण करने के लिए उकसाया करता था। 1792 ई. में मारों का प्रभाव अत्यधिक था। वह चिकित्सक के साथ एक अच्छा साहित्यकार भी था। क्रान्ति के आरम्भ से पूर्व ही उसने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। उसने 1789 ई में एक दैनिक समाचार-पत्र का भी प्रकाशन किया। वह अपने उग्र विचारों से क्रान्ति को भड़काता रहा। वह स्पष्ट रूप से कहता था कि गरीबों की सहायता के लिए यदि आवश्यक हो तो धनी व्यक्तियों को लूटा जाय। 1791 ई. के आरम्भ तक वह सीमित राजतन्त्र का समर्थक था लेकिन 1792 ई. के सितम्बर मास में हुए हत्याकाण्ड में उसका काफी हाथ था। गिरोन्दिस्ट दल के पतन का एक कारण यह था कि उस दल ने मारों पर मुकदमा चलाया था। मारों के प्रभाव में जनता ने गिरोन्दिस्ट दल का विरोध किया और जेकोबिन का समर्थन किया। लेकिन जुलाई 1793 ई. में किसी लड़की ने उसकी हत्या कर दी। इससे

जेकोबिन दल ने आतंकवादी प्रशासन की स्थापना की। मारों को मरने के पश्चात् एक शहीद का-सा सम्मान प्राप्त हुआ और उसको राष्ट्रीय मकबरे में दफनाया गया।

रोबिस्पियर—अन्य नेताओं में इसका स्थान ऊँचा है। वह एक मध्यम श्रेणी के परिवार में पैदा हुआ था। वह एक अच्छा वकील था और उसे फौजदारी अदालत का न्यायाधीश नियुक्त कर दिया गया था लेकिन उसने इस पद से अपना त्याग-पत्र दे दिया क्योंकि वह मृत्युदण्ड देने से घबराता था। किन्तु यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि आगे चलकर उसने सैकड़ों निरपराधियों को मृत्यु के घाट उतार दिया। वह एक योग्य तथा गम्भीर वक्ता और कुशल राजनीतिज्ञ था। 1792 ई. में लुई पर आक्रमण करने में रोबिस्पियर का कोई हाथ न था। उसे पेरिस के सर्वसाधारण का पूर्ण समर्थन प्राप्त था जनवरी 1793 ई. के पश्चात् दलों की पारस्परिक स्पर्धा और द्वेष के कारण वह एक शास्ता के मार्ग पर बढ़ता जा रहा था और आतंकीय प्रशासन की स्थापना के लिए पूर्णतया उत्तरदायी था। जुलाई 1794 ई. में उसकी हत्या के पश्चात् आतंकीय प्रशासन समाप्त हुआ।

रोबिस्पियर

लुई को प्राणदण्ड—लुई को गद्दी से हटाने में दान्तों का सबसे अधिक हाथ था। 21 सितम्बर को नेशनल कनवेन्शन का अधिवेशन हुआ। इसमें दो दल प्रमुख थे: गिरोन्दिस्ट तथा जेकोबिन। इस सभा ने राजा को अपराधी घोषित किया। राजा ने उन अपराधों को जो उस पर लगाये गये थे अनुचित बताया। राजा को क्या दण्ड दिया जाय इस प्रश्न पर कनवेन्शन के इन दो प्रमुख दलों में मतभेद था। जेकोबिन दल ने गिरोन्दिस्ट दल की उदार नीति को गणतन्त्र विरोधी बताया। दोनों दलों में तनाव हाथापाई की स्थिति तक पहुँच जाता था और अन्त में जेकोबिन दल के प्रभावशाली वक्ताओं ने मैदान जीत लिया और बहुमत से राजा को प्राणदण्ड दे दिया गया। 21 जनवरी 1793 ई. को लुई को फाँसी दे दी गयी। मरते समय उसकी आवाज को ढोलों की आवाज में दबा दिया गया। उसके मरते ही 'गणराज्य अमर हो' के नारे लगाये गये।

लुई को मृत्युदण्ड देने से उग्र क्रान्ति का विकास हुआ। क्रान्तिकारियों ने अब अपने वापस लौटने का मार्ग समाप्त कर दिया था। लुई की हत्या करने से क्रान्ति के उद्देश्यों को कोई सहायता नहीं मिली अपितु उसे क्षति अधिक पहुँची। इससे देश में आन्तरिक उपद्रव हुए और बाह्य युद्ध आरम्भ हुआ। लुई की मृत्यु के पश्चात् क्रान्ति के समर्थकों तथा विरोधियों में जीवन-मरण का संघर्ष आरम्भ हुआ। क्रान्ति का विकास अब एक-दूसरे के विरोधियों की हत्या करके ही हुआ और आतंक का शासन फ्रांस में फैल गया। रानी मेरी आन्तवाने को भी अक्टूबर 1793 ई. में फाँसी दे दी गई।

नेशनल कनवेन्शन और आतंकवादी प्रशासन की स्थापना

मुख्य समस्याएँ—21 सितम्बर, 1792 ई. को नेशनल कनवेन्शन का अधिवेशन आरम्भ हुआ। उसने फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना की। इसे विभिन्न कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। एक ओर फ्रांस पर विदेशी आक्रमण हो रहे थे और दूसरी ओर आन्तरिक विद्रोह हो रहे थे। देश की आर्थिक स्थिति भी खराब होती चली जा रही थी। 'एसाइनेट्स' का मूल्य दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा था राष्ट्रीय सभा द्वारा चर्च की सम्पत्ति छीन लिये जाने से रोमन कैथोलिक क्रान्ति विरोधी कार्य कर रहे थे। कुछ पादरियों, जिन्होंने चर्च का लौकिक संविधान स्वीकार नहीं किया, उन्हें देश निकाला दे दिया गया। इन सब समस्याओं को हल करना सरल नहीं था।

आतंकवादी प्रशासन की स्थापना

विभिन्न दलों में भेदभाव होने के कारण प्रजातन्त्रीय पद्धति पर प्रशासन नहीं चलाया जा सकता था, इसलिए जेकोबिन दल ने गिरोन्डिस्ट दल का विनाश किया। देश के भीतरी शत्रुओं को समाप्त करना तथा बाह्य आक्रमण से बचाव, इन दोनों उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आतंकवादी प्रशासन की स्थापना की गयी। वास्तव में यह निराशाजनक परिस्थितियों का निराशाजनक उपचार था। इस प्रशासन की कुछ विशेषताएँ थी :

(1) **सामान्य सुरक्षा समिति**—इस समिति में 12 सदस्य होते थे और इस समिति का कार्य देश के बाहरी और भीतरी शत्रुओं को समाप्त करना था। इस समिति का सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्ता रोबिस्पियर था। जिन लोगों पर उस समिति को सन्देह होता था उन्हें सन्देह विधि के आधार पर दण्ड दिया जाता था। किसी भी व्यक्ति को बिना वारन्ट पकड़ लिया जाता था। उन व्यक्तियों पर, एक विशेष न्यायालय द्वारा, जिसे 'रिवोल्यूशनरी ट्रिब्यूनल' कहते हैं, मुकदमा तय किया जाता था। यहाँ न्याय इतनी शीघ्रता से किया जाता था कि प्रायः यह एक धोखा प्रतीत होता था। जून 1794 ई. से जुलाई 1794 ई. तक प्रति सप्ताह प्राय दो सौ व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी जाती थी।

(2) **आतंक का पतन**—बाह्य युद्ध में सफलता प्राप्त कर लेने के पश्चात् इस आतंकवादी प्रशासन की आवश्यकता भी नहीं रह गयी थी और आतंक स्वयं भी अपनी पराकाष्ठा का पहुँच गया था जिससे साधारण जनता इस व्यवस्था का अधिक समर्थन करने को तैयार नहीं थी। रोबिस्पियर की हत्या कर दिये जाने के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया था कि इस व्यवस्था के बड़े से बड़े नेता को भी एक साधारण व्यक्ति की भाँति सन्देह पर मृत्यु दण्ड दिया जा सकता था।

नेशनल कनवेन्शन के कार्य—नेशनल कनवेन्शन ने केवल आतंकवादी व्यवस्था ही स्थापित नहीं की बल्कि बहुत-से अन्य सराहनीय कार्य भी किए, इसलिए इसकी कुछ उपलब्धियाँ ऐसी थी जो स्थायी सिद्ध हुईं। इसने देश का शासन चलाने के लिए एक नये संविधान का निर्माण किया। इसने फ्रांस को एक गणतन्त्र घोषित किया।

इसने द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की। कार्यकारिणी के समस्त अधिकार पांच संचालकों की एक समिति को सौंप दिये गये। इनमें से एक सदस्य प्रतिवर्ष लौट जाया करता था। यह समिति समस्त राजदूतों, मन्त्री तथा सेनाध्यक्ष आदि को नियुक्त किया करती थी। व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी दोनों एक-दूसरे के कार्यों पर नियन्त्रण रखती थीं।

इसी कनवेंशन के कुछ अन्य कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। इसने सबसे पहली बार दशमलव तथा मैट्रिक प्रणाली का माप-तौलने के लिए प्रयोग आरम्भ किया। बाजार में चीजों के अधिकतम मूल्यों को निर्धारित कर दिया गया। धर्म के विवादों से राज्य को बचाने के लिए धर्म और राज्य को पृथक्-पृथक् कर दिया गया। इस कनवेंशन ने सामन्ती प्रथा को पूरी तरह समाप्त कर दिया तथा फ्रेंच भाषा को राष्ट्रीय भाषा घोषित कर दिया।

किन्तु यह सभा फ्रांस की गिरती हुई आर्थिक दशा को सुधारने में पूर्णतया असफल रही। एसाइनेट्स का मूल्य गिरता चला जा रहा था। यह आर्थिक समस्या ही क्रान्ति की सफलता के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

फ्रांस का यूरोपीय देशों से संघर्ष

1792 ई. में वामी में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद फ्रांस की विदेश नीति में परिवर्तन आया। अभी तक फ्रांस एक रक्षात्मक युद्ध में व्यस्त था, लेकिन अब वह एक आक्रामक नीति में व्यस्त हो गया। फ्रांस को गणतन्त्र बना देने के पश्चात् नेशनल कनवेन्शन ने यह घोषणा की कि किसी भी देश की प्रजा अपने राजा के विरुद्ध यदि संघर्ष करे तो फ्रांस उसका समर्थन करेगा। इस प्रकार फ्रांस एक सैद्धान्तिक युद्ध में उलझ गया।

प्रथम गुट का निर्माण—(1) फ्रांस की इस क्रान्तिकारी नीति से यूरोप के सब राजतन्त्रों को भय पैदा हो गया और वे फ्रांस की सेनाओं के हस्तक्षेप को रोकने के लिए प्रयत्न करने लगे। फ्रांस की अपनी आन्तरिक समस्याएँ इतनी कठिन हो गयी थी कि वह जनता का ध्यान आन्तरिक समस्याओं से हटाकर बाह्य समस्याओं की ओर लगाना चाहता था। फ्रांस की सेनाओं को वापस बुलाकर आन्तरिक अव्यवस्था और अधिक खराब होती।

(2) फ्रांस ने बेलजियम पर अधिकार करने के पश्चात् बेलजियम के प्रसिद्ध बन्दरगाह एन्टवर्प और शेल्ट नदी को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए खोल दिया था। इससे लन्दन को हानि पहुँचती थी और हालैण्ड को भी खतरा उत्पन्न हो गया था।

युद्ध की घोषणा—फ्रांस ने युद्ध की घोषणा करने में पहल की। यद्यपि इंगलैण्ड भी युद्ध घोषित करने के लिए तैयार था किन्तु फ्रांस ने फरवरी 1793 ई. में गलैण्ड और हालैण्ड के विरुद्ध, मार्च में स्पेन के विरुद्ध और अप्रैल में हंगरी के [illegible]षित कर दिया। फ्रांस आस्ट्रिया और प्रशा के साथ पहले से ही युद्ध

नेशनल कन्वेन्शन द्वारा निर्मित संविधान के अनुसार 5 सदस्यों (डाइरेक्टरों) की एक समिति बनानी थी जिसका चुनाव के आधार पर चार वर्षों के लिए कार्य करना था, इस समिति को डाइरेक्टरी कहते थे। इसका प्रमुख कार्य फ्रांस में शान्ति स्थापित करके वहाँ की आर्थिक स्थिति को सुधारना था। 1791 ई. के परिवर्तनों से उत्पन्न धार्मिक जटिलताओं को भी कम करना था। लोगों में धार्मिक असन्तोष फैला हुआ था।

डाइरेक्टरी ने सम्पन्न जनता से अनिवार्य ऋण वसूल करना आरम्भ किया। इन्होंने ऐसाइनेट्स छापना बन्द कर दिया। मार्च 1796 ई. में इस मुद्रा-प्रणाली को अंतिम रूप से अस्वीकृत कर दिया गया और एक नयी मुद्रा 'मेन्डेट्स' चलाये लेकिन इस कार्य में भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली। 1797 ई. में सरकार ने जनता से लिये हुए ऋण के 2/3 भाग का चुकाने से स्पष्ट मना कर दिया। इससे सरकार की साख काफी घट गयी। पादरियों के विरुद्ध नियम कठोरता से लागू किये गये और इतवार की छुट्टी बन्द कर दी गयी।

डाइरेक्टरी की विदेश नीति—यद्यपि डाइरेक्टरी की स्पष्ट नीति शान्ति स्थापना की होनी चाहिए थी लेकिन उसके विचारानुसार सेनाओं को फ्रांस वापस बुलाकर आन्तरिक स्थिति को खराब करना था, इसलिए युद्ध जारी रहा। फ्रांस का आस्ट्रिया तथा सार्डिनिया से और इंगलैण्ड से युद्ध चल रहा था। युद्ध का सबसे अधिक दबाव आस्ट्रिया के विरुद्ध हुआ। फ्रांस ने आस्ट्रिया के विरुद्ध दो मोर्चों पर युद्ध आरम्भ किया। मुख्य सेना लड़ने के लिए जर्मनी भेजी गयी और कुछ सेना नेपोलियन के नेतृत्व में इटली भेजी गयी। जर्मनी में फ्रांस की सेनाओं को विशेष सफलता नहीं मिली लेकिन नेपोलियन की सफलताओं ने आस्ट्रिया तथा सार्डिनिया को सन्धि करने पर बाध्य किया।

इंगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध संचालन के लिए नेपोलियन को नाविक बेड़े के साथ भेजा गया परन्तु वह इस अभियान में सफलता प्राप्त नहीं कर सका। लेकिन

इटली के अभियान में उसकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ चुकी थी कि वह फ्रांस में अकेला ही सबसे अधिक लोकप्रिय नेता रह गया था और 1799 ई. में डाइरेक्टरी का चार वर्षों का कार्यकाल पूरा हो जाने के पश्चात् उसने दो अन्य डाइरेक्टरों के साथ मिलकर सत्ता प्राप्त कर ली। इस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति का एक चरण समाप्त हुआ और दूसरा चरण नेपोलियन के साथ आरम्भ हुआ।

[illegible]—(1) [illegible]

समय रेखा
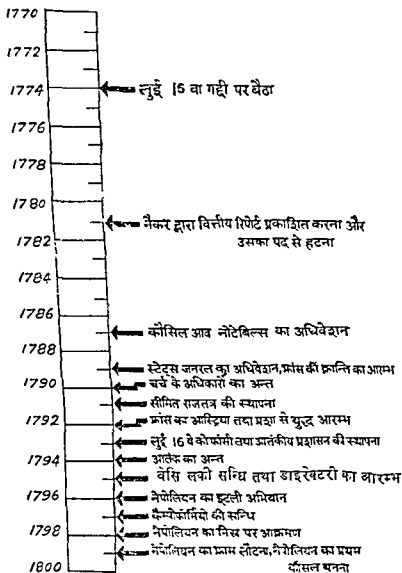
1770
1772
1774
1776
1778
1780
1782
1784
1786
1788
1790
1792
1794
1796
1798
1800
लुई 15 वा गद्दी पर बैठा
नैकर द्वारा वित्तीय रिपोर्ट प्रकाशित करना और उसका पद से हटना
कौंसिल आव नोटेबिल्स का अधिवेशन
स्टेट्स जनरल का अधिवेशन, फ्रांस की क्रान्ति का आरम्भ
चर्च के अधिकारों का अन्त
सीमित राजतंत्र की स्थापना
फ्रांस का आस्ट्रिया तथा प्रशा से युद्ध आरम्भ
लुई 16 वे को फांसी तथा आतंकीय प्रशासन की स्थापना
आतंक का अन्त
वेर्सि लकी सन्धि तथा डाइरेक्टरी का आरम्भ
नेपोलियन का इटली अभियान
कैम्पोफार्मियो की सन्धि
नेपोलियन का मिस्र पर आक्रमण
नेपोलियन का फ्रांस लौटना, नेपोलियन का प्रथम कौंसल बनना
स्केल 1 सेंटीमीटर = 2 वर्ष

निरकुंश राजतन्त्र पर हुआ। यद्यपि राजतन्त्र बहुत समय पश्चात् चलता रहा लेकिन उसकी निरकुशता प्रायः समाप्त हो गयी थी।

(2) सामन्ती प्रणाली का अन्त हो गया और उसके समस्त अवशेष भी शीघ्र समाप्त हो गये।

(3) इस क्रान्ति ने चर्च और राज्य के पृथक विकास में सहायता दी। यद्यपि इस कार्य मे अधिक समय लगा लेकिन धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना में क्रान्ति ने सहायता प्रदान की।

(4) क्रान्तिकारी नेताओ ने फ्रास मे शिक्षा सम्बन्धी सुधार तथा नियम सहिता के निर्माण मे विशेष योगदान किया। इस कार्य को नेपोलियन ने पूरा किया।

फ्रांस मे इस क्रान्ति के परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हुए। पुरानी सामन्ती प्रणाली को समाप्त कर दिया गया, फ्रास के सभी वर्गो के लिए एक ही प्रकार की संस्थाए स्थापित कर दी गई। समस्त फ्रास मे एक ही प्रकार की विधि प्रणाली, एकसे ही आर्थिक नियम और एक ही प्रकार की नापतोल प्रणाली प्रचलित हो गयी। क्रान्ति से पूर्व शिक्षा का उत्तरदायित्व पादरियों पर था लेकिन क्रान्ति द्वारा गिरजाघरो की सम्पत्ति छीन लिये जाने के पश्चात् यह उत्तरदायित्व सरकार को सौप दिया गया। क्रान्ति का प्रहार बूर्बों वश की निरकुशता पर हुआ। यद्यपि 1815 ई. के पश्चात् भी इस राजवश के वशज कुछ समय तक राज्य करते रहे किन्तु उनकी निरकुशता प्रायः कम हो चुकी थी। इस क्रान्ति के फलस्वरूप राज्य संचालन मे पादरी वर्ग का प्रभाव बहुत कम हो गया। कालान्तर मे राज्य और चर्च पृथक-पृथक हो गये और बीसवी सदी के आरम्भ मे एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई।

क्रान्ति का विश्व सभ्यता को देन

विश्व की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में फ्रांस की क्रान्ति की गणना होती है, यह क्रान्ति विश्व इतिहास मे एक नये युग के श्रीगणेश के लिए उत्तरदायी ठहराई जाती है। इसकी सबसे प्रमुख देन यह रही है कि राजसत्ता का स्रोत जनमत मे है। यह उस दैवी सिद्धान्त का घोर विरोधी था जो 17वी-18वी शताब्दियों मे प्रचलित था। मनुष्य के मौलिक अधिकारो—स्वतन्त्रता, समानता एव भ्रातृत्व—की घोषणा 1789 ई. मे ही कर दी गयी थी। इसका परिणाम अमरीका पर भी पडा जहाँ सविधान मे इन मौलिक अधिकारो को प्राप्त करने के लिए कई सशोधन करने पड़े।

दूसरी प्रमुख देन राष्ट्रीयता की भावना थी। इस भावना से प्रेरित होकर फ्रास ने विदेशी आक्रान्ताओं को राष्ट्रीय भूमि से बाहर निकाल दिया था। इसी राष्ट्रीय महानता को प्राप्त करने के उद्देश्य से फ्रास ने आधे यूरोप पर अधिकार स्थापित कर लिया था, फ्रास एक ऐसी राष्ट्रीयता की कल्पना करता था जो अखण्ड हो तथा यूरोप के अन्य राज्यो मे रहने वाली जनता के लिए कल्याणकारी हो। इस भावना का प्रभाव यूरोप के अन्य देशो पर भी पड़ा और इसीलिए 19वी शताब्दी राष्ट्रीय एकीकरण की

कि यूरोप की अन्य देशों की अपेक्षा इंग्लैण्ड में औद्योगिक प्रगति कुछ अधिक हो सकी, फलस्वरूप यूरोप युद्ध स्थल बना रहा और इंग्लैण्ड औद्योगिक विकास कर सका।

फ्रांस की क्रान्ति ने विभिन्न ऐसे तत्त्वों को प्रोत्साहन दिया जिनको संगठित करने का काम नेपोलियन ने किया। कुछ तत्त्वों को स्थिरता प्राप्त करने में अधिक समय लगा। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए समस्त 19वीं शताब्दी भर संघर्ष होते रहे। कुछ उन तत्त्वों के आधार पर, जिन्हें तुरन्त प्राप्त कर लिया गया और कुछ उन तत्त्वों के आधार पर जिन्हें इसने प्रोत्साहन दिया, फ्रांस की क्रान्ति विश्व की महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए।

1. अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम और इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति फ्रांस की क्रान्ति थी, क्योंकि—
   (क) इसका प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप पर पड़ा
   (ख) इसका प्रभाव कालान्तर में सम्पूर्ण विश्व पर पड़ा
   (ग) इसमें राजतन्त्र समाप्त हो गया
   (घ) इसमें प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। ( )
2. फ्रांस का समाज अनेक वर्गों में विभाजित था। उन वर्गों में प्रथम था—
   (क) पादरी वर्ग (ख) सामन्त वर्ग
   (ग) साधारण वर्ग (घ) मध्यम वर्ग ( )
3. कर वसूल करने का अधिकार ठेके पर देने का सबसे खराब परिणाम यह हुआ कि—
   (क) धनी वर्ग करों के बोझ से मुक्त हो गया
   (ख) राज्य कर्मचारी टैक्स में से ही अपना वेतन काटकर राजकोष में जमा करने लगे

(ग) ठेकेदार निश्चित राशि से जितना अधिक वसूल करते थे वह उनके पास रह जाता था

(घ) राज्य को कम धन मिलता था और जनता को भी अधिक नहीं देना पड़ता था (

4. फ्रांस के प्रथम लिखित संविधान पर सबसे अधिक प्रभाव जिस दार्शनिक का था वह है—

(क) मौण्टेस्क्यू (ख) वालतेयर (ग) रूसो (घ) दिदरो (

5. 'सोशल कान्ट्रेक्ट' का लेखक था—

(क) रूसो (ख) वालतेयर (ग) मौण्टेस्क्यू (घ) कोई नहीं (

6. चार्ल्स प्रथम को इंगलैण्ड में अपनी दुर्बलता के कारण फाँसी मिली थी, ऐसा कहकर लुई 16वें के प्रति भविष्यवाणी करने वाला था—

(क) तुर्गो (ख) नैकर (ग) रूसो (घ) कोलोन (

7. स्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाने का उद्देश्य था कि—

(क) लुई 16वाँ उदार प्रशासन स्थापित करना चाहता था

(ख) कौंसिल ऑव नोटेबल्स का अधिवेशन समस्याओं को हल करने में असफल रहा था

(ग) फ्रांस का राजकोष खाली था और नये करों की स्वीकृति लेनी थी

(घ) लुई 16वाँ सामन्तों के प्रभाव से मुक्त होना चाहता था (

8. राजा को निलम्बित करने से क्रान्ति में क्या परिवर्तन आया—

(क) विदेशों से युद्ध आरम्भ हुआ

(ख) सामन्त वर्ग का प्रभाव बढ़ा

(ग) उग्र दल के हाथ में नेतृत्व चला गया

(घ) पादरी वर्ग प्रसन्न हुआ (

9. आतंकवादी प्रशासन की स्थापना के लिए किस व्यक्ति ने अधिक प्रोत्साहन दिया

(क) दान्तों (ख) मारों (ग) रोबिस्पियर (घ) मिराबो (

10. डाइरेक्टरी ने आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए—

(क) ऐसाइनेट्स छापना बन्द कर दिया

(ख) पुरानी मुद्रा-प्रणाली को आंशिक रूप से अस्वीकृत कर दिया

(ग) नयी मुद्रा छापी

(घ) नये कर लगाये (

11. नेपोलियन की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा का कारण था—

(क) इटली के अभियान में सफलता

(ख) डाइरेक्टरी का अलोकप्रिय शासन

(ग) नेपोलियन का मिस्र अभियान

(घ) नेपोलियन का व्यक्तित्व आकर्षक था ( )

6

नेपोलियन का उत्थान और पतन (1799-1815 ई.)

नेपोलियन बोनापार्ट विश्व की महान विभूतियों में से एक है। उसके कार्यों पर, उसके जीवन काल में तथा उसकी मृत्यु के बाद बहुत अधिक वाद-विवाद होता रहा। उसकी अत्यधिक प्रशंसा तथा अत्यधिक निन्दा दोनों की गयीं। फ्रांस ने प्रायः 15 वर्षों तक उसकी पूजा की और 1815 ई. के पश्चात् उसकी घोर निन्दा की। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नेपोलियन का सही मूल्यांकन किया जा सका और उसकी महानता निश्चित हो गयी।

नेपोलियन का प्रारम्भिक जीवन—नेपोलियन का जन्म 15 अगस्त, 1769 ई. को फ्रांस के अधीन कोर्सिका द्वीप में हुआ। कुछ महीने पूर्व ही कोर्सिका पर फ्रांस ने अधिकार कर लिया था। नेपोलियन को सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए ब्रीन के सैनिक स्कूल में भर्ती करवा दिया गया था। नेपोलियन बचपन में कुछ सख्त स्वभाव का था। उसके फ्रांसीसी मित्रों का व्यवहार उसके प्रति अच्छा नहीं था, क्योंकि वह कोर्सिका का रहने वाला था। नेपोलियन अन्य साथियों से अलग-अलग रहता था। उसे गणित और इतिहास से बड़ा लगाव था। थोड़े समय पश्चात् उसे छोटे लेफ्टिनेन्ट का पद प्राप्त हो गया। 1789 ई. की क्रान्ति के पश्चात् कोर्सिका में स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ हुआ। नेपोलियन इस समय कोर्सिका में ही था। 1792 ई. में नेपोलियन कोर्सिका से वापस भागकर फ्रांस आया। लेकिन इस बीच उसकी नौकरी समाप्त हो चुकी थी।

नेपोलियन बोनापार्ट

उत्थान की ओर—सितम्बर 1793 ई. में तूलों के बन्दरगाह पर इंगलैण्ड के नाविक बेड़े ने फ्रांसीसी सेना को घेर रखा था। उस वक्त नेपोलियन ने ही अपनी योग्यता से इंगलैण्ड की नौसेना पर ठीक से गोले बरसाने की तरकीब सुझाई और इससे फ्रांसीसी

सेना को सफलता मिल गयी। 1794 ई. मे वह नीस और सेवाय की विजय करने सेनाओं के साथ गया था। 1795 ई. मे उसने पेरिस की भीड़ के आक्रमण से नेशन कन्वेन्शन की रक्षा की। 1796 ई. मे नेपोलियन ने एक विधवा स्त्री जोजेफाइन से विवाह किया। जोजेफाइन बहुत उच्च चरित्र की स्त्री नहीं थी और डाइरेक्टरी के एक सदस्य की उस पर विशेष कृपा थी। इस विवाह के कारण नेपोलियन के उत्थान में बहुत सहायता मिली थी।

नेपोलियन की प्रारम्भिक सफलताएँ—1796 ई. में नेपोलियन ने इटली पर आक्रमण करने की अत्यन्त साहसी योजना बनायी जिसे पुराने सेनाध्यक्षों ने पागलपन का द्योतक बताया और उसी को इस योजना के संचालन का उत्तरदायित्व सौंपा। वह मार्च 1796 ई. मे नीस (इटली में) पहुँच गया। फ्रांस की काफी बड़ी सेना वहाँ पहले से मौजूद थी। लेकिन उसमें अनुशासनहीनता बहुत बढ गयी थी। वहाँ उसने अपने कुशल प्रशासक होने का अच्छा प्रमाण दिया था। वह एक ही समय में बहुत-से कार्य कर सकता था। उसने अपने भाषणों से सैनिकों को उत्तेजित किया। सैनिकों से उसने पहले ही भाषण में कहा—"मैं तुम्हें विश्व के सबसे उपजाऊ मैदानो में ले जाऊँगा और वहाँ तुम्हें इज्जत, गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।"

इस प्रकार सैनिकों को उत्साहित करके उसने सबसे पहले सार्डिनिया को हराया और उसे इस बात पर बाध्य किया कि नीस और सेवाय पर फ्रांस का अधिकार स्वीकार कर ले। इसके पश्चात् उसने आस्ट्रिया की सेनाओं पर आक्रमण किया और आद्दा नदी के निकट लोदी पुल की लडाई मे उनको हरा दिया। मई 1796 ई मे नेपोलियन ने मिलान मे प्रवेश किया और वहाँ फ्रांस का प्रशासन स्थापित किया। वहाँ से उसने गाडियाँ भरकर धन (दो करोड रुपया) तथा बहुमूल्य कला वस्तुएँ फ्रांस भेजीं। फरवरी 1797 ई मे नेपोलियन ने मान्टोवा पर सफलता प्राप्त की और वह आस्ट्रिया की राजधानी वियेना की ओर चल पडा; विवश होकर आस्ट्रिया को फ्रांस से कैम्पो-फोरमियो की सन्धि करनी पड़ी।

कैम्पोफोरमियो की सन्धि—अक्टूबर 1797 ई मे कैम्पोफोरमियो की सन्धि हुई। इसके अनुसार:

(1) बेलजियम पर फ्रांस का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

(2) उत्तरी इटली मे फ्रांस द्वारा जीते गये राज्यों को नेपोलियन ने दो गण-राज्यों में सगठित किया था—सिसलपाइन और लिगूरियन। इस व्यवस्था को आस्ट्रिया ने स्वीकार किया।

(3) फ्रांस की उत्तर-पूर्वी सीमा राइन नदी तक मान ली गयी।

(4) नेपोलियन ने वेनिस और कुछ अन्य नगर राज्यों को (जिन्हें उसने जीत लिया था) आस्ट्रिया को वापस लौटा दिया।

सन्धि का महत्व—नेपोलियन ने इस सन्धि मे कूटनीतिक योग्यता का परिचय दिया था। डाइरेक्टर मन मे उससे ईर्ष्या रखने लगे और उन्होंने सन्धि की आलोचना

भी की लेकिन फ्रांस में उसकी सफलता की सराहना की गयी और डाइरेक्टरों ने भी उसे स्वीकार कर लिया। नेपोलियन की नीति से इटली में एकता की भावना को प्रोत्साहन मिला। फ्रांस लौटने पर उसको राष्ट्रीय वीर की भाँति सम्मानित किया गया।

नेपोलियन का मिस्र पर आक्रमण—आस्ट्रिया से सन्धि हो जाने के पश्चात् केवल इंगलैण्ड से युद्ध चल रहा था। उस पर नाविक आक्रमण की कोई सम्भावना नहीं थी। उधर डाइरेक्टर भी यह चाहते थे कि नेपोलियन जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति को फ्रांस के बाहर भेजा जाय। नेपोलियन स्वयं भी बहुत महत्त्वाकांक्षी था और वह कुछ और अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता था। वह सिकन्दर महान की भाँति प्रसिद्धि चाहता था। वह मिस्र पर अधिकार करके इंगलैण्ड के पूर्वी व्यापार को नष्ट कर देना चाहता था। वस्तुत. वह मिस्र पर अधिकार करके पूर्व के देशों पर अधिकार करना चाहता था। इसलिए मई 1798 ई. मे नेपोलियन एक शक्तिशाली नाविक बेड़ा तथा 40 हजार सैनिक लेकर आक्रमण के लिए निकल पड़ा। जुलाई 1798 ई. में वह मिस्र के बन्दरगाह एलेक्जेन्ड्रिया पहुँच गया। अपने साथ वह गणितज्ञ, भूतत्त्ववेत्ता तथा अन्य इंजीनियर भी ले गया था।

इंगलैण्ड से संघर्ष—इंगलैण्ड ने सूचना पाते ही मिस्र की ओर नेलसन के नेतृत्व मे एक नाविक बेड़ा मिस्र की ओर भेजा किन्तु तब तक नेपोलियन की सेना द्वारा मिस्र की सेनाओं को पिरामिड के युद्ध में हरा दिया गया। अगस्त 1798 ई. को नेलसन ने नेपोलियन के जहाजी बेडे को नील के युद्ध मे हरा दिया। नेपोलियन ने मिस्र मे एक ऐसी संस्था की स्थापना की जो वहाँ के प्राचीन ज्ञान की खोज करे। थोडे समय बाद नेपोलियन ने सीरिया पर आक्रमण किया। इस संघर्ष में उसे विभिन्न कठिन परिस्थितियों को झेलना पडा।

नेपोलियन का वापस लौटना—इंगलैण्ड ने इसी बीच फ्रांस के विरुद्ध दूसरी बार एक गुट का निर्माण किया और जब नेपोलियन को यह पता चला कि फ्रांस यूरोपीय युद्ध मे असफल हो रहा है तो वह एक असफल साहसी की भाँति भेष बदलकर फ्रांस आ पहुँचा। उसने स्वय यह अनुभव किया था कि प्रत्येक फ्रांसीसी उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। वह इतने ठीक समय पर पहुँचा कि यदि वह थोड़ा पहले और थोड़ी देर से पहुँचता तो या तो वह जल्दी पहुँचा होता या देर हो जाती। नेपोलियन के मिस्र अभियान से मिस्र के प्राचीन इतिहास के अध्ययन की ओर विद्वानो का ध्यान गया।

नेपोलियन का सत्ता पर अधिकार—नेपोलियन की प्रतिष्ठा बहुत बढ चुकी थी। यूरोप मे दूसरे गुट का निर्माण हो जाने से फ्रांस विभिन्न स्थानों पर हार रहा था। नेपोलियन ने कुछ डाइरेक्टरों तथा अन्य लोगों के सहयोग से 9 नवम्बर, 1799 ई. को डाइरेक्टरों को इस बात पर विवश किया गया कि वे पद त्याग करें और एक नये सविधान बनाने का कार्य तीन व्यक्तियों को सौंप दिया गया। उनमें से वह स्वयं एक था। नेपोलियन के नेतृत्व मे यह रक्तहीन क्रान्ति हो सकी।

कौन्सुलेट की स्थापना तथा उसका संविधान

[illegible] संविधान [illegible] के स्थान स्वीकृति के लिए रखा और जनता ने भारी बहुमत से इसको पास किया। दिसम्बर 1799 ई. कौन्सुलेट की स्थापना हुई। इस संविधान में जनता की प्रभुसत्ता की घोषणा की गयी थी। लेकिन ऐसा केवल दिखावे के लिए ही किया गया था। कार्यपालिका के अधिकार तीन कौन्सलों को एक निश्चित अवधि के लिए ही सौंप दिये गये। इनमें नेपोलियन को प्रथम कौन्सल नियुक्त किया गया। इसकी कार्यावधि 10 वर्ष होनी थी। धारा सभा के कार्य विभिन्न संस्थाओं में इस प्रकार बाँट दिये गये कि वे वास्तव में किसी को उत्तरदायी ही नहीं थे। नियम पेश करने का अधिकार राज्य सभा को था। इसके सदस्यों की नियुक्ति प्रथम कौन्सल करता था। इन नियमों पर वाद-विवाद करने का अधिकार एक दूसरी सभा 'ट्रिब्यूनेट' को प्राप्त था। और एक तीसरी संस्था विधान सभा को बिना वाद-विवाद के नियम पास करने का अधिकार था। इन तीनों संस्थाओं के ऊपर सीनेट स्थापित की गयी थी। यह सीनेट कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका सभाओं पर नियन्त्रण रखती थी। यह संस्था ही कौन्सलों की नियुक्ति करती थी और यह ही ट्रिब्यूनेट तथा लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्यों का निर्वाचन करती थी। सीनेट के सदस्यों को प्रथम कौन्सल निर्वाचित करता था।

आलोचना—इस संविधान से फ्रांस में प्रायः एक व्यक्ति का निरंकुश शासन स्थापित हो गया था। इस निरंकुश शासन और लुई 16वें के समय की निरंकुशता में एक ही अन्तर था कि यह वंशानुगत अधिकार से सम्बन्धित न होकर प्रसिद्धि और कुशलता पर स्थापित था।

नेपोलियन की विदेश नीति (1800-1802 ई.)

1798 ई. में फ्रांस के विरुद्ध दूसरा गुट बन गया था। उस समय नेपोलियन मिस्र में था। 1799 ई. में सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद नेपोलियन के लिए यह आवश्यक हुआ कि फ्रांस की आन्तरिक स्थिति में सुधार करे। किन्तु यह तभी सम्भव था जब विदेशों से युद्ध समाप्त हो जाए। नेपोलियन ने इंगलैण्ड और आस्ट्रिया से युद्ध समाप्त करने को कहा। लेकिन दोनों ने यह सोचकर कि फ्रांस अधिक समय तक युद्ध नहीं कर सकता था, नेपोलियन की बात अस्वीकृत कर दी। इसलिए सबसे पहले युद्ध में सफलता प्राप्त करना आवश्यक हुआ। दूसरे गुट में इंगलैण्ड, आस्ट्रिया, रूस, नेपिल्स, पुर्तगाल, प्रशा आदि देश थे।

नेपोलियन की सफलता—नेपोलियन ने इटली पर 1800 ई. में दूसरी बार आक्रमण किया। लेकिन इस बार उसने 1796 ई. के मार्ग से आक्रमण नहीं किया बल्कि एक ऐसे कठिन मार्ग से आक्रमण किया जिस ओर से आक्रमण की कोई आशंका नहीं थी। उसका आक्रमण पूर्णतया आश्चर्यजनक था। नेपोलियन के जीवन का सबसे प्रसिद्ध युद्ध मरेंगो का था। इस युद्ध का पासा कई बार बदलता रहा। यह युद्ध 14 जून 1800 ई. को लड़ा गया। उस दिन शाम के पाँच बजे नेपोलियन युद्ध हार चुका

का सैनिक साथ ले आये तब यह युद्ध जीत गया। नेपोलियन के साहस और विवेक की पराकाष्ठा इसी युद्ध में देखने को मिलती है। हार जाने के पश्चात् भी वह अपनी सेना से कह रहा था कि दृढ़ता से खड़े रहकर प्रतीक्षा करो, एक घण्टे बाद सहायता पहुँच जायगी और युद्ध में विजय हमारी ही होगी।

जर्मनी में उसके सेनाध्यक्ष मोरो ने सफलताएँ प्राप्त कीं और आस्ट्रिया को बाध्य होकर सन्धि करनी पड़ी। फरवरी 1801 ई. में लूनेविल की सन्धि की गयी। इस सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया ने फ्रांस को राइन नदी के पश्चिम के सब प्रदेश दे दिये। जिन स्वतन्त्र अथवा पृथक राज्यों का गठन नेपोलियन द्वारा यूरोप में किया गया था, आस्ट्रिया ने उनको मान्यता प्रदान कर दी। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। नेपल्स और रूस ने नेपोलियन से पृथक्-पृथक् सन्धियाँ कर लीं। पुर्तगाल पर स्पेन ने अधिकार कर लिया और इस प्रकार इंगलैंड से ही फ्रांस का युद्ध चलता रहा।

सशस्त्र तटस्थता का समझौता

इंगलैण्ड अपनी समुद्री शक्ति के कारण फ्रांस के जहाजों की तलाशी ले लिया करता था। इस समय जब फ्रांस यूरोप में सफल हो रहा, इंगलैण्ड ने अन्य राष्ट्रों के जहाजों की तलाशी लेना आरम्भ किया जिससे वे फ्रांस को सैनिक सामग्री न पहुँचा सकें। रूस के जार ने इंगलैंड विरोधी एक संघ का निर्माण किया। इस संघ में रूस के अतिरिक्त प्रशा, स्वीडन, डेनमार्क आदि सम्मिलित थे। अंग्रेजी नौसेना ने डेनमार्क के जहाजी बेड़े पर (जो इन सबसे अधिक शक्तिशाली था) कोपेनहेगन बन्दरगाह में अप्रैल 1801 ई. में आक्रमण कर दिया और उसको परास्त कर दिया। रूस के जार की उसके पुत्र द्वारा हत्या कर दी गयी और इस प्रकार इस सशस्त्र तटस्थता का अन्त हो गया।

एमिन्स की सन्धि (1802 ई.)—इंगलैण्ड और फ्रांस दोनों ही अब युद्ध समाप्त करना चाहते थे। 1802 ई. के आरम्भ में पिट इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री पद पर नहीं रहा, इसलिए फ्रांस से मित्रता सम्भव हो सकी और 27 मार्च, 1802 ई. को एमिन्स की सन्धि हो गयी। इस प्रकार 9 वर्षों से चले आ रहे युद्ध को समाप्त किया गया। इस सन्धि के अनुसार इंगलैण्ड ने फ्रांस के विजित प्रदेश (लंका और ट्रिनिडेड को छोड़कर) फ्रांस को लौटा दिये और माल्टा द्वीप भी लौटाने का वचन दिया।

यह सन्धि अल्पकालीन थी क्योंकि इससे इंगलैण्ड को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ था। यह फ्रांस के लिए गौरवशाली थी तथा इससे फ्रांस की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी थी। इंगलैण्ड ने पहली बार फ्रांस की नयी सरकार को मान्यता प्रदान की थी। देखने में ऐसा प्रतीत होता था कि यूरोप में शान्तिपूर्ण वातावरण बना रहेगा, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं हुआ।

नेपोलियन के आन्तरिक सुधार

नेपोलियन ने 1800 ई. तक एक कुशल सेना संचालक के रूप में ख्याति प्राप्त

कर ली। लेकिन उसके अधिक स्थायी कार्य फ्रांस के आन्तरिक प्रशासन के सम्बन्ध में थे। प्रथम कौन्सल बनने के पश्चात् नेपोलियन ने प्रशासनिक, आर्थिक और धार्मिक समस्याओं को हल किया। उसके मुख्य कार्य निम्नलिखित थे :

(1) **प्रशासनिक सुधार**—देश में प्रायः अराजकता की-सी स्थिति विद्यमान थी। नेपोलियन ने प्रशासन में केन्द्रीकरण की पद्धति को स्थापित किया। प्रत्येक डिपार्टमेन्ट में फ्रांस की सरकार द्वारा एक अधिकारी नियुक्त कर दिया गया जो स्थानीय प्रशासन पर नियन्त्रण रखता था। निर्वाचित संस्थाओं को प्रायः समाप्त किया गया और उनके स्थान पर नेपोलियन द्वारा नियुक्त अधिकारियों के प्रतिनिधि सब स्थानों पर नियन्त्रण रखते थे।

कोड नेपोलियन—न्याय के सम्बन्ध में नेपोलियन ने निर्वाचित जजों की परम्परा समाप्त कर दी। उसके स्थान पर, न्यायाधीशों को प्रजा के प्रभाव से मुक्त करने के लिए, उनको सरकार द्वारा नियुक्त करना आरम्भ किया। कानूनों के संग्रह के सम्बन्ध में नेशनल कनवेन्शन ने कुछ कार्य किया था। उस अधूरे कार्य को पूरा करके समस्त फ्रांस के नियमों को संग्रहीत करके एक संहिता तैयार की जिसे 'कोड नेपोलियन' कहते हैं। इस प्रकार समस्त फ्रांस में एक ही प्रकार के नियम स्थापित कर दिये गये। इस तरह के कोड स्थापित करने वाला नेपोलियन आधुनिक समय में पथ-प्रदर्शक की भाँति रहा। इसका यह कार्य एक महान और स्थायी देन के रूप में रहा है। वह स्वयं भी जानता था कि उसका कोड (संहिता) उसकी विजयों के पश्चात् भी जीवित रहेगा।

शिक्षा तथा धर्म सम्बन्धी कार्य—नेपोलियन ने शिक्षा प्रणाली पर नियन्त्रण करके भावी पीढ़ियों को अपने पक्ष में करना चाहा था। उसने उच्च शिक्षा के लिए पेरिस में फ्रांस विश्वविद्यालय की स्थापना की। किन्तु प्रारम्भिक तथा स्त्री शिक्षा की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

धर्म के क्षेत्र में नेपोलियन ने धार्मिक समझौते को राजनीति के आधार पर हल करना चाहा। उसका कहना था कि वह धर्म में विश्वास नहीं करता। लोग चाहे उसे पोप का समर्थक कहें लेकिन वह मिस्र में मुसलमान है, फ्रांस में रोमन कैथोलिक। और यदि यहूदियों पर उसे प्रशासन करना हो तो वह सुलेमान के मन्दिर को पुनः बनवाने को तैयार है। वास्तव में नेपोलियन अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के लिए रोम के साथ समझौता करना चाहता था। वह यह भी समझता था कि पोप के साथ समझौते के पश्चात् चर्च की सम्पत्ति को आसानी से बेचा जा सकेगा और रोमन कैथोलिकों को राजाज्ञा मानने पर बाध्य किया जा सकेगा।

पोप के साथ समझौता—नेपोलियन ने मरेंगो के युद्ध में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् पोप के साथ समझौते की बातचीत आरम्भ की। बहुत विलम्ब के बाद जुलाई 1801 ई. में एक समझौता हुआ जो 1802 ई. में फ्रांस की व्यवस्थापिका सभा ने स्वीकार किया। इस समझौते के अनुसार रोमन कैथोलिक धर्मावलम्बियों को

धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गयी। धर्म के अधिकारियों की नियुक्ति नेपोलियन करता था और उसकी स्वीकृति पोप देता था। इन अधिकारियों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। पोप ने धर्म की सम्पत्ति का राज्य द्वारा छीना जाना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पोप के साथ यह समझौता उसकी सफलता का द्योतक था।

इस प्रकार धर्म की सम्पत्ति का अधिग्रहण स्वीकार कर लिया गया और नेपोलियन की लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गयी। इस समझौते से उसकी दूरदर्शिता का परिचय मिला। रोमन धर्म से समझौता हो जाने से फ्रांस के रोमन कैथोलिकों का समर्थन उसे प्राप्त हो गया था जो आगे आने वाले युद्ध में बहुत सहायक हुआ।

आर्थिक सुधार—1789 ई. से 1799 ई. तक देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुछ विशेष कार्य नहीं हुआ था। नेपोलियन की विदेश नीति की सफलता फ्रांस की आर्थिक सम्पन्नता पर निर्भर करती थी। उसके आर्थिक सुधारों में निम्नलिखित मुख्य थे :

(1) फरवरी 1800 ई. में एक बैंक ऑफ फ्रांस की स्थापना की, जिसे नोट छापने का अधिकार प्राप्त था। पहले की प्रचलित मुद्रा के स्थान पर एक नयी मुद्रा प्रणाली चलायी गयी।

(2) उसने एक युद्ध कर लागू किया जो लोगों को अपनी आय के 25% के रूप में देना पड़ता था।

(3) राजकीय कर्मचारियों को वेतन, वसूल किये हुए टैक्स पर प्रतिशत कमीशन के रूप में दिया जाता था।

(4) विभिन्न नयी वस्तुओं पर कर लगा दिया गया। शराब, नमक, तम्बाकू, आदि पर कर लगाये गये।

(5) राष्ट्रीय भूमि को बेचकर धन वसूल किया गया।

(6) उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया।

नेपोलियन के सुधारों का मूल्यांकन—इन सब सुधारों के कारण नेपोलियन ने अपनी प्रशासनिक कुशलता का परिचय दिया। कुछ अंशों में उसने क्रान्ति के सिद्धान्तों को दृढ़ बनाया और उसने सामन्ती व्यवस्था को समाप्त किया। चर्च के विशेषाधिकार समाप्त किये गये। कृषकों को भूमि का स्वामी बना दिया गया और इस प्रकार क्रान्ति के कुछ विशेष सिद्धान्तों को उसने स्थापित किया। दूसरी ओर उसने स्वायत्त सस्थाओं के विकास को बढ़ने नहीं दिया। समस्त फ्रास पर एकतन्त्रीय प्रशासन स्थापित कर दिया गया। इसलिए नेपोलियन का यह कथन कि 'मैं ही क्रान्ति हूँ' अर्ध सत्य है। नेपोलियन के इस उल्लंघन की ओर फ्रांस के नागरिको ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि नेपोलियन ने फ्रास को यूरोप मे सम्मान दिलाया था।

नेपोलियन का सम्राट बनना

1800 ई. के कौन्सुलेट के संविधान के अनुसार नेपोलियन केवल 10 वर्षों के लिए ही प्रथम कौन्सल बना था। 1802 ई. मे ही उसने फ्रास के प्रवासी सामन्तों

को इतना स्पष्ट हो गया। इसी समय सीनेट ने यह प्रस्ताव जनमत संग्रह के लिए रखा कि नेपोलियन को आजीवन प्रथम कौंसल बना दिया जाये। जनता ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। 1804 ई. में राजतन्त्र समर्थकों के एक षड्यन्त्र का पता लगने से नेपोलियन ने प्रेस की स्वतन्त्रता पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाये। सीनेट ने यह प्रस्ताव जनता के समक्ष रखा कि नेपोलियन को फ्रांसीसियों का सम्राट घोषित किया जाये और जनता ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। 2 दिसम्बर, 1804 ई. को नोत्रदाम के गिर्जाघर में बड़ी धूमधाम के साथ नेपोलियन का राज्याभिषेक किया गया। रोम से पोप को राजमुकुट पहनाने के लिए बुलाया गया था, लेकिन ठीक समय पर नेपोलियन ने स्वयं अपने हाथ से राजमुकुट अपने सर पर अपने आप रख लिया। वह सहन नहीं कर सका कि कोई अन्य व्यक्ति उसको राजमुकुट पहनाये। इस प्रकार फ्रांस एक गणतन्त्र से साम्राज्य में परिवर्तित हो गया।

नेपोलियन का साम्राज्य विस्तार (1803-1807 ई.)

पुनः युद्ध का आरम्भ—1802 ई. में एमिन्स की सन्धि को नेपोलियन केवल अल्पकालीन व्यवस्था ही समझता था। वह अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी, प्रसिद्धि का प्यासा, तथा गौरव-प्रेमी व्यक्ति था। यह सब निरन्तर युद्ध से तथा साम्राज्य विस्तार से ही सम्भव था। 1803 ई. में उसने इटली, स्विट्जरलैण्ड तथा हालैण्ड को अपने साम्राज्य में मिला लिया। नेपोलियन ने यूरोप के देशों में इगलैण्ड के व्यापार को कम करने का प्रयत्न किया जिससे इगलैण्ड की आर्थिक स्थिति कमजोर हो जाये। यह देखकर इगलैण्ड ने माल्टा द्वीप खाली करने से मना कर दिया और यह कारण युद्ध के पुनः आरम्भ होने के लिए उत्तरदायी हुआ। नेपोलियन भी यूरोप पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था, लेकिन युद्ध की घोषणा इगलैण्ड की ओर से हुई। 18 मई, 1802 ई. को युद्ध आरम्भ हुआ।

तृतीय गुट का निर्माण—1803 ई में फ्रांस के विरुद्ध इंगलैण्ड अकेला था लेकिन 1804 ई. में पिट प्रधान मन्त्री बना और उसने रूस तथा आस्ट्रिया को अपनी ओर मिला लिया और शीघ्र ही स्वीडन भी इसमें सम्मिलित हो गया। लेकिन प्रशा तटस्थ रहा।

ट्राफलगर का युद्ध, 1805 ई.—नेपोलियन पहले से ही इगलैण्ड पर आक्रमण करना चाहता था इसलिए उसने एक शक्तिशाली सेना भी तैयार की तथा नाविक शक्ति भी बढ़ायी लेकिन इगलैण्ड एडमिरल नेलसन ने इस बेडे को ट्राफलगर के युद्ध में बुरी तरह हरा दिया। इसमे नेपोलियन की इंगलैंड पर आक्रमण की योजनाएँ समाप्त हो गयी।

आस्टरलिट्ज की लड़ाई—यूरोप में फ्रांसीसी सेनाएँ आस्ट्रिया की सेनाओं को हराकर नवम्बर 1805 ई में आस्ट्रिया की राजधानी तक पहुँच गयी और 2 दिसम्बर, 1805 ई. को रूस तथा आस्ट्रिया की सेनाओं के साथ आस्टरलिट्ज के मैदान में युद्ध हुआ। यह युद्ध 'तीन सम्राटों की लड़ाई' भी कहलाता है क्योंकि तीनों सम्राट

युद्ध-स्थल में मौजूद थे। इस युद्ध में नेपोलियन समय के पूर्ण अनुशासन के आधार पर जीता था। यह युद्ध, सम्राट नेपोलियन की प्रथम वर्षगाँठ थी, क्योंकि वह 2 दिसम्बर, 1804 ई. को सम्राट बना था। इस युद्ध से आस्ट्रिया और रूस को भयंकर क्षति पहुँची। इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री पिट 6 सप्ताह के भीतर ही इस दुःख से मर गया। आस्ट्रिया के सम्राट ने नेपोलियन से प्रेसवर्ग की सन्धि कर ली। उसे इटली तथा जर्मनी के कुछ राज्य फ्रांस को देने पड़े।

प्रशा जो अभी तक तटस्थ था नेपोलियन की नीति से असन्तुष्ट था, क्योंकि वह हेनोवर राज्य (जिस पर प्रशा की निगाह थी) इंगलैण्ड को देकर शान्ति स्थापित करना चाहता था। इस सूचना से फ्रेड्रिक उत्तेजित हुआ और उसने फ्रांस के विरुद्ध अक्टूबर 1806 ई. को युद्ध घोषित कर दिया। नेपोलियन ने बहुत फुर्ती से प्रशा पर आक्रमण किया और 14 अक्टूबर, 1806 ई. को जेना तथा औरस्टेट के युद्धों में पराजित कर दिया और इस प्रकार सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस ने अपनी पराजय का बदला लिया। 25 अक्टूबर को नेपोलियन बर्लिन में दाखिल हुआ। इसी स्थान से नेपोलियन ने बाद में महाद्वीपीय व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ आदेश प्रसारित किये थे।

रूस से युद्ध—रूस की सेनाएँ प्रशा की सहायता के लिए आ रही थी तभी नेपोलियन ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। पोलैण्डवासियों ने उसका स्वागत किया क्योंकि वे समझते थे कि नेपोलियन उन्हें रूस के नियन्त्रण से मुक्ति दिला सकेगा। पोलैण्ड पर नियन्त्रण स्थापित कर लेने के पश्चात् रूस की सेनाओं से मुठभेड़ हुई। फरवरी 1807 ई. मे आइलो नामक स्थान पर पहला युद्ध हुआ जिसमे दोनों पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ी। दूसरा युद्ध फ्रीडलैण्ड में लड़ा गया जिसमे नेपोलियन को सफलता मिली। रूस को इस युद्ध में इंगलैण्ड ने कोई सहायता नही दी थी इसलिए रूस का शासक नेपोलियन से मैत्री चाहता था। नेपोलियन भी अपनी कठिनाई अनुभव कर रहा था, इसलिए दोनो टिलसिट के स्थान पर नार्मन नदी के बीच एक नाव पर मिले। नदी के दोनो किनारो पर दोनो सम्राटो की सेनाएँ खड़ी थी। दोनो सम्राटों के मध्य सन्धि हुई जो टिलसिट सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है।

टिलसिट सन्धि की शर्तें—इस सन्धि की कुछ शर्तें गुप्त थी और कुछ स्पष्ट थीं। इस सन्धि से सबसे अधिक हानि प्रशा को हुई।

1. प्रशा का आधा भाग (एल्ब नदी के पश्चिम का समस्त भाग) नेपोलियन को दे दिया गया। प्रशा की सेना की संख्या भी 42,000 निश्चित कर दी गयी। इसके अतिरिक्त प्रशा को युद्ध का हर्जाना भी बहुत अधिक देना पड़ा।

2. रूस को किसी प्रकार का अपमान सहन नही करना पडा। रूस के जार एलेक्जेन्डर प्रथम को पूर्व की ओर साम्राज्य विस्तार के लिए बढ़ावा दिया गया लेकिन कुस्तुन्तुनिया पर रूस के अधिकार करने की बात नेपोलियन ने नही स्वीकार की थी।

टिलसिट का महत्त्व—नेपोलियन 1807 ई. मे अपनी शक्ति के शिरोबिन्दु पर पहुँच गया था। दोनो सम्राट यह सोचते थे कि उन्होंने दूसरे को मूर्ख बनाकर अपना

उद्देश्य प्राप्त कर लिया है। लेकिन कूटनीतिक दृष्टि से नेपोलियन को कोई विशेष सफलता नहीं मिली थी। उसने अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए कोई कार्य नहीं किया था अपितु उसने यूरोप में अपनी प्रधानता के स्थान पर विश्व साम्राज्य का स्वप्न देखा था। उसका कहना था कि जब तक समस्त महाद्वीप एक सम्राट के अधीन न हो जायगा तब तक यूरोप में शान्ति स्थापित नहीं हो सकेगी।

यूरोप 1810 ई. मे. नैपोलियन का चर्मोत्कर्ष

<u>महाद्वीपीय व्यवस्था</u>—नेपोलियन अब तक केवल इंगलैण्ड को पराजित करने मे असमर्थ रहा था। 1806 ई. के पश्चात् उसने इंगलैण्ड को हराने की एक नयी तरकीब सोची। उसने यह सोचा कि यदि इंगलैण्ड के व्यापार को नष्ट कर दिया जाय, तो इंगलैण्ड विवश होकर यूरोप मे फ्रांस के सामने घुटने टेक देगा और इस प्रकार फ्रांस का प्रभुत्व समस्त यूरोप मे स्थापित हो जायेगा। नेपोलियन समुद्री युद्ध मे इंगलैण्ड को नहीं हरा सकता था। वह इंगलैण्ड को 'दुकानदारों का देश' कहा करता था। इसलिए उसने योजना बनायी कि इंगलैण्ड के जहाजों को यूरोप के विभिन्न बन्दरगाहों में न आने दिया जाये। उसका अनुमान था कि इससे इंगलैण्ड के व्यापार को भारी धक्का पहुँचेगा। इससे एक ओर इंगलैण्ड निर्धन होगा और दूसरी ओर वह फ्रांस विरोधी गुटों के निर्माण के लिए धन नहीं भेज सकेगा अतः रूस, आस्ट्रिया और प्रशा पर उसका अधिकार बना रहेगा।

बर्लिन और मिलान घोषणाएँ—सबसे पहले बर्लिन नगर से नेपोलियन ने

21 नवम्बर, 1806 ई. को कुछ घोषणाएँ की। इनके अनुसार यूरोप का कोई भी देश इंगलैण्ड अथवा उसके उपनिवेशों से आने वाले जहाजों को अपने किसी बन्दरगाह पर उतरने नही देगा। इंगलैण्ड ने 7 जनवरी, 1807 ई. को इनका प्रतिउत्तर प्रसारित किया और तटस्थ देशो को फ्रांस तथा उसके मित्रों से व्यापार की मनाही कर दी गयी। इस आदेश को न मानने पर जहाजों को जब्त कर लिया जायेगा। नवम्बर दिसम्बर 1807 ई. में तटस्थ देशों को फ्रास अथवा उसके मित्र देशो तथा उनके उपनिवेशों मे निर्मित वस्तुओं में व्यापार करने से मना कर दिया गया।

तटस्थ देश और फ्रांस—इस प्रकार इगलैण्ड ने तटस्थ देशों को फ्रास तथा उसके मित्र देशों से व्यापार करने के लिए मना किया। नेपोलियन ने 1807 ई. में प्रतिउत्तर मे तटस्थ देशों के जहाजो को 'यदि वे इगलैण्ड से व्यापार करेंगे, तो जब्त करने' का आदेश प्रसारित किया। इस प्रकार तटस्थ देशो को फ्रांस तथा इंगलैण्ड दोनों से ही भय था। लेकिन तटस्थ देश इंगलैण्ड की नौसैनिक शक्ति जानते थे इसलिए इंगलैण्ड की आज्ञाओं का अधिक पालन करने की सोचते थे।

महाद्वीपीय व्यवस्था का प्रभाव—इस व्यवस्था का प्रभाव यूरोप की आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों पर पड़ा। आर्थिक दृष्टि से यूरोप मे जीवन की आवश्यकताएँ बहुत मँहगी हो गयी। इससे यूरोप के व्यापारी वर्ग को भारी हानि हुई क्योंकि अंग्रेजी सामान को जला दिया गया। साधारण व्यापार बन्द कर दिये जाने से तस्कर व्यापार बढ़ा और बाद में नेपोलियन को सैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए अंग्रेजी सामान मँगाने के लिए लाइसेंस आदि देने पड़े। राजनीतिक दृष्टि से नेपोलियन को अधिक क्षति उठानी पडी। उसके सभी मित्र तथा अधीन देशो मे दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य बढ गये। सभी स्थानों पर राजाओ ने जनता को फ्रास विरोधी कार्य के लिए भड़काया। इससे राष्ट्रीयता की भावना को बढावा मिला। नेपोलियन को अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए निरन्तर युद्धों मे व्यस्त रहना पड़ा। धीमे-धीमे पुर्तगाल, स्पेन, प्रशा, रोम तथा उत्तरी यूरोप के अन्य राज्य उसके विरोधी बन गये।

व्यवस्था की असफलता के कारण—नेपोलियन की यह व्यवस्था असफल रही। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

1. फ्रांस का जहाजी बेड़ा कमजोर था। नेपोलियन की समस्त व्यवस्था जहाजी बेड़े की क्षमता पर निर्भर करती थी।

2. इंगलैण्ड से व्यापार बन्द करना उसी समय सफल रह सकता था, यदि उन वस्तुओं की आवश्यकता को फ्रास पूरा कर सकता, लेकिन ऐसा नही हो सका।

3. यह व्यवस्था फ्रास के अधीन देशों के लिए हानिकारक थी और इसमे नेपोलियन को यूरोप के राजाओं के स्थान पर विभिन्न देशों की प्रजा से संघर्ष करना पड़ा।

महाद्वीपीय व्यवस्था नेपोलियन के लिए अत्यन्त हानिकारक रही। यह व्यवस्था नेपोलियन के अयोग्य राजनीतिज्ञ होने का सबसे बड़ा प्रमाण था।

नेपोलियन पतन की ओर (1808-1814 ई.)

अपनी महाद्वीपीय व्यवस्था को लागू करने के लिए नेपोलियन को सबसे पहले पुर्तगाल पर अधिकार करना आवश्यक हुआ, क्योंकि पुर्तगाल के माध्यम से इंगलैण्ड की व्यापारिक वस्तुएँ यूरोप में प्रवेश कर रही थीं। 1807 ई. में स्पेन के सहयोग से पुर्तगाल पर अधिकार कर लिया गया। 1808 ई. में स्पेन की गद्दी के लिए वहाँ के राजा तथा उसके पुत्र में संघर्ष चल रहा था। नेपोलियन ने इस अवसर का लाभ उठाकर स्पेन की गद्दी पर अधिकार कर लिया। लेकिन इसका परिणाम उसके लिए हानिकारक रहा क्योंकि स्पेन की जनता ने फ्रांस के शासन का स्वागत नहीं किया। वहाँ की जनता ने नेपोलियन को स्पेन की राष्ट्रीय एकता का खण्डन करने वाला ही समझा।

स्पेन से युद्ध—नेपोलियन के लिए स्पेन की राष्ट्रीयता को समाप्त करना कठिन था। स्पेन वासियों ने गुरिल्ला पद्धति का प्रयोग किया और इंगलैण्ड से सैनिक सहायता माँगी। आरम्भ में कई स्थानों पर फ्रांस के सेनाध्यक्षों को समर्पण करना पड़ा और नेपोलियन को स्वयं वहाँ जाकर युद्ध का संचालन करना पड़ा। उसने सफलता प्राप्त की। लेकिन इसी समय आस्ट्रिया ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया और नेपोलियन स्पेन से लौट आया। यह उसकी एक और भूल थी। नेपोलियन के चले जाने के पश्चात् स्पेन और पुर्तगाल में फ्रांसीसियों को 1811-13 ई. के बीच कई स्थानों पर असफल रहना पड़ा। अप्रैल 1814 ई. में फ्रांसीसी सेना ने पुर्तगाल और स्पेन खाली कर दिया।

रूस अभियान (1812 ई.)—स्पेन से वापस आकर नेपोलियन ने आस्ट्रिया पर पुनः विजय प्राप्त कर ली। लेकिन इसके साथ-साथ रूस के साथ तनावपूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ। रूस महाद्वीपीय व्यवस्था को पूरी तरह लागू नहीं करना चाहता था, तथा उसे सन्देह था कि नेपोलियन पोलैण्ड की स्वतन्त्रता का समर्थक था। नेपोलियन समस्त यूरोप में अपनी अध्यक्षता में एक साम्राज्य का गठन करना चाहता था और उसमें रूस ही एकमात्र बाधा थी। इसलिए उसने रूस पर सैनिक नियन्त्रण करने का विचार किया। अपने प्रमुख सलाहकारों की इच्छा के विरुद्ध जून 1812 ई. में नेपोलियन लगभग चार लाख सेना के साथ रूस पर आक्रमण करने के लिए चला।

रूसी अभियान की असफलता—नेपोलियन के आक्रमण का रूसी सैनिकों ने विरोध नहीं किया और उसे अपनी योजना के प्रतिकूल आगे बढ़ना पड़ा। रूसी सेनाएँ पीछे हटती जाती थीं और खेतों को जलाती जाती थीं। 14 सितम्बर, 1812 ई. को नेपोलियन मास्को पहुँच चुका था। वहाँ भी उसको जले हुए खेत तथा मकान मिले। नेपोलियन सोचता था कि रूस का जार उससे मित्रता अथवा सन्धि करने के लिए आयेगा लेकिन 6 सप्ताह प्रतीक्षा करने के पश्चात् भी एलेक्जेण्डर नहीं आया। भयंकर सर्दी और खाद्य सामग्री की कमी के कारण नेपोलियन को वापस लौटना पड़ा। वापस लौटते ही रूसियों के आक्रमण आरम्भ हो गये। अकथनीय कठिनाइयाँ झेलता हुआ नेपोलियन अपनी आधी सेना नष्ट कराकर फ्रांस वापस पहुँचा।

स्वतन्त्रता के लिए युद्ध—इस पराजय से नेपोलियन की प्रतिष्ठा को यूरोप में भारी धक्का लगा। उसकी सैनिक कुशलता कम हो गयी और विभिन्न मित्र तथा अधीन राज्यो ने इस अवसर का लाभ उठाया। प्रशा मे पिछले पाँच-छह वर्षों में विभिन्न सुधारो के फलस्वरूप एक नयी राष्ट्रीय भावना जागृत हो चुकी थी। प्रशा ने ही 1813 ई. मे नेपोलियन के विरुद्ध स्वतन्त्रता युद्ध आरम्भ किया। नेपोलियन ने जैसे-तैसे एक विशाल सेना तैयार की और 14 मई, 1813 ई. को प्रशा की सेनाओं को ड्रेस्डन मे हराया। यह उसकी अन्तिम विजय थी। इस समय फ्रास के विरुद्ध अन्य राष्ट्र सगठित भी हो गये और लिपजिग के स्थान पर 16 अक्तूबर से 19 अक्तूबर, 1813 ई. तक भयकर युद्ध चलता रहा। इस युद्ध में नेपोलियन पराजित हुआ।

लिपजिग की पराजय के पश्चात् नेपोलियन का बनाया हुआ ढाँचा खण्डित हो गया और विभिन्न राज्यो पर फ्रास का नियन्त्रण प्रायः समाप्त हो गया। महाद्वीपीय व्यवस्था भग हो गयी। नेपोलियन यह पहले से जानता था कि जिस दिन वह शक्तिशाली नहीं रहेगा उस दिन उसकी शक्ति समाप्त हो जायेगी। मित्र राष्ट्रो ने फ्रांस पर चारो ओर से आक्रमण कर दिया। नेपोलियन ने अप्रैल 1814 ई. में राजगद्दी त्याग दी। उसे 20 लाख फ्रेंक की वार्षिक पेन्शन देकर एल्वा द्वीप भेज दिया गया और फ्रास मे लुई 18वें को राजा घोषित कर दिया गया और फ्रास की सीमाएँ 1792 ई. की सीमा तक निर्धारित कर दी गयी।

नेपोलियन का पुनः आगमन--फ्रांस मे लुई 18वाँ लोकप्रिय न हो सका। उधर सामूहिक समस्याओं को हल करने के लिए आस्ट्रिया की राजधानी वियेना मे विभिन्न राष्ट्रो के सम्मेलन मे मतभेद वढ रहा था। यह देखकर नेपोलियन एल्वा से भागकर फ्रांस पहुँचा। उसने पेरिस पहुँचकर यह घोषणा की कि वह एक संवैधानिक राजा की भाँति शासन करेगा। 10 मार्च, 1815 ई. को नेपोलियन ने सम्राट की पदवी पुनः ग्रहण की।

वाटरलू का युद्ध—मित्र राष्ट्रों ने नेपोलियन की वापसी का समाचार सुना तो वे तुरन्त नेपोलियन को पराजित करने पर तुल गये। नेपोलियन को अपनी सुरक्षा के लिए सेना तैयार करनी पडी और 18 जून, 1815 ई. को दोनो सेनाएँ वाटरलू के मैदान में युद्ध के लिए खड़ी हो गयी। नेपोलियन ने दोपहर पश्चात् युद्ध आरम्भ किया लेकिन युद्ध में हार गया। मित्र राष्ट्रो की सेना का सचालन ड्यूक ऑव वेलिंगटन कर रहा था। नेपोलियन को पुनः आत्मसमर्पण करना पड़ा और मित्र राष्ट्रों ने फ्रास पर कडी शर्तें लागू की क्योंकि फ्रास की जनता ने नेपोलियन का साथ दिया था। इस बार नेपोलियन को सेन्ट हेलेना के द्वीप मे बन्दी बनाकर रखा गया जहाँ 6 वर्ष बाद 5 मई, 1821 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

नेपोलियन की असफलता के कारण—नेपोलियन को आरम्भ में इतनी अधिक सफलता मिली कि वह कहता था कि 'असम्भव' शब्द मूर्खों के शब्दकोष मे मिलता है। लेकिन प्रभावशाली होते हुए भी नेपोलियन असफल रहा। वह युद्धो में सफलता
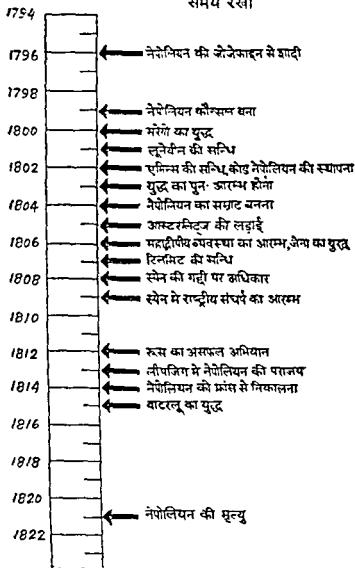
समय रेखा
1794
1796
नेपोलियन की जोजेफाइन से शादी
1798
नेपोलियन कौन्सल बना
1800
मेरेंगो का युद्ध
लूनेविल की सन्धि
1802
एमिन्स की सन्धि, कोड नेपोलियन की स्थापना
युद्ध का पुन: आरम्भ होना
1804
नेपोलियन का सम्राट बनना
आस्टरलिट्ज की लड़ाई
1806
महाद्वीपीय व्यवस्था का आरम्भ, जेना का युद्ध
टिलसिट की सन्धि
1808
स्पेन की गद्दी पर अधिकार
स्पेन में राष्ट्रीय संघर्ष का आरम्भ
1810
1812
रूस का असफल अभियान
लीपजिग में नेपोलियन की पराजय
1814
नेपोलियन को फ्रांस से निकालना
वाटरलू का युद्ध
1816
1818
1820
नेपोलियन की मृत्यु
1822
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 2 वर्ष

प्राप्त कर सकता था लेकिन बहुत शीघ्र ही उसकी अभिलाषा समस्त यूरोप पर अपना साम्राज्य स्थापित करने की हो गयी। यह ही उसकी असफलता के लिए उत्तरदायी थी। उसकी असफलता के निम्नलिखित कारण थे :

1. **निरकुंश तथा हठी स्वभाव**—उसका साम्राज्य इसलिए स्थायी नही हो सकता था क्योंकि वह केवल बल पर आधारित था। यह साम्राज्य केवल उसके व्यक्तिगत पौरुष पर निर्भर करता था। शक्तिशाली होने के साथ-साथ उसके स्वभाव में जिद्द भी बढ़ गयी थी। वह अब अपने विश्वासपात्र सहायको की भी बात नही मानता था तथा अपने प्रति सद्भावना उत्पन्न नहीं करा सका। अपने जीवन मे नेपोलियन पहले कुछ सोचकर कार्य करता था लेकिन बाद में वह अपना यह गुण खो बैठा था।

2. **उसकी कुछ भूलें**—उसकी कुछ भूलें उसके शीघ्र पतन के लिए उत्तरदायी हुईं। उसकी गलतियों में सबसे महान् उसकी महाद्वीपीय व्यवस्था थी। इससे सब देशों की जनता उससे रुष्ट हुई और अपनी नाविक दुर्बलता के कारण वह इंगलैण्ड के व्यापार की कमी की पूर्ति नही कर सका। स्पेन मे जबरदस्ती अपना साम्राज्य स्थापित करना तथा रूस मे मास्को तक बढे चलना उसकी दो अन्य भयकर भूलें थी।

नेपोलियन की उपलब्धियाँ—नेपोलियन के विषय मे बहुधा यह कहा जाता है कि वह फ्रास की क्रान्ति का अनुयायी था तथा इसका विनाश करने वाला भी था। नेपोलियन दृढ निश्चय वाला व्यक्ति था। उसे अत्यधिक आत्मविश्वास उपलब्ध था। उसका कहना था कि विश्व मे कोई वस्तु असम्भव नही है। नेपोलियन की समस्त क्षमताएं बहुत लम्बे समय तक युद्ध के सचालन में लगी रही, उसके विभिन्न विजय अभियान अपनी मौलिकता के कारण अत्यन्त सफल रहे, युद्ध मे उसकी सफलता का रहस्य शत्रु को आश्चर्यचकित करना था, आज भी युद्ध की सफलता इसी बात में है। लेकिन उसके निरंकुश सम्राट बन जाने के पश्चात् उसकी महत्वाकाक्षा की कोई सीमा न रही 1806-07 ई. के पश्चात् उसके युद्ध संचालन के सिद्धान्तों को उसी के विरुद्ध अपनाया गया और जिस राष्ट्रीयता के आधार पर फ्रांस की सेनाएँ सफल हुई थी, उसी आधार पर स्पेन, प्रशा की सेनाएँ भी फ्रांस के विरुद्ध सफल हुई। नेपोलियन यह नही समझ सका था कि निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहने का हानिकारक प्रभाव क्या पड़ रहा था। 1814 ई. मे वह फ्रास में काफी अप्रिय हो चुका था।

नेपोलियन एक प्रतिभाशाली व्यक्ति था। महान सेना संचालक होने के साथ-साथ एक महान शासक भी था। 1789 ई. की क्रान्ति के फलस्वरूप फ्रास की विभिन्न सस्थाएँ परिवर्तनशील स्थिति में थी। पुरानी सस्थाएँ खण्डित हो चुकी थीं और नयी संस्थाओ का निश्चित रूप से निर्माण नहीं हुआ था। ऐसे समय मे नेपोलियन के विभिन्न आन्तरिक सुधार निर्णायक सिद्ध हुए। उन सस्थाओं का नेपोलियन द्वारा जो रूप निर्धारित किया गया वह स्थायी सिद्ध हुआ। उसने फ्रांस मे एक विधि संहिता स्थापित की जो आधुनिक यूरोप के इतिहास मे सबसे प्रथम संहिता थी। इसी प्रकार उसने प्रशासनिक नियम प्रणाली की स्थापना की जिसका यूरोप के प्रशासनिक

इतिहास में विशिष्ट स्थान है। यह दोनो संस्थाएँ आज भी देखने को मिलती हैं। उसने पोप के साथ धार्मिक समझौता किया जो 100 वर्षों से अधिक प्रचलित रहा।

इन प्रशासनिक परिवर्तनों का ही परिणाम यह था कि फ्रांस में उच्च पद योग्यता के आधार पर उपलब्ध होते रहे। इससे उस नये विकसित मध्यम वर्ग का प्रभाव फ्रांस के सामाजिक ढांचे मे बना रहा। नेपोलियन के सुधार समय की आवश्यकताओं के अनुसार थे। उसने फ्रांस की क्रान्ति के लक्ष्यों मे स्वतन्त्रता की स्थापना नही की थी। उसके पतन के पश्चात् फ्रांस को यह स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए दो क्रान्तियां (1830 तथा 1848 ई) और करनी पड़ी।

नेपोलियन का महत्त्व—नेपोलियन के कार्यों का वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि उसने फ्रांस की क्रान्ति के कुछ परिणामो को स्थायी बनाया। जिन सिद्धान्तो को उसने नहीं अपनाया, उन्हें लागू करने में अधिक समय लगा। दूसरा महत्त्व इस बात मे है कि नेपोलियन के नेतृत्व में घटनाओं का चक्र कुछ अधिक वेग से चला। मध्यकालीन व्यवस्था हर हालत मे समाप्त होती क्योंकि अमरीकी क्रान्ति, औद्योगिक तथा आर्थिक परिवर्तन, और राजनीतिक चिन्तन मे परिवर्तन पहले ही हो चुके थे। क्रान्ति, गणतन्त्र, निरंकुश राजतन्त्र इतनी गति से बदले कि पुरानी व्यवस्था टूटती नजर आयी।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नो के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक मे लिखिए।

1. नेपोलियन का जन्म हुआ था—
   (क) पेरिस मे
   (ख) कोर्सिका द्वीप में
   (ग) नीस मे
   (घ) सेवाय मे ( )
2. नेपोलियन की उन्नति मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा—
   (क) उसकी सैनिक विजयों का
   (ख) उसकी कूटनीतिक योग्यता का
   (ग) उसके उच्चवर्ग का सदस्य होने का
   (घ) डाइरेक्टरी के असफल शासन का ( )
3. इटली विजय मे नेपोलियन की मुख्य योग्यता थी—
   (क) सेना को संगठित करना
   (ख) सैनिको में जोश उत्पन्न करना
   (ग) शीघ्रता से आक्रमण करना
   (घ) तोपखाने का प्रयोग करना ( )

(घ) नेपोलियन पोप की प्रतिष्ठा कम करना चाहता था ( )

11 टिलसिट की सन्धि जिन देशों के मध्य हुई, वह थे—

(क) फ्रांस, प्रशा और रूस

(ख) फ्रांस, प्रशा और इंगलैण्ड

(ग) इंगलैण्ड, प्रशा और रूस

(घ) प्रशा और रूस ( )

12. नेपोलियन की अन्तिम विजय थी—

(क) ड्रेसडन (ख) लिपजिग

(ग) टिलसिट (घ) ब्रेगवर्ग ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5–6 पंक्तियों में लिखो।

1. 'नेपोलियन कोड' का अर्थ बताइए।
2. 'कनकॉर्डेट' से आप क्या समझते हैं?
3. नेपोलियन के कोई तीन आर्थिक सुधार लिखिए।
4. ट्राफलगर का युद्ध क्यों प्रसिद्ध है?
5. टिलसिट की सन्धि की शर्तें बताइए।
6 अप्रत्यक्ष रूप से इंगलैण्ड को पराजित करने के लिए नेपोलियन ने क्या योजना बनाई?
7. नेपोलियन ने शान्ति के सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य किया। स्पेन के साथ उसके सम्बन्धों का उदाहरण देते हुए इस कथन पर प्रकाश डालो।
8. रूस में नेपोलियन के अभियान की असफलता के कारण लिखिए।
9. वाटरलू के युद्ध का क्या महत्व है?
10. स्पेन का युद्ध नेपोलियन की पराजय का कारण बना। सिद्ध करो।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. नेपोलियन के आन्तरिक सुधारों का वर्णन कीजिए।
2. महाद्वीपीय व्यवस्था क्या थी? इसके क्या प्रभाव पड़े?
3. नेपोलियन की असफलता के कारण लिखिए।

7
औद्योगिक क्रान्ति

और वह उत्पादित वस्तुओं को वहाँ तक पहुँचा सकता था। पूंजी वाले व्यापारी वर्ग के बिना अधिक उत्पादन की न तो खपत हो सकती थी और न आवश्यकता ही अनुभव होती।

(2) ईंधन की आवश्यकता—यूरोप के विभिन्न देशो मे लोहे के पिघलाने की समस्या प्रमुख बनी हुई थी। लकडी के भण्डार खत्म हो रहे थे। यद्यपि कोयले का पता 18वी शताब्दी के आरम्भ मे लग चुका था लेकिन अधिक मात्रा मे कोयले को खानो से निकालना एक समस्या थी क्योंकि खानों मे पानी भरा होता था।

(3) जनसंख्या मे वृद्धि—यद्यपि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि जनसख्या मे वृद्धि किस सीमा तक औद्योगिक क्रान्ति का कारण बनी, फिर भी साधारणतया यह माना जाता है कि अधिक जनसख्या की आवश्यकता को पूरा करने के लिए अधिक उत्पादन की आवश्यकता हुई। वास्तव मे जनसख्या मे अत्यधिक वृद्धि 1760 ई. के पश्चात् आरम्भ हुई।

औद्योगिक क्रान्ति इंगलैण्ड मे क्यो आरम्भ हुई

18वी शताब्दी के मध्य मे फ्रास औद्योगिक और व्यापारिक दृष्टि से बहुत बढ़ा हुआ था। फ्रास की जनसख्या भी इगलैण्ड से तीन गुनी अधिक थी। उसका विदेशी व्यापार इगलैण्ड से अधिक था तथा फ्रास के प्राकृतिक साधन भी अधिक थे। किन्तु यह सब होते हुए भी इगलैण्ड मे ही औद्योगिक क्रान्ति पहले आरम्भ हुई. इसके कई प्रमुख कारण थे:

(1) फ्रास का निर्यात व्यापार अधिकाशत विलासिता की वस्तुओं का था, उनका मशीनो द्वारा उत्पादन सम्भव नही था।

(2) मध्यकालीन आर्थिक प्रतिबन्ध तथा कृषको की अर्धदासों की-सी स्थिति इगलैण्ड मे पहले समाप्त हुई और फ्रास मे बहुत बाद मे।

(3) इंगलैण्ड और फ्रास के युद्ध (1793-1814 ई) के कारण विश्व के अन्य देशो मे इगलैण्ड का व्यापार बढ़ा और फ्रास का व्यापार समाप्त हुआ। इससे औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिला और परिणामस्वरूप नेपोलियन को हराने मे सहायता मिली।

(4) इगलैण्ड मे पूजी का सचय हो रहा था और फ्रास मे यह पूजी औद्योगिक विकास मे नही लग सकती थी। 1757 ई के पश्चात् भारत से अपरिमित धन इगलैण्ड के व्यापारियों ने लूटा और पूजी एकत्र की।

(5) इसी समय पूजी एकत्र होने से कृषि प्रणाली मे बड़ा अन्तर पड़ा। सम्पन्न तथा धनी जमींदारो ने अपने खेतो को अधिक बढ़ाया और वैज्ञानिक ढग से खेती करना आरम्भ किया। इससे कृषि जगत मे भी भारी परिवर्तन आया।

(6) फ्रास की अपेक्षा इगलैण्ड मे कही अधिक कुशल बैंकिंग प्रणाली प्रचलित थी। बैंक ऑफ इगलैण्ड की स्थापना 1694 ई. मे हो गयी थी जब कि बैंक ऑफ फ्रास की स्थापना 1800 ई. के पश्चात् हुई।

उपरोक्त कारणों से इंगलैण्ड में औद्योगिक परिवर्तन पहले आरम्भ हुए। यह परिवर्तन वस्त्र, खनन, उद्योगों तथा परिवर्तन सम्बन्धी अधिक हुए।

उद्योग सम्बन्धी नये परिवर्तन का पहला चरण (1760-1830 ई.)

कपड़ा उद्योग—यह ध्यान देने योग्य बात है कि इंगलैण्ड में कपड़ा उद्योग 18वीं शताब्दी के मध्य तक अधिक विकसित नहीं था, फिर भी कपडा उत्पादन से सम्बन्धित परिवर्तन अधिक हुए। सूती कपड़े का प्रमुख केन्द्र भारत था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा सूती कपड़े के आयात से इंगलैण्ड के सूती कपड़े के निर्माताओं तथा व्यापारियों को क्षति उठानी पड़ी। इसलिए उन्होंने भारतीय सूती कपडे का आयात बन्द करवाया और इंगलैण्ड की जनता की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए इंगलैण्ड मे ही बना हुआ कपडा प्रयोग होने लगा। इसी से आवश्यकता इस बात की हुई कि कपड़ा उत्पादन सम्बन्धी नयी-नयी खोजें आरम्भ की जायें। सूती कपड़ा उद्योग अपेक्षाकृत नया था, इसलिए उन बन्धनो से नही जकड़ा हुआ था जो अन्य उद्योगो के सन्दर्भ मे थे।

चरखों और करघों से अधिक कपड़ा तैयार नहीं हो सकता था। इसलिए लोगों का ध्यान ऐसे यन्त्रो की खोज करने पर लगा जिनसे अधिक सूत तैयार हो सके तथा कपड़ा अधिक तैयार हो सके। 1733 ई. मे जान के ने एक फ्लाइंग शटल का आविष्कार किया। जॉन के स्वयं वस्त्र उद्योग में काम करता था। उसने कुछ व्यावहारिक कठिनाइयो को दूर करने के लिए इस यन्त्र का आविष्कार किया था। अब कपड़ा अधिक चौडा एव अधिक जल्दी बुना जा सकता था। इससे कपडा उद्योग के दो मुख्य विभागो (बुनाई और कताई) मे असन्तुलन पैदा हो गया। सूत के जल्दी बुने जाने से अधिक सूत की आवश्यकता हुई और इस प्रकार कपड़ा उद्योग मे विभिन्न यन्त्रों का आविष्कार होने लगा।

सूत कातने के लिए जेम्स हारग्रीव्ज ने सूत बुनने का यन्त्र 1767 ई. मे तैयार किया जिसको उसने अपनी पत्नी के नाम पर 'जेनी' कहा। इस 'जेनी' पर आठ सूत एक साथ काते जा सकते थे। लेकिन सूत अधिक मजबूत नही होते थे। इसी प्रकार एक दूसरा कातने का यन्त्र रिचार्ड आर्कराइट ने तैयार किया जिसे स्पिनिंग फ्रेम कहते है, जो जल-शक्ति द्वारा चलाया जाता था। हारग्रीव्ज की मशीन बहुत सस्ती थी और किसी भी स्थान पर लगायी जा सकती थी। आर्कराइट का फ्रेम बहुत महँगा था और कुछ लोग मिलकर ही उसका प्रयोग कर सकते थे। आर्कराइट एक नाई था और इस यन्त्र के द्वारा शीघ्र ही वह पूंजीपति बन गया, यद्यपि उसने विभिन्न लोगो के प्रयत्नो को चुराकर इसकी खोज की थी। जॉर्ज तृतीय ने उसे 'सर' की उपाधि प्रदान की।

हारग्रीव्ज की जेनी मे बना हुआ सूत बढ़िया लेकिन दुर्बल होता था और आर्कराइट के फ्रेम में सूत मजबूत लेकिन घटिया होता था, इसलिए ऐसी मशीन का आविष्कार जो दोनों की अच्छाइयो को मिला सके, आवश्यक हुआ। यह कार्य क्राम्पटन

क्रोम्पटन ने 1779 ई. में पूरा किया। उसने 'म्यूल' नामक यन्त्र का आविष्कार किया। सूत कातने के इन यन्त्रों का परिणाम यह हुआ कि सूत बुनने की मशीनों की आवश्यकता हुई और इस कमी को पूरा करने के लिए कार्टराइट ने 1785 ई. में 'पावरलूम' का आविष्कार किया। कार्टराइट एक पादरी था और उसने कभी सूत बुनने या कातने का कार्य नहीं किया था। आरम्भ में इस यन्त्र का स्वागत कम हुआ किन्तु विभिन्न परिवर्तनों के पश्चात् 1800 ई. तक इस यन्त्र से एक समय में उत्तम प्रकार के 400 सूत काते जाने लगे।

क्राम्पटन

फैक्टरी प्रणाली का विकास—इन यन्त्रों के आविष्कार से एक व्यक्ति द्वारा उत्पादन कठिन हुआ। इसलिए कुछ लोगों ने मिलकर एक स्थान पर उत्पादन आरम्भ किया और फैक्टरी प्रणाली का विकास आरम्भ हुआ। इन यन्त्रों के अतिरिक्त भाप की शक्ति के प्रयोग से फैक्टरी प्रणाली के विकास में बहुत सहायता मिली। भाप के इंजन का आविष्कार आरम्भ में औद्योगिक परिवर्तनों का परिणाम था। 1769 ई. में जेम्स वाट के द्वारा भाप इंजन का आविष्कार उन भारी मशीनों को चलाने के लिए आवश्यक हुआ जो कपड़ा उद्योग के लिए सहायक थीं। इससे लाभ यह हुआ कि अब कपड़े की मिलें नदी या समुद्र के किनारे तक ही सीमित नहीं रहीं अपितु देश के किसी भी भाग में ये मिलें खोली जा सकती थीं। लेकिन यह इतना महत्त्वपूर्ण परिणाम था कि कालान्तर में इसने स्वयं औद्योगिक परिवर्तनों को बढ़ावा दिया और फैक्टरी प्रणाली के विकास में सहायक हुआ।

खान उद्योग सम्बन्धी—खानों से कोयला निकाला जाना 18वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ क्योंकि लकड़ी के जंगल प्रायः समाप्त हो रहे थे और लोहे पिघलाने की आवश्यकता बढ़ रही थी। कोयला निकालने में सबसे बड़ी कठिनाई खानों से पानी निकालने की थी। पहले घोड़ों से यह काम लिया जाता था, लेकिन 1712 ई. में टामस न्यूकामेन ने वाष्प इंजन का आविष्कार किया। इस इंजन में बहुत-सी असुविधाएँ थीं। फिर भी यह इंजन 60 घोड़ों का कार्य कर सकता था। इससे लोहे का अधिक उत्पादन होने लगा और अधिक अच्छे इंजन बनने लगे।

न्यूकॉमेन इंजन कपड़ा उद्योग के लिए बेकार था। यह पिस्टन को सीधे ही चला सकता था अतः वह घुमावदार कार्य करने में असमर्थ था। इस कमी को जेम्स वाट ने पूरा किया। इस दोष के दूर हो जाने से वे मशीनें, जो पहले लकड़ी की बनी होती थीं अब लोहे की बनी होने पर भी सरलता से चलायी जा सकती थीं। इस

कार भाप इजन के आविष्कारों से उद्योगो की भारी मशीनों के चलाने मे सुविधा हुई।

परिवहन सम्बन्धी परिवर्तन—*बड़े पैमाने पर कपड़ा, लोहा तथा कोयला ले* जाने के लिए अच्छी सड़को के निर्माण की आवश्यकता थी और यातायात की सुविधाओं पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। ज्यों ज्यों सड़कों तथा परिवहन व्यवस्था में सुधार हुए, उत्पादन की मात्रा भी बढी। कोयले और लोहे की खानों के मालिक तेज गति से सामान इधर-उधर पहुँचाना चाहते थे। परिणामस्वरूप जॉर्ज स्टीफेन्सन ने भाप इजन का प्रयोग परिवहन व्यवस्था को सुधारने के लिए किया। 1830 ई. में जॉर्ज स्टीफेन्सन ने लिवरपूल और मैनचेस्टर के मध्य पहली रेल लाइन का निर्माण किया। पानी पर चलने वाले जहाजों तथा नावों को भी भाप के द्वारा चलाने का प्रयत्न किया गया। इस कार्य में सबसे पहले शुरूआत एक अमरीकी निवासी फुल्टन ने की। उसने 1807 ई. में हडसन नदी पर एक स्टीमबोट सेवा आरम्भ की।

शीघ्र ही छापाखाना भी भाप से चलने लगा और अधिक मात्रा मे छपाई का कार्य होने लगा। इससे अधिक कागज की आवश्यकता हुई और कागज हाथो के स्थान पर मशीनों से तैयार होने लगा।

कृषि के क्षेत्र में परिवर्तन—*जिस समय उपरोक्त परिवर्तन उद्योगों मे हो रहे* थे उसी समय कृषि क्षेत्र मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे 18वीं शताब्दी में पालियामेण्ट की नीतियाँ सम्पन्न कृषक वर्ग के पक्ष मे थी। विदेशो से खाद्यान्न लाने पर प्रतिबन्ध लगे हुए थे और अधिक उत्पादन और निर्यात पर राज्य की ओर से आर्थिक पुरस्कार दिया जाता था। 18वीं शताब्दी में ही हजारो की संख्या मे नियम पास किये गये जिनके अनुसार जमीदारो को सामान्य प्रयोग की भूमि को अपने अहाते में घेर लेने का अधिकार दिया। कृषि सम्बन्धी उत्पादन बढाने के लिए उत्पादन शैली में कुछ परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक था। यह परिवर्तन कुछ सम्पन्न जमींदारो के *द्वारा ही सम्भव था।* खेती के पुराने तरीके छोडकर नये साधनो से खेती करना आवश्यक हुआ।

सबसे पहला व्यक्ति, जिसने कृषि सम्बन्धी कुछ परिवर्तन किये, जेथ्रोतूल था। उसने बीजो को पंक्ति मे बोना आरम्भ किया जिससे बीज कम लगता था तथा उपज अधिक होती थी। इस कार्य को सरलता से करने के लिए एक 'ड्रिल' यन्त्र का प्रयोग किया गया। इसके पश्चात् लार्ड टाउनशेण्ड ने फसलो के फेर-बदल के सिद्धान्त को बताया। उसने एक ही खेत मे बारी-बारी से भिन्न-भिन्न फसलों की खेती आरम्भ की। शलजम, जौ, दूब या अन्य घास और गेहूँ की फसल उपजाई जाती थी।

बीज और उपज में परिवर्तन के साथ-साथ मवेशियों की नस्ल ठीक करना भी आवश्यक था। बेकवेल ने भेंडो की नस्ल सुधारने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

कृषि सम्बन्धी परिवर्तनों से जहाँ एक ओर उत्पादन बढ़ा दूसरी ओर साधारण किसानो को इससे विशेष हानि हुई। वह न तो अपने खेतो को घेर सकता था, न नये यन्त्रों का प्रयोग कर सकता था। विवश होकर उसे अपनी भूमि बेचकर शहरों मे

जाना पड़ा। सामान्य प्रयोग की भूमि को घेर लेने से मवेशियों को चारा मिलने में कठिनाई होने लगी और मध्यकालीन ग्रामीण व्यवस्था भंग होने लगी।
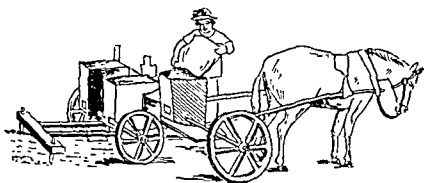
जेथ्रोतुल की ड्रिल का चित्र

इसके तीन डिब्बों में बीज भरे जाते थे जो पहियों के चलने से गिरते थे और पीछे लगा हुआ हैरो उन पर मिट्टी पूरता चलता था

औद्योगिक क्रान्ति का दूसरा चरण (1830-1890 ई.)

पहले चरण में औद्योगिक परिवर्तन आरम्भ ही हुए थे लेकिन अगले 60 वर्षों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। एक ओर तो ये परिवर्तन केवल इंगलैण्ड तक ही सीमित नहीं रहे और दूसरी ओर कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हुए कि कुछ विशेषज्ञ तो इसे एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात मानते हैं। कुछ ऐसे परिवर्तन जिनमें दूसरे चरण का अलग महत्त्व प्राप्त है, निम्नलिखित थे :

1. लोहे के स्थान पर इस्पात का प्रयोग एक मौलिक धातु के रूप में किया जाने लगा।

2. भाप के स्थान पर बिजली और पैट्रोल का प्रयोग होने लगा।

3. श्रमिकों का विशेष योग्यता प्राप्त करना तथा स्वचालित यन्त्रों का प्रयोग।

4. पूँजीवाद में विस्तार तथा परिवहन और संचार व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन।

इन परिवर्तनों का परिणाम यह हुआ कि मशीनों का प्रयोग अन्य उद्योगों में भी बढ़ा। रेलों का विकास तीव्र गति से हुआ। नये-नये उद्योगों का विकास हुआ। बिजली के आविष्कार से संचार व्यवस्था में तार का प्रयोग आरम्भ हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव

अन्य क्रान्तियों से भी अधिक प्रभावशाली इन विभिन्न औद्योगिक परिवर्तनों के परिणाम हुए। आरम्भ में इसके प्रभाव केवल इंगलैंड तक ही सीमित रहे लेकिन ज्यों-ज्यों ये परिवर्तन अन्य देशों में फैलने गये, इसके प्रभाव अन्य देशों में होने लगे।

सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे का विकास हुआ जिसने राजनीति को भी प्रभावित किया। कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन निम्नलिखित हुए :—

आर्थिक प्रभाव

(1) फैक्टरी प्रणाली का विकास—औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व उत्पादन घरों में होता था जिसमें घर के प्रत्येक व्यक्ति का योगदान होता था। औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप अब उद्योग बड़े पैमाने पर तथा अधिक पूंजी के आधार पर ही लगाये जा सकते थे और यह कार्य प्रत्येक घर में नहीं हो सकता था इसलिए फैक्टरी प्रणाली का ही विकास हुआ।

(2) नये साम्राज्यवाद का विकास—इस औद्योगिक विकास का परिणाम यह हुआ कि यूरोप के विकसित देशों ने विश्व के अन्य देशों पर नियन्त्रण स्थापित करने में होड़ लगा दी। इस होड़ का एक नया कारण यह था कि प्रत्येक विकसित देश को अपने यहाँ निर्मित वस्तुओं की बिक्री के लिए सुरक्षित बाजारों की आवश्यकता थी। यह कार्य उपनिवेशों में ही सम्भव था। इसी प्रकार औद्योगिक विकास के लिए बहुत-से कच्चे माल की आवश्यकता थी। यह कच्चा माल उपनिवेशों से ही उपलब्ध किया जा सकता था। इस प्रकार यूरोपीय देशों व एशिया, अफ्रीका के देशों पर आर्थिक शोषण आरम्भ हुआ जो प्राय: 100 वर्षों से अधिक समय तक चलता रहा पर अब धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है।

(3) वस्तुओं के बड़े पैमाने पर उत्पादन से उनके सौन्दर्य तथा कलात्मक गुणों का प्राय: अन्त हो गया। मिल-मालिकों का ध्यान वस्तुओं के अधिक उत्पादन पर अधिक रहता था और उनके सौन्दर्य अथवा कलात्मक गुणों पर कम। इसका दूसरा प्रभाव बेकारी की समस्या की बढ़ोतरी हुई। मशीनों से काम हो जाने के पश्चात् कम व्यक्तियों द्वारा अधिक उत्पादन होने लगा और पहले की अपेक्षा अधिक लोग बिना रोजगार के हो गये। इसके व्यापक सामाजिक और राजनीतिक परिणाम हुए।

(4) समाज का वर्गों में विभाजन—पूंजीपतियों तथा मिल-मालिकों का एक नया वर्ग बन गया जो मिलों में काम करने वाले श्रमिकों से अपने को भिन्न समझता था। यद्यपि प्रत्येक समाज में प्राचीन अथवा मध्यकाल में वर्गीकरण तथा वर्ग विभाजन होता ही था, लेकिन अब यह विभाजन केवल पूंजी के आधार पर होने लगा। इसका 19वीं और 20वीं शताब्दी के बौद्धिक चिन्तन पर प्रभाव पड़ा। समाज के इस भेद को उचित ठहराने, आलोचना करने अथवा इसके दोषों को दूर करने एवं एक नयी व्यवस्था के संगठन करने की समस्या में दार्शनिक उलझे रहे।

(5) नगरों का विकास—नये उद्योगों के स्थान पर नये नगरों का विकास हुआ। इसी औद्योगिक परिवर्तन के समय में जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि हुई। आरम्भ में मशीनों की स्थापना के लिए पर्याप्त स्थान नहीं होता था और बहुत-से श्रमिकों को एक भवन में काम करना पड़ता था। इससे अधिक मकानों की आवश्यकता महसूस हुई। नयी बस्तियाँ बसने लगीं। प्रारम्भ में इन नगरों के विकास

पर कोई सरकारी नियन्त्रण नहीं होता था। छोटी-छोटी गलियो मे जैसे-तैसे श्रमिक अपनी झोंपड़ियों अथवा मकानो मे रहते थे।

सामाजिक प्रभाव

(1) सामाजिक सुधार का भाव—गाँवो मे प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ भूमि होती थी। इससे उसे कुछ आर्थिक सहायता निश्चित रूप मे उपलब्ध रहती थी। लेकिन नगरो मे वे केवल उद्योगों में उपलब्ध वेतन पर निर्भर रहते थे। श्रमिकों का बाहुल्य था, और मिल-मालिक भी इस बात को समझते थे। इससे श्रमिकों में आपसी संघर्ष बहुत बढ़ जाता था।

(2) पारिवारिक ढांचा—स्त्रियो और बच्चो को भी फैक्ट्रियो में काम करना पड़ता था बल्कि आरम्भ मे बच्चों को अधिक काम पर लगाया जाता था, क्योंकि उन्हें वेतन कम देना पड़ता था। बहुधा यह देखने में आता था कि स्त्रियों और बच्चो को काम मिल जाता था और पुरुषो को नही मिलता था। इससे परिवारो के ढांचे पर प्रभाव पड़ा।

(3) मजदूर संगठनो का आरम्भ—मजदूरो की खराब दशा बहुत अधिक समय तक नही प्रचलित रह सकती थी। एक ही स्थान पर बहुत-से व्यक्तियों के एक ही समस्या मे व्यस्त रहने से मजदूरो मे संगठन की भावना पैदा होना स्वाभाविक ही था। एक साथ रहने से मानव समस्याओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हुआ जिससे आगे चलकर राजनीतिक दलों के संगठन मे बहुत सहायता मिली।

(4) जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि—18वीं शताब्दी से भी अधिक 19वीं शताब्दी में जनसंख्या की वृद्धि हुई। जर्मनी की जनसंख्या 1815 ई. मे 2 करोड़ 50 लाख थी, 1914 ई. मे यह जनसंख्या 7 करोड़ हो गयी थी। फ्रांस की जनसंख्या 1815 ई. से 1870 ई. तक दो गुनी हो गयी। 1815 ई. से 1915 ई. तक इंगलैण्ड की जनसंख्या चार गुनी हो गयी। यह वृद्धि कुछ तो चिकित्सा सम्बन्धी सुधारो के परिणाम-स्वरूप हुई और कुछ आर्थिक स्तर के ऊँचा उठने और अच्छी खाद्य सामग्री उपलब्ध होने के कारण हुई। कृषि मे आधुनिक यन्त्रों और मशीनों आदि के प्रयोग से उपज अधिक बढ़ी और लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि हो सकी।

उपरोक्त प्रभावों के अतिरिक्त उद्योगों के विकास से पूंजीवाद तथा समाजवाद का विकास हुआ। इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धान्तो ने 19वीं और 20वीं शताब्दी के विकास को काफी प्रभावित किया।

पूंजीवाद का विकास

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व का पूंजीवाद—16वीं शताब्दी से ही पूंजीवाद का विकास हो रहा था, लेकिन औद्योगिक क्रान्ति से पहले यह पूंजी व्यापार को बढ़ावा देने मे अथवा मुद्रा के लेन-देन तक ही प्रायः सीमित रहती थी। इस व्यापार मे वस्तुओं का कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादन भी सम्मिलित था। इस पूंजी का प्रबन्ध भी बहुधा सामन्तों अथवा व्यापारियों द्वारा ही होता था।

मशीनों के आविष्कार के पश्चात् इस पूंजीवाद में मौलिक परिवर्तन आया पहले उत्पादन घरों मे छोटे पैमाने पर होता था किन्तु अब उत्पादन का स्थान उत्पादन के साधन और उत्पादन के लिए पूंजी बहुधा एक व्यक्ति या व्यक्तियों क समूह प्रदान करता था और उस स्थान पर बहुत-से श्रमिक उत्पादन कार्य में सहायत करते थे। पहले शिल्पी तथा कारीगर अपनी सामग्री लगाकर उत्पादन करते थे अब यह सब कार्य मिल-मालिक अथवा पूंजीपति करते हैं। अब इन पूंजीपतियों क लाभ भी पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक होता था। पहले उसका कार्य केवल एक मध्यम पुरुष की भाँति होता था।

आरम्भ मे पूंजीपति एक व्यक्ति होता था लेकिन जब बड़े पैमाने पर रेलों अथवा लोहे के उद्योगों का निर्माण आरम्भ हुआ तब उद्योगो का स्वामित्व कुछ समुदायों अथवा व्यक्तियों के समूह के हाथ मे आ गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे उद्योगपतियो तथा पूंजीपतियों का विकास हुआ जिनका उस व्यवसाय से व्यक्तिगत सम्पर्क न होकर केवल पूंजी लगाने वालो का ही सम्पर्क था। उन्हें विभिन्न उद्योगों से लाभ होता था और इनकी पूंजी मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती थी। इंगलैण्ड मे औद्योगिक परिवर्तन सबसे पहले होने से इस पूंजीपति वर्ग का विशेष प्रभाव बढ़ा। अधिक पूजी कम लोगो के हाथो में केन्द्रित होती गयी।

इस प्रकार एक वर्ग जो उद्योगो का स्वामी था, धनी तथा सम्पन्न होता गया। मिलो का काम करने वाला दूसरा वर्ग केवल श्रमिक ही बना रहा। यह श्रमिक वर्ग न तो सम्पत्ति का मालिक था, न भूस्वामित्व का अधिकार उसको था और न उसके पास अपनी पूंजी ही थी। वह केवल दैनिक वेतन पर अपना गुजर करता था।

अहस्तक्षेप या लैसे फेयर का सिद्धान्त—पूंजीवाद का यह विकास और श्रमिकों की यह स्थिति 19वीं शताब्दी में विकसित हुई। इसका कारण था वह राजनीतिक चिन्तन जो 18वीं शताब्दी के अन्त मे आरम्भ हुआ था। एडम स्मिथ ने 1776 ई. मे अपनी पुस्तक 'वैल्थ ऑव नेशन्स' में लैसे फेयर सिद्धान्त की व्याख्या की थी। लैसे फेयर का शाब्दिक अर्थ होता है 'अकेले छोड़ दो।' व्यावसायिक क्षेत्र मे इसका अर्थ था कि सब व्यक्तियो को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य और समाज को किसी प्रकार का नियन्त्रण नही लगाना चाहिए। उत्पादन तथा व्यापारिक विकास 'माँग और पूर्ति' के आधार पर स्वतः होता रहेगा। मालिक और मजदूर के मध्य समझौते में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही होना चाहिए। व्यापार और उद्योग राज्य के किसी प्रकार के हस्तक्षेप के अभाव मे ही पूरी तरह विकसित हो सकते थे।

लैसे फेयर की प्रतिक्रिया—इस सिद्धान्त के फलस्वरूप पूंजीवाद का निर्विरोध विकास हुआ। इससे इंगलैण्ड आर्थिक क्षेत्र मे अत्यधिक प्रगति कर सका। लेकिन इसकी बुराइयों की ओर ध्यान थोड़े समय मे ही आकर्षित हो गया। मजदूर वर्ग ने भी अपनी गिरी हुई स्थिति को सुधारने के लिए व्यावसायिक संघो की स्थापना की और उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन भी आरम्भ किया। इसी बीच कुछ बुद्धिजीवियों

का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने सेंट पेयर के सिद्धान्त से भिन्न सिद्धान्त की व्याख्या करना आरम्भ किया। यह सिद्धान्त ही आगे चलकर समाजवाद नाम से प्रसिद्ध हुआ।

समाजवाद का विकास—मजदूरों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए तथा समाज की भलाई के लिए जिस दर्शन की व्याख्या की गयी उसे समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। मजदूरों के काम के घण्टे कम करना, स्त्रियों और बच्चों से काम लेना बन्द करवाना अथवा कम काम करवाना, श्रमिकों के लिए अच्छे मकान बनवाना तथा उनके लिए शिक्षा और मनोरंजन के साधनों को उपलब्ध करवाना आदि इस विचारधारा के परिणाम थे। इस प्रकार के विचारों में कई धारणाएँ थी लेकिन सबसे प्रसिद्ध विचारक कार्ल मार्क्स हुआ है जिसे वैज्ञानिक समाजवाद का संस्थापक कहा जाता है।

कार्ल मार्क्स (1818-1883 ई.)

मार्क्स प्रशा के एक यहूदी सम्पन्न वकील परिवार में पैदा हुआ था। उसका पिता उसको वकील बनाना चाहता था, लेकिन उसकी रुचि इतिहास और दर्शन में अधिक हुई। वह लड़कपन से ही यूरोप की तत्कालीन शासन पद्धति का कठोर आलोचक था, इसीलिए प्रशा की सरकार ने उसे किसी विश्वविद्यालय में नौकरी प्राप्त होने नहीं दी। उसको अपनी जीविका कमाने के लिए समाचार-पत्रों में लेख आदि लिखने पड़े। उसको प्रशा छोड़ कर फ्रांस जाना पड़ा किन्तु प्रशा ने फ्रांस की सरकार पर दबाव डालकर उसे वहाँ से भी निकलवा दिया, विवश होकर उसे इंगलैण्ड में रहना पड़ा। मार्क्स के विचा हीगल, लुई ब्लाक तथा प्राउधन से बहुत प्रभावित थे। पेरिस में एक बार 1844 ई. ऐंजिल्स से उसकी भेंट हुई और दोनों में जीवन-पर्यंत गाढ़ी मित्रता स्थापित हुई।

कार्ल मार्क्स

दास कैपिटल—1848 ई. में मार्क्स और ऐंजिल्स ने 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' प्रकाशित किया। इसमें सबसे पहली बार वर्ग संघर्ष की बात कही गयी। इस घोषण पत्र में विश्व के श्रमिकों से संगठित होने की अपील की थी। उन्हें पूँजीपतियों के विरु संघर्ष जारी रखने की बात भी कही थी। इस घोषणा का तुरन्त कोई प्रभाव नहीं प लेकिन मार्क्स अपने विचारों के प्रतिपादन में निरन्तर प्रयत्नशील रहा। इससे महा कृति 'दास कैपिटल' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ जिसका पहला खण्ड 1867 ई प्रकाशित हुआ और अन्य दो भाग उसकी मृत्यु के पश्चात् ऐंजिल्स ने प्रकाशित किये

मार्क्स के विचारों को सरल भाषा में यदि व्यक्त किया जाये तो उसके सी

ग कहे जा सकते है : (1) प्रत्येक युग और देश की सभ्यता वहाँ की आर्थिक रस्थितियो से प्रभावित होती है। (2) इतिहास की प्रगति तथा विकास, आर्थिक ानता के लिए वर्गो के संघर्ष से हुए है। (3) आधुनिक पूँजीवादी पद्धति पर सगठित ाज भी एक नये समाज में परिवर्तित हो जायेगा और वह समाज होगा साम्यवादी ाज, जिसमे श्रमिकों को प्रधानता प्राप्त होगी। इस प्रकार के दर्शन को वैज्ञानिक ाजवाद का नाम दिया गया। इसमे वैज्ञानिक कुछ भी नही था लेकिन एक अन्य ानिक डार्विन ने जीव विज्ञान के सम्बन्ध मे इसी प्रकार के सघर्षमय विकास की र्ग की थी और इसलिए आर्थिक क्षेत्र मे मार्क्स के विचार 1870 ई. के पश्चात् धक प्रभावशाली हुए जबकि पहले ऐसा नही हुआ था।

मार्क्स का प्रभाव—मार्क्स के विचारों का प्रतिकार बहुत हुआ। राजनीतिज्ञो, भक्तो, पूँजीपतियो, धर्मप्रचारको आदि ने इसका विरोध किया। लेकिन इतना होते ; भी मार्क्स के विचारो का प्रभाव बहुत अधिक हुआ। इनके प्रसार को रोकने के ए विभिन्न देशों की सरकारो ने समाजवादी नियम पास किये। श्रमिको की स्थिति ारने के लिए प्रयत्न किये, बहुत-से उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया, मजदूर संगठनो मान्यता प्रदान की। किन्तु इससे मार्क्स के विचारो का प्रसार ही हुआ। लेकिन ामे विभिन्न शाखाएँ निकल आयीं। मार्क्स का लक्ष्य एक ऐसा समाज था जिसमें ्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करेगा और अपनी आवश्यकता के ुसार पारिश्रमिक पायेगा।' ऐसा अभी तक किसी देश मे पूरी तरह नही हो ाा है।

यूरोप में उदारवाद का विकास—16वी तथा 17वी शताब्दी मे वाणिज्यवाद विकास से तथा 18वी शताब्दी में औद्योगिक परिवर्तनो से समाज में एक नये वर्ग विकास हुआ जो व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग पर निर्भर करता था। यह वर्ग मन्ती वर्ग से आर्थिक सम्पन्नता मे कम न था। राजनीति मे 16वी शताब्दी के चात् निरकुश राजतन्त्र का विकास हुआ था लेकिन राजा के प्रमुख मन्त्री धकांशत सामन्त होते थे। इंगलैण्ड मे व्यापारिक वर्ग बहुत प्रभावशाली था और वी शताब्दी मे रक्तहीन क्रान्ति के पश्चात् मध्यमवर्ग को राजसत्ता मे प्रभावशाली ान प्राप्त हो गया था। 18वीं शताब्दी मे इंगलैण्ड में कोई सवैधानिक परिवर्तन ो हुआ। औद्योगिक परिवर्तनो के फलस्वरूप एक नये पूँजीवादी वर्ग का विकास रहा था जो राजसत्ता में अधिकार चाहता था।

19वीं शताब्दी के आरम्भ मे भी यद्यपि यूरोप के अधिकाश देशों में राजतन्त्र लेकिन इसका स्वरूप काफी बदल चुका था। प्रत्येक राज्य मे प्रशासन अधिक यागत बन चुका था और इसकी कुशलता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक थी। रकीय कार्य के सचालन में राजा की इच्छा अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होती जा रही । फ्रास की क्रान्ति के परिणामस्वरूप प्रशासन अधिकारियों को अधिक सुविधाएँ लब्ध थीं। अब प्रशासक वर्ग के सदस्य केवल कुलीन वर्गों से नहीं लिये जाते थे।

लोक सेवा भी सैनिक सेवा के समान समझी जाती थी और राजकीय कर्मचारी अधिकांशतया विश्वविद्यालय से पढ़कर निकलते थे। इस प्रकार राज्यों का प्रशासन अधिक कुशल होता था और राजा की निरंकुशता अब उतनी असह्य नहीं थी जितनी पहले थी। उसका प्रशासन अब जनता के एक विशिष्ट वर्ग के हाथों में था।

उदारवाद का विकास—उदारवाद का विकास 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गया था। औद्योगिक परिवर्तनों के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र के स्वतन्त्र विकास की आवश्यकताओं से इस विचारधारा को अधिक बल मिला। इस विचारधारा का यूरोप के सामाजिक तथा राजनीति विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

इस उदारवाद के विभिन्न अर्थ थे। बौद्धिक स्तर पर इसका अर्थ था विचारों की स्वतन्त्रता, विज्ञान तथा मशीनों की प्रगति। इस विचार के अनुसार धर्म प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निजी विषय था। आर्थिक क्षेत्र में इसका अर्थ था व्यापार की स्वतन्त्रता, व्यक्तियों के बीच मुक्त अनुबन्ध और राज्य की ओर से न्यूनतम प्रतिबन्ध। आर्थिक प्रगति बिना रोक-टोक के वातावरण में परस्पर प्रतिस्पर्धा से ही हो सकती थी। यह सिद्धान्त कृषि सम्बन्धी विशेष सुविधाओं के विरुद्ध तथा किसी प्रकार के आयात और निर्यात सम्बन्धी टैक्सों का विरोधी तथा सरकार की ओर से उद्योगों तथा व्यापार पर लगाये गये सब प्रतिबन्धों को समाप्त करवाना चाहता था। राजनीतिक दृष्टियों से यह सिद्धान्त, राज्य की कल्पना केवल एक पुलिस व्यवस्था के संस्थापक की भांति समझता था। राज्य का मुख्य कार्य व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति की सुरक्षा की व्यवस्था करना, कुछ शिक्षा तथा लोकहित के लिए निर्माण कार्य करवाना था। केवल प्रतिनिधित्व प्रणाली पर राजकीय संचालन उचित था। इस व्यवस्था में सम्पत्ति सम्पन्न लोगों की प्रधानता बनी रहेगी। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सैद्धान्तिक रूप से यह उदारवाद प्रत्येक उत्पीड़ित जनता का समर्थक था, लेकिन मुख्य रूप से यह शान्ति का समर्थक था। युद्ध को आर्थिक दृष्टि से हानिकारक समझता था और अस्त्र-शस्त्रों पर कम से कम धन खर्च करना चाहता था।

इंगलैंड में उदारवाद—19वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में उदारता का विशेष प्रभाव रहा। बैन्थम, मिल, कोब्डेन आदि दार्शनिकों ने उदारवाद, उपयोगितावाद के सिद्धान्तों की व्याख्या की। उदारवाद के अनुसार, राजनीतिक अधिकार केवल पुराने जमींदारों अथवा सम्पत्ति के मालिकों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए था। उपयोगितावाद के अनुसार सरकार को अधिक से अधिक जनसंख्या की अधिक से अधिक भलाई करनी चाहिए और ऐसा तब ही हो सकता था जबकि सरकार जनकल्याण के लिए नियम बनाये। राजनीतिक क्षेत्र में 19वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में उदारवाद की प्रगति हुई। 1832, 1867 तथा 1884 ई. के सुधार अधिनियमों से राजनीति में मध्यम वर्ग की प्रधानता स्थापित हो गयी थी और साधारण वर्गों को भी राजनीति में प्रभावशाली स्थान प्राप्त हो रहा था।

यूरोप में उदारवाद—1815 ई. से 1830 ई. तक पुराने राजवंश को फ्रांस

में पुनः स्थापित कर दिया गया था लेकिन 1830 ई. में इसके विरुद्ध क्रान्ति हुई। फ्रांस के शासक चार्ल्स दसवें को फ्रांस छोड़कर भागना पड़ा और उसके स्थान पर लुई फिलिप को गद्दी पर बिठाया। लुई फिलिप ने फ्रांस क्रान्ति में भाग लिया था और वह अपने आपको मध्यम वर्ग से मिला हुआ समझता था। इस क्रान्ति से फ्रांस में मध्यम सम्पन्न वर्ग की प्रधानता स्थापित हो गयी। आस्ट्रिया के चान्सलर मेटरनिख का कहना था कि जब फ्रांस को जुकाम होता है तब समस्त यूरोप को छींक आती है। 1830 ई. की फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव शीघ्र ही यूरोप के अन्य देशों पर पड़ा।

मेटरनिख

इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि बेलजियम और डच राज्यों की एकता समाप्त हो गयी। बेलजियम के नेताओं ने अपना पृथक राज्य घोषित कर दिया। अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति बेलजियम के पृथक स्वतन्त्र राज्य के निर्माण मे सहायक हुई। इंगलैण्ड और फ्रांस इसके समर्थक थे और मेटरनिख आस्ट्रिया के साम्राज्य मे हो रहे उपद्रवों को दबाने में व्यस्त था। इसलिए वह इसका विरोध नही कर सका।

1830 ई. की क्रान्ति का प्रभाव—बेलजियम और फ्रांस की यह सफलता समस्त यूरोप में नहीं फैल सकी। जर्मनी मे कुछ राजाओ ने उदारवादी संस्थाओं की स्थापना की लेकिन मेटरनिख के प्रभाव में आकर उन्होने शीघ्र ही उन संस्थाओं को समाप्त कर दिया। इटली मे नेपिल्स और पीडमोण्ट, पार्मा तथा मोडेना में उदारवादी आन्दोलन हुए। लेकिन मेटरनिख के नेतृत्व में पुरानी व्यवस्था पुनः स्थापित हुई। रूस के अधीन पोलैण्ड मे 1831 ई. में उपद्रव हुए लेकिन रूस का जार रूढ़िवादी था और थोड़े समय पश्चात् ही पोलैण्ड की क्रान्ति दबा दी गयी। रूस, प्रशा और आस्ट्रिया के रूढ़िवादी सम्राटों ने उदारवाद को दबाने के लिए आपस में एक समझौता भी किया लेकिन वह अधिक समय तक सफल नही रहा।

1830-48 ई. के मध्य यूरोप में अपेक्षाकृत शान्ति थी। इसलिए औद्योगिक परिवर्तनो का प्रभाव यूरोप के विभिन्न देशो मे फैल गया। ज्यो-ज्यो फ्रास और अन्य देशो में औद्योगिक परिवर्तन होते गये वैसे-वैसे उदारवादी शक्तियाँ प्रबल होती गयी। जब इसका प्रभाव केन्द्रीय यूरोप मे बढ़ा तब इटली और जर्मनी मे राष्ट्रीयता की भावना फैली।

फ्रास में उदारवाद—लुई फिलिप को फ्रास का सम्राट बना दिये जाने के पश्चात् मध्यम वर्ग की प्रधानता स्थापित हुई। लुई के दो मन्त्री गिजो तथा थियर

ध्यम वर्ग के नेता थे। लुई के समय मे उद्योगो का फ्रांस मे विकास हुआ। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया गया। राजकीय नीति 'लेसे फेयर' के आधार पर बनी रही। शिक्षा के क्षेत्र मे कुछ प्रयत्न किये गये। सब धर्मों को समान स्वतन्त्रता प्रदान की गयी। लेकिन व्यापार के क्षेत्र मे मुक्त व्यापार स्थापित नहीं किया गया क्योंकि फ्रांस के उद्योग इतने अधिक विकसित नही थे। लुई ने राजनीतिक अधिकारो को भी अधिक व्यापक नही बनाया और मध्यम वर्ग का अधिकांश भाग इन अधिकारों से वंचित रहा, इसलिए लुई के प्रशासन से असन्तोष बढा और फरवरी 1848 ई में पेरिस मे क्रान्ति हो गयी। फ्रांस को दूसरी बार गणतन्त्र घोषित कर दिया गया।

फ्रांस मे 1848 ई. की क्रान्ति—फ्रांस में 1848 ई. में समाजवादी तत्त्वों ने क्रान्ति का श्रीगणेश किया। कुछ सार्वजनिक कार्यों को आरम्भ करवाकर पेरिस की बेकार जनता को राष्ट्रीय राज्य कोष से दैनिक वेतन दिया जाने लगा लेकिन राष्ट्रीय सभा के निर्वाचन के पश्चात् ये सब काम बन्द करने पड़े और फ्रांस मे एक प्रजातन्त्रीय संविधान स्थापित किया गया। यह गणतन्त्र तथा प्रजातन्त्रीय संविधान अधिक समय तक प्रचलित नही रहा।

क्रान्ति का यूरोप के अन्य देशों पर प्रभाव—मेटरनिख के प्रयत्नों के बावजूद यूरोप मे उदारवाद फैल रहा था। फ्रांस में क्रान्ति हो जाने से अन्य देशो मे भी क्रान्ति फैल गयी। मार्च 1848 ई मे वियना में विद्यार्थियो का विद्रोह हुआ। मेटरनिख के निवास स्थान पर धावा बोल दिया गया और उसे भागकर इगलैण्ड मे शरण लेनी पड़ी। उसके भाग जाने के पश्चात् आस्ट्रिया में उदारवादी प्रशासन स्थापित कर दिया गया। मेटरनिख के भागते ही हगरी मे भी उपद्रव हुआ और आस्ट्रिया के नियन्त्रण से अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया।

इटली में फ्रांस की क्रान्ति से पूर्व ही क्रान्ति आरम्भ हो गयी थी लेकिन सार्डिनिया के शासक चार्ल्स एलबर्ट ने लुई के विरुद्ध विद्रोह हो जाने के पश्चात् एक सवैधानिक प्रशासन की स्थापना की जिसके अनुसार प्रतिनिधित्व प्रणाली की स्थापना की गयी। मेटरनिख के भाग जाने के पश्चात् समस्त इटली में उपद्रव फैल गये थे। जर्मनी में भी इसी प्रकार एक उदारवादी क्रान्ति हुई और प्रशा के शासक फ्रेड्रिक चतुर्थ ने कुछ उदार नियम बनाये। मई 1848 ई. में फ्रैंकफर्ट के स्थान पर एक जर्मन सभा का आयोजन किया गया जिसने राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

क्रान्ति का अन्त—1848 ई. के पूर्वार्द्ध में अधिकाश देशो में जो आन्दोलन हुए वे मध्यम वर्ग के नेतृत्व में हुए थे तथा नगरो तक सीमित थे। आरम्भ में शहरो ने अपनी बात बहुत वेग से कही, लेकिन बाद में गाँव के निवासियो ने, जो परम्परा के पोषक थे, अपनी बात धीमे से कही, लेकिन उसका प्रभाव अधिक हुआ। मध्य यूरोप में औद्योगिक विकास हो रहा था लेकिन अभी तक यह बहुत कम था। ग्रामो में अभी भी सामन्तो तथा राजकीय अधिकारियो पर अधिक विश्वास था। इसके अतिरिक्त राजकीय कर्मचारियों, पादरियों तथा सैनिक अधिकारियो का ससदीय प्रणाली पर

अधिक विश्वास नहीं था। नगरों मे भी मध्यम वर्ग और श्रमिकों मे मतभेद पैदा हो गया इसलिए क्रान्ति के पक्ष में बहुत अधिक जनमत नहीं रह सका और जून 1848 ई. के पश्चात् क्रान्ति व पासा पलटना आरम्भ हुआ। आस्ट्रिया के सैनिक अधिकारियों ने शीघ्र ही विभिन्न स्थानों पर क्रान्ति का अन्त कर दिया। हंगरी में, जहाँ पर विद्रोह राष्ट्रीयता तथा प्रजातन्त्रीय आधारों पर हुआ था, अन्य ऐसी जातियाँ रहती थी जो आस्ट्रिया के शासन के पक्ष में थीं। उन्हें भय था कि यदि हंगरी की राष्ट्रीयता पनप सकी तो ये अल्पसंख्यक जातियाँ प्रायः समाप्त हो जायेंगी।

क्रान्ति की देन—1849 ई. में यूरोप पुनः राजनीतिक दृष्टि से पहले जैसा ही दिखायी पड़ता था लेकिन कुछ परिणाम इस उदारवादी क्रान्ति के निश्चित रूप से हुए। आस्ट्रिया साम्राज्य में दास-प्रथा का अन्त निश्चित रूप से हो गया था। वैधानिक राजतन्त्र आस्ट्रिया में भले ही स्थापित न हो सका हो लेकिन मध्य यूरोप के कुछ राज्यों में तो निश्चित रूप से यह परम्परा स्थापित हो चुकी थी। सार्डिनिया, प्रशा, स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क आदि देशो मे वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हो गयी। स्विट्जरलैण्ड मे प्रजातन्त्रीय सविधान था। सार्डिनिया मे उदार प्रशासन की स्थापना हुई थी लेकिन डेनमार्क और हालैण्ड मे उदार प्रणाली कम थी। इन तीनों राज्यों में सम्पत्ति के आधार पर ही मतदान का अधिकार प्रदान किया गया था और राजनीति में केवल सम्पन्न वर्ग को ही भाग लेने का अधिकार दिया गया था।

प्रशा में भी उदार प्रशासन की स्थापना की गयी थी। यद्यपि व्यवस्थापिका सभा के पहले सदन के सदस्य निर्वाचित करने के लिए मतदान का अधिकार प्रत्येक वयस्क को दे दिया गया था लेकिन अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के आधार पर सदन के सदस्य केवल भूस्वामी अथवा सम्पन्न व्यापारिक वर्ग के व्यक्ति ही हो सकते थे। 1871 ई. में जर्मन साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् भी राजनीतिक अधिकार इसी वर्ग तक सीमित रहे और यह व्यवस्था 1918 ई. तक चलती रही।

मध्यम वर्ग और उदारवाद—1948 ई के पश्चात् यूरोप में औद्योगिक विकास के साथ-साथ मध्यम वर्ग का प्रभाव भी बढ़ा। 1850 ई. के पश्चात् उदारवादियों ने विद्रोह नहीं किये। मध्यम वर्ग बहुसंख्यक हो जाने से प्रशासन पर उनका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभाव बढ़ा। उदारवाद का प्रसार एवं उसकी सफलता उद्योगों के विकास के साथ जुड़ी हुई थी। फ्रांस में उदारवाद का कम प्रभाव रहा। कुछ तो इसलिए कि औद्योगिक वर्ग अपेक्षाकृत कम था, कुछ इसलिए भी कि अधिकांश जनता को प्रेरणा देने के लिए प्रथम गणतन्त्र के सिद्धान्त थे। मध्य यूरोप में 1850 ई. तक औद्योगिक प्रगति विशेष न होने के कारण उदारवाद का प्रभाव अपेक्षाकृत कम था। जिस किसी देश मे औद्योगिक परिवर्तन हुए वहाँ मध्यम वर्ग विकसित हुआ। उदारवाद का प्रभाव बढ़ा तथा समाज और राजनीति में विभिन्न परिवर्तन हुए। यह मध्यम वर्ग राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में बनाये रखना चाहता था। यह कार्य तब ही सम्भव था जब राज्य अपने आपको साधारण वर्गों का भी हितैषी सिद्ध करे।

इसलिए सामाजिक तथा आर्थिक सुधार के विभिन्न नियम पास किये गये ।

उदारवाद का विरोध

उदारवादियो के विरोधियो में पहला स्थान कृषि से सम्बन्धित वर्ग का आता है । उनका विरोध स्वाभाविक ही था क्योंकि उदारवादी समर्थक कृषि के स्थान पर उद्योग को अच्छा समझते थे, सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देते थे और वर्ग के स्थान पर व्यक्ति को । राजनीति मे भी सामन्तों के स्थान पर मध्यम वर्ग के लोगो को अधिक प्रोत्साहन दिया जाता था ।

भूस्वामियो के अतिरिक्त चर्च का विरोध भी उदारवादियों को सहन करना पड़ा । विभिन्न पोपो ने उदारवाद के विरुद्ध आदेश जारी किये । इसके अतिरिक्त उग्र विचारकों ने भी उदारवादियो का विरोध किया । समाजवादी आन्दोलन उदारवाद के विरुद्ध थे क्योंकि उदारवादी सुधारक मजदूरो को वास्तविक अधिकार नही प्रदान कर रहे थे ।

फ्रास में 1848 ई. में स्थापित गणतन्त्र 1852 ई. में समाप्त हो गया था। नेपोलियन तृतीय ने फ्रास को पुन. एक राजतन्त्र में बदल डाला और स्वय को फ्रासीसियो का सम्राट घोषित किया । 1852 ई. से 1870 ई. तक फ्रास मे प्रजातन्त्र प्राय. समाप्त हो चुका था । 1870 ई. में फ्रास के पराजित हो जाने से पुनः फ्रास को गणराज्य घोषित किया गया और इस प्रकार फ्रास में प्रजातन्त्र स्थापित हुआ ।

रूस में प्रजातन्त्र की प्रगति अन्य महान राज्यो की तुलना में सबसे बाद मे हुई । 1900 ई तक वहाँ जनता की प्रतिनिधि सभा जैसी कोई सस्था नही थी । यह केवल 1904-5 ई में जापान से पराजित हो जाने के पश्चात् रूस के जार निकोलस को ड्यूमा नामक सस्था की स्थापना करनी पड़ी । लेकिन शीघ्र ही उसने इस सस्था के अधिकारो पर प्रतिबन्ध लगा दिया और प्रजातन्त्र के विकास को समाप्त कर दिया ।

इस प्रकार 19वी शताब्दी के अन्त तक इगलैण्ड, फ्रास तथा इटली मे प्रजातन्त्रीय पद्धति स्थापित हो चुकी थी । इस प्रजातन्त्र के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग को मतदान का अधिकार प्राप्त हो चुका था और वे अब अपने अधिकारो के लिए वैधानिक साधनो से सघर्ष कर सकते थे । यह बात भी उल्लेखनीय है कि उन देशो में जहाँ प्रजातन्त्रीय पद्धति समय से विकसित हो सकी, पूंजीवाद के विकास का परिणाम साम्यवाद नहीं हुआ । उन देशो मे विशेषकर साम्यवाद से खतरा उत्पन्न हुआ जहाँ प्रजातान्त्रिक परम्परा को बहुत विलम्ब से स्थापित करने का प्रयत्न किया गया । ऐसे देशो में प्रजातन्त्र के दो शत्रु थे—एक फासिस्टवाद और दूसरा साम्यवाद—और 20वीं शताब्दी मे इन दोनो विचारधाराओ का विकास हुआ ।

परिणाम—प्रजातन्त्र और औद्योगिक विकास का सबसे पहला प्रभाव शिक्षा-प्रसार पर पड़ा । 19वीं शताब्दी से पूर्व किसी भी देश में शिक्षित वर्ग सीमित होता था और यह वर्ग सत्ताधारी वर्ग होता था । श्रमिको और साधारण वर्गो के सदस्यों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो जाने से वे अपनी इस दुर्बलता को सबसे पहले समाप्त

करना चाहते थे। इसलिए प्रायः सब देशों में अनिवार्य शिक्षा, नि.शुल्क शिक्षा अथवा राज्य की ओर से अधिक अनुदान आदि की व्यवस्था की गयी।

सामाजिक सुधारो पर विशेष ध्यान दिया गया। फैक्टरी में काम करने की सुविधाएँ, श्रमिकों को उचित वेतन, तथा विभिन्न प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था स्थापित की गयी। दास-प्रथा का अन्त किया गया। श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य तथा चिकित्सा की व्यवस्था आदि का प्रबन्ध किया गया। राज्य का उत्तरदायित्व केवल पुलिस व्यवस्था लागू करना ही नही था बल्कि एक जनहितैषी राज्य की स्थापना करना भी था। वह सिद्धान्त जो 19वी शताब्दी के आरम्भ मे प्रचलित था, अब समाप्त कर दिया गया और प्रशासन के विभिन्न कार्यों द्वारा आर्थिक जीवन के संचालन पर नियन्त्रण रखा जाने लगा।

इसी समय मे राष्ट्रवाद का भी विकास हुआ ओर यूरोप के विशाल साम्राज्यो के स्थान पर विभिन्न राष्ट्रीयताएँ तथा उपराष्ट्रीयताएँ विकसित हुईं। आस्ट्रिया, हंगरी, ओटोमन साम्राज्यों का दुर्बल एवं खण्डित होना 19वी शताब्दी में ही आरम्भ हो चुका था यद्यपि इसकी पूर्ति प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् हुई।

औद्योगिक क्रान्ति की विश्व को देने

औद्योगिक क्रान्ति अपने दूरगामी प्रभावो मे विश्व की महत्त्वपूर्ण क्रान्तियों में गिनी जाती है। उत्पादन प्रणाली मे परिवर्तन से विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती रही है। इतना ही नही कि पूर्व प्रचलित उद्योगो मे अधिक विस्तृत उत्पादन होने लगा बल्कि नये-नये उद्योगों का विकास हुआ। वाष्प शक्ति तथा पेट्रोलियम के आविष्कार से विश्व के विभिन्न देश एक दूसरे के निकट हो गये। देशो के मध्य दूरी हवाई जहाज और पानी के बड़े-बडे जहाजो द्वारा कम हो गयी। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक सहयोग मे अत्यधिक वृद्धि हुई। बिजली और रसायनिक उद्योगों से उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि हुई।

इस क्रान्ति की दूसरी प्रमुख देन विश्व को विकसित एव अर्द्ध-विकसित तथा विकासशील देशो में बाँट देना है। अधिक विकसित देश अपनी सुरक्षा वा अच्छी प्रकार से प्रबन्ध कर सकते थे, इससे साम्राज्यवादी भावनाए बढ़ी क्योंकि विकसित देश नये-नये उपनिवेशों की खोज करते रहते थे जहाँ वे अपना उत्पादित सामान सरलता से बेच सकें। इसी से बीसवी शताब्दी में शीतयुद्ध आरम्भ हुआ।

इस क्रान्ति का प्रभाव आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों मे ही नहीं पड़ा बल्कि बौद्धिक चिन्तन के क्षेत्र मे भी पडा। इस औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओ को सुलझाने मे समस्त दार्शनिक लग गये। जहाँ एक ओर साम्यवाद तथा समाजवाद की आवश्यकता बतायी गयी, दूसरी ओर मुक्त व्यापार, पूँजीवाद, अधिनायकवाद की आवश्यकता पर बल दिया गया।

सामाजिक क्षेत्र मे स्त्रियों के अधिकारों के सम्बन्ध मे नयी माँगें प्रस्तुत की गयीं। उद्योगों मे पुरुषो के समान कार्य करने की क्षमता से स्त्रियो को पुरुषों के समान

अधिकार के आन्दोलन को बल मिला। जहाँ फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पुरुषों के मौलिक अधिकारों को प्रोत्साहन मिला वहाँ औद्योगिक क्रान्ति से स्त्रियों को पुरुषों के समान स्थान प्राप्त हुआ।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए .

1. इंगलैण्ड में कपड़ा उद्योग में सबसे पहले परिवर्तन आने का कारण था—
   (क) इंगलैण्ड में यह उद्योग नया होने के कारण बन्धनों से जकड़ा नहीं था
   (ख) इंगलैण्ड में अधिक कपड़े की आवश्यकता थी
   (ग) इंगलैण्ड में अन्य देशों से कपड़ा आना बन्द हो गया था
   (घ) इंगलैण्ड में नयी-नयी मिलों की स्थापना हो रही थी ( )
2. म्यूल नाम के यन्त्र का आविष्कारक था—
   (क) क्रॉम्पटन (ख) कार्टराइट
   (ग) हारग्रीव्ज (घ) आर्करांइट ( )
3. आर्करांइट की 'स्पिनिंग फ्रेम' की विशेषता थी—
   (क) बहुत सस्ती थी
   (ख) सूत बढ़िया कातती थी किन्तु दुर्बल होता था
   (ग) सूत मजबूत होता था किन्तु घटिया होता था
   (घ) बहुत मँहगा था ( )
4. न्यूकॉमन का इंजन कपड़ा उद्योग के लिए बेकार था क्योंकि—
   (क) यह बहुत भारी था
   (ख) यह पिस्टन को सीधे ही चला सकता था
   (ग) इसकी अश्वशक्ति कम थी
   (घ) यह कोयले की खानों के लिए बनाया गया था ( )
5. पानी में जहाजों तथा नावों को भी भाप की शक्ति के द्वारा चलाने का पहला प्रयास किया—
   (क) फुल्टन ने (ख) स्टीफेन्सन ने
   (ग) हडसन ने (घ) जॉन ने ( )
6. पहली स्टीमबोट सेवा प्रारम्भ हुई—
   (क) हडसन नदी पर (ख) क्लाइड नदी पर
   (ग) गंगा पर (घ) यमुना पर ( )

लघु में उत्तर दिजिए
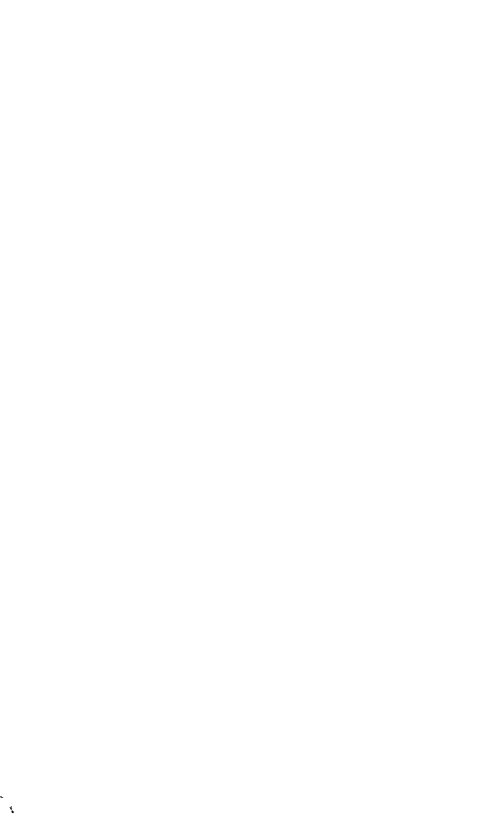
निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5-6 पंक्तियों में दीजिए।

1. औद्योगिक क्रान्ति अन्य क्रान्तियों से भिन्न है, इसके दो कारण बताओ।
2. औद्योगिक क्रान्ति के तीन कारण बताइए।
3. फैक्टरी प्रणाली के विकास के क्या कारण थे ?
4. प्रेशोफ़ून के आविष्कार का क्या प्रभाव पड़ा ?
5. परिवहन के क्षेत्र में दो आविष्कार बताइए।
6. औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप खान उद्योग में क्या परिवर्तन आये ?
7. इंगलैण्ड का नाम कृषि क्षेत्र में क्यों प्रसिद्ध है ?
8. मशीनों के आविष्कार से पूँजीवाद पर क्या प्रभाव पड़ा ?
9. उदारवाद के आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में क्या अर्थ लगाये जाते हैं ?
10. आस्ट्रिया में उदारवादी शासन की स्थापना किस व्यक्ति के पतन के पश्चात् हुई ?
11. 1848 ई. की फ्रांस की क्रान्ति का यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों पर प्रभाव पड़ा ? इटली के उदाहरणों से सिद्ध करो।
12. उदारवाद का विरोध भूस्वामियों ने क्यों किया ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. औद्योगिक क्रान्ति इगलैण्ड में ही क्यों हुई ? स्पष्ट कीजिए।
2. औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक और सामाजिक परिणाम बताइए।
3. मार्क्स के विषय में आप क्या जानते हैं ?
4. यूरोप में उदारवाद के विस्तार को बताइए।
5. उदारवाद के फलस्वरूप (क) शिक्षा (ख) समाज और (ग) राष्ट्रीय जीवन में क्या परिवर्तन आये ?

मानवाधिकार तथा मध्यम वर्गों द्वारा ही प्रस्तुत की गयी। इन मानव अधिकार के विचारो को प्राप्त करने के लिए मध्यम वर्ग विकसित हुआ।

(4) उदारवाद में विकास—फ्रांस की क्रान्ति की विभिन्न घटनाओं को देखने के पश्चात् अधिकांश लोगों में क्रान्ति के प्रति कुछ घृणा जागृत हो गयी थी क्योंकि फ्रांस में आतंक का शासन क्रान्ति का पर्यायवाची समझा जाता था। इसलिए एक ऐसा प्रशासन जो सम्पत्ति के अधिकार को सुरक्षित रखे अथवा राजतंत्र को सीमित रखे, सबसे अधिक लोकप्रिय था। ऐसा प्रशासन पूरी तरह से मध्यम वर्ग के अधिकारों को सुरक्षित रखने में सहायक होगा। इस प्रकार के आन्दोलन से भी मध्यम वर्ग के विकास में सहायता मिली।

(5) उग्र क्रान्ति का भय—1789 ई. की क्रान्ति के पश्चात् 1830 और 1848 ई. में भी यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में क्रान्तियाँ हुई। इन क्रान्तियों से रूढ़िवादी दलों को इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि यदि उग्र परिवर्तनों की अपेक्षा मध्यम वर्ग की सीमित मांगों को पूरा कर दिया जाये तो इस वर्ग का समर्थन उपलब्ध हो जायेगा और क्रान्तिकारी परिवर्तनों के भय से भी मुक्ति मिल सकेगी।

(6) अधिक रोजगारों का उपलब्ध रहना—19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक परिवर्तनों से रोजगार के साधन उपलब्ध होते गये। श्रमिकों तथा निम्न मध्यम वर्ग के जीवन स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रही। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में मजदूर संगठनों का विकास थोड़ा विलम्ब से हुआ। इस श्रमिक वर्ग को मध्यम वर्ग के विरुद्ध संगठित होने की आवश्यकता देर से अनुभव हुई। इस प्रकार मध्यम वर्ग अपने प्रभाव को बढ़ा सका।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यह मध्यम वर्ग इंगलैण्ड तथा फ्रांस और बेलजियम तक सीमित रहा। पूर्वी यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक विकास कुछ विलम्ब से आरम्भ हुए। इसलिए वे परिवर्तन जो केन्द्रीय तथा पश्चिमी यूरोप में सदी के पूर्वार्द्ध में हुए, दक्षिणी और पूर्वी यूरोप में बाद में हुए।

उदारवाद का विकास

1815 ई. से 1850 ई. तक यूरोप में राष्ट्रीयता और उदारवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यदि किसी राष्ट्र को वहाँ की जनता के साथ जुड़ा हुआ समझा जाये तो राष्ट्रवादियों और उदारवादियों का लक्ष्य एक ही हो जाता है। एक बार यदि एक क्षेत्र की जनता अपने को एक राष्ट्र मान लेती है तो आत्म-निर्णय का अधिकार राष्ट्रीयता अथवा उदारवाद के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। इन दोनों तत्वों का विरोध भी एक ही प्रकार की शक्तियों ने किया था—वंशानुगत साम्राज्यों ने, मुख्यतः आस्ट्रिया और तुर्की साम्राज्य ने।

उदारवाद का यह विश्वास था कि किसी भी देश में सरकार तथा जनता के मध्य अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होने चाहिए। राज्य प्रशासन को ऊपर से थोपे जाने की अपेक्षा उसे समुदाय की स्वीकृति पर आधारित होना चाहिए और उसका सम्बन्ध

समाज के वर्गों से होना चाहिए। उदारवाद की अभिव्यक्ति संसदात्मक प्रशासन के माध्यम से हुई। संसद तथा नियम और विधि प्रणाली की सर्वोच्चता को स्थापित करके यह विचारधारा समाज में मौलिक परिवर्तन लाना चाहती थी। यह दोनो पद्धतियाँ निरंकुश राजतंत्र पर नियंत्रण रखने तथा समाज-सुधार आन्दोलन को प्रोत्साहन देने योग्य थी।

उदारवाद और प्रजातंत्रीय प्रणाली बहुत समय तक साथ-साथ चली। प्रजातंत्र भी किसी वर्ग विशेष के अत्यधिक अधिकारो के विरुद्ध था। यह भी कानून के समक्ष प्रत्येक नागरिक की समानता का इच्छुक था। लेकिन प्रजातंत्र उदारवाद से कुछ अधिक भी चाहता था। प्रजातंत्रीय विचारधारा केवल प्रतिनिधि सस्थाओ को ही पर्याप्त नही समझ लेती थी बल्कि रूसो के अनुसार सामान्य संकल्प को अधिक सर्वशक्तिशाली मानती थी। इसके अतिरिक्त वे अवसरो की समानता का अधिक विस्तृत अर्थ लगाते थे और आर्थिक मतभेदों को भी समाप्त करने के पक्ष में थे। यही कारण है कि 19वी सदी के पूर्वार्द्ध में उदारवाद का स्वागत था और उग्र प्रजातंत्र से भय था। यूरोप के अधिकांश देशो मे उदारवाद को प्रजातंत्र की अपेक्षा अधिक सफलता मिली।

यूरोप के देशों की सरकारों में परिवर्तन

फ्रांस में उदारवादी परिवर्तन—1814 ई. मे नेपोलियन को पहली बार हरा दिये जाने के पश्चात् लुई 18वें को फ्रास की राज्य गद्दी पर बिठा दिया गया था। नेपोलियन को 1815 ई. में अन्तिम रूप से हरा देने के पश्चात् लुई 18वाँ शान्तिपूर्वक शासन कर सका। 1814 ई. के संविधान के अनुसार सब नागरिको को धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्वतंत्रता का आश्वासन दे दिया गया था। लुई ने इस बात का ध्यान रखा कि वह उन मौलिक अधिकारो को समाप्त न करे जो 1814 ई. मे दे दिये गये थे। लेकिन उसके उत्तराधिकारी चार्ल्स दसवें ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया। परिणाम यह हुआ कि 6 वर्षों मे ही उसे गद्दी छोड़कर भाग जाना पडा। उसके समक्ष मुख्य समस्या यह थी कि जो अधिकार लुई 18वें को 1814 ई. मे उपलब्ध हो गये थे उनका प्रयोग जनता के प्रतिनिधियो के परामर्श पर किया जाय अथवा उदारवाद और संविधान के विरुद्ध किया जाय। चार्ल्स दसवें ने प्रतिनिधि सभा के विरुद्ध कार्य करने का साहस किया। जुलाई 1830 ई. के निर्वाचन मे चार्ल्स विरोधियो को बहुमत प्राप्त हुआ। चार्ल्स ने निरकुशता के आधार पर राज्य करना चाहा। पेरिस मे उसके विरुद्ध प्रदर्शन हुए और 30 जुलाई 1830 ई. तक राजधानी पर क्रान्तिकारियो का नियंत्रण स्थापित हो चुका था। चार्ल्स को राजगद्दी त्यागनी पडी।

जुलाई 1830 ई. की शान्तिपूर्ण क्रान्ति से फ्रास मे उदारवादी प्रशासन की स्थापना हुई। प्रतिनिधि निर्वाचन के लिए मताधिकार अधिक विस्तृत कर दिया गया। 25 वर्ष की आयु के व्यक्ति को यह अधिकार दे दिया गया, यदि वह कुछ सम्पत्ति का स्वामी था। रोमन कैथोलिक धर्म को फ्रांस के बहुसख्यको का धर्म घोषित कर दिया गया। लुई फिलिप को सम्राट घोषित कर दिया गया। यह 1830 ई. का संविधान ऐसा मध्यम-

मार्गी था कि प्रत्येक उग्र विचारधारा को इससे दूर ही रखा गया था। अगले 18 वर्षों तक फ्रांस में मध्यम वर्ग की प्रधानता स्थापित रही।

1848 ई. की क्रान्ति—लुई फिलिप ने अपने आपको मध्यम वर्ग के साथ इतना अधिक घनिष्ठ कर लिया था कि वह 1830 ई. की स्थिति में किसी प्रकार का सुधार नहीं करना चाहता था। इसीलिए उसके 18 वर्षीय प्रशासन से फ्रांस उससे ऊब चुका था। फरवरी 1848 ई. में फ्रांस में क्रान्ति हुई और लुई को राजगद्दी त्यागनी पड़ी। फ्रांस को गणतन्त्र घोषित कर दिया गया। लेकिन इस क्रान्ति में उदारवादी तथा समाजवादी और गणतन्त्र समर्थक लोग मिले हुए थे। इसलिए शीघ्र ही इस सरकार का दृष्टिकोण समाजवादी सुधारों की ओर गया। मार्च 1848 ई. के निर्वाचन में प्रत्येक 21 वर्षीय वयस्क पुरुष को मताधिकार दे दिया गया। कुछ कारणों से निर्वाचन अप्रैल के अन्त में हुआ और उस समय तक क्रान्तिकारियों की नीतियों की आलोचना बढ़ चुकी थी। इसलिए इस निर्वाचन में ग्रामीण निवासियों ने समाजवादियों और उग्र विचारों के समर्थकों को पराजित कर दिया। समाजवादियों ने बलपूर्वक नवनिर्वाचित सभा पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहा जो असफल रहा और नवम्बर 1848 ई. के संविधान के अनुसार फ्रांस को गणतन्त्र घोषित कर दिया गया। फ्रांस का राष्ट्रपति *जनमत से निर्वाचित होगा। नेपोलियन तृतीय फ्रांस का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ।* 1852 ई. में जनमत संग्रह द्वारा उसे फ्रांस का सम्राट भी बना दिया गया।

1852 ई. में यद्यपि फ्रांस एक सम्राट के अधीन आ गया था लेकिन अगले 18 वर्षों में नेपोलियन तृतीय को जनमत के समर्थन की कई बार आवश्यकता पड़ी। व्यस्क मताधिकार का उल्लंघन नहीं किया गया था और फ्रांस में राजतन्त्रीय प्रणाली होते हुए भी प्रजातन्त्रीय परम्पराएँ बढ़ती गयीं। 1860-70 ई. के मध्य साम्राज्य की प्रशासनिक उदारता के कारण प्रजातंत्रीय सर्वैधानिक परम्पराएँ बहुत सबल हो गयीं।

1870 ई. में प्रशा से हार जाने के पश्चात् नेपोलियन तृतीय को फ्रांस छोड़कर भाग जाना पड़ा और फ्रांस को तीसरी बार 1870-71 ई. में गणतन्त्र घोषित कर दिया गया। यह गणतन्त्र फ्रांस में 1946 ई. तक प्रचलित रहा।

बेल्जियम की स्वतंत्रता—1830 ई.

1815 ई. के वियना सम्मेलन में बेल्जियम को हॉलैण्ड के साथ मिलाकर एक राज्य बना दिया गया था। बेल्जियम की जनसंख्या हॉलैण्ड से दो गुनी थी लेकिन इस संगठित राज्य का प्रशासन हॉलैण्ड निवासियों के हित में किया जाता था। बेल्जियम निवासी इस व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहते थे। जैसे ही फ्रांस में चार्ल्स दसवें के विरुद्ध विद्रोह हुआ, बेल्जियम के विभिन्न नगरों में भी इस संघ के विरुद्ध उपद्रव हुए। अक्तूबर 1830 ई. में बेल्जियम एक स्वतन्त्र राज्य बन चुका था। फरवरी 1831 ई. में एक संविधान स्थापित किया गया जो उस समय के अनुसार सबसे अधिक प्रगतिशील था। इसके अनुसार सीमित राजतन्त्र स्थापित किया गया। इतना अवश्य था कि मताधिकार सम्पत्ति वालों को ही उपलब्ध था।

आस्ट्रिया, प्रशा और रूस इस परिवर्तन को पूर्व स्थिति में ला देना चाहते थे किन्तु फ्रांस और इंगलैण्ड बेलजियम में हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। इसलिए पाँचों देशों का एक सम्मेलन लन्दन में बुलाया गया और जनवरी 1831 में बेलजियम के स्वतंत्र राज्य को स्थाई तटस्थ राज्य मान लिया गया। हॉलैण्ड ने बेलजियम की स्वतंत्रता को न मान कर उस पर आक्रमण कर दिया। लेकिन फ्रांस और इंगलैण्ड ने जब उसकी नाविक नाकेबन्दी कर दी तब 1838 ई. में हॉलैण्ड ने बेलजियम की स्वतंत्रता को स्वीकार किया और बेलजियम की तटस्थता को 1839 ई. में अन्तरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो गयी।

मध्य यूरोप में विद्रोह

फ्रांस में विद्रोह होने के पश्चात् यूरोप के अन्य राज्यों में भी विद्रोह हुए। स्विट्जरलैण्ड, विभिन्न जर्मन राज्यों, इटली के नगर राज्यों आदि में क्रान्तियाँ हुई। पोलैण्ड में रूस के निरकुश प्रशासन के विरुद्ध विद्रोह हुआ। लेकिन विद्रोहियों में फूट पड़ जाने के कारण वे सफल नहीं हो सके। रूस ने पोलैण्ड निवासियों पर और अधिक अत्याचार किये।

जर्मनी के विभिन्न राज्यों में जैसे ब्रंजविक, हेनोवर, सैक्सनी आदि में राजाओं को सुविधाएँ देने पर बाध्य किया गया लेकिन 1832 ई. में आस्ट्रिया और प्रशा ने मिलकर समस्त जर्मन राज्यों में प्रतिबन्ध लागू कर दिये। इसी प्रकार इटली में विदेशी नियन्त्रण (आस्ट्रिया) के विरुद्ध आन्दोलन हुए। इटली के मोडेना, पारमा और पोप के अधीन राज्यों में उपद्रव हुए और वहाँ पर कुछ उदारवादी परिवर्तन किये गये। लेकिन अन्त में वहाँ भी आस्ट्रिया की सेनाएँ भेजकर विद्रोह को दबा दिया गया।

1830 ई. की क्रान्ति का प्रभाव—1830 ई. की क्रान्ति केवल फ्रांस और बेलजियम में सफल हो सकी। जर्मनी और इटली के राज्यों में उदारवादी परिवर्तन केवल मेटरनिख के रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी प्रयत्नों के फलस्वरूप विफल रहे। इसी प्रकार रूस ने पोलैण्ड के आन्दोलन को कुचल दिया। यूरोप में इंगलैण्ड, फ्रांस प्रगतिशील तथा उदारवादी राज्य बन गये और कुछ आने वाले वर्षों में आस्ट्रिया और रूस अत्यन्त प्रतिक्रियावादी राज्य बने रहे। बेलजियम को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में यह क्रान्ति उदारवादी थी, केवल बेलजियम में राष्ट्रीयता के आधार पर एक पृथक राज्य का गठन किया गया।

1830-48 ई. के मध्य यूरोप के अधिकांश राज्यों में शान्ति रही लेकिन इस समय में इंगलैण्ड और फ्रांस में सामाजिक अधिकारों एवं समानता के लिए आन्दोलन होते रहे। इन दोनों राज्यों में निर्वाचन प्रणाली तथा संसद पर सत्तारूढ़ दल का नियंत्रण बना रहा था। इसलिए वयस्क मताधिकार तथा आर्थिक और सामाजिक समानता के लिए आन्दोलन बढ़ता रहा। इस समय में फ्रांस, इंगलैण्ड में औद्योगिक परिवर्तन तेजी के साथ बढ़ते रहे और श्रमिक वर्ग की संख्या में वृद्धि होती रही। 1848 ई. में फ्रांस में क्रान्ति हुई जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। उसी वर्ष यूरोप के अन्य राज्यों में भी क्रान्तियाँ हुई।

अन्य यूरोप के देश

जनवरी 1848 ई. में सिसली में विदेशी नियंत्रण के विरुद्ध विद्रोह हुआ। यह आन्दोलन मुख्यतः राष्ट्रवादी तत्वों से प्रभावित था और विदेशी नियंत्रण को समाप्त करके स्थान में प्रजातान्त्रिक तत्वों को प्रोत्साहन देना चाहते थे। इसके अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम और इंग्लैण्ड में भी कुछ आन्दोलन तथा उपद्रव हुए। वे फ्रांस की भांति अधिक प्रजातन्त्रवाद स्थापित करना चाहते थे। इस सूक्ष्म प्रकार के होते हुए समस्त यूरोप के आन्दोलन एक विशाल आन्दोलन में सम्मिलित हो गये।

इटली और जर्मनी में हुई क्रान्तियों का विस्तृत वर्णन इन राज्यों के राष्ट्रीय एकीकरण के साथ किया गया है। इस वर्ष की सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य में हुईं। लुई फिलिप के विरुद्ध फ्रांस में क्रान्ति का समाचार सुनकर आस्ट्रिया की राजधानी में उपद्रव हुए। मार्च 1848 में मेटरनिख को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया गया और मध्यम वर्ग के सदस्यों की एक सभा बुलाकर आस्ट्रिया के सम्राट ने एक नये संविधान पर विचार-विमर्श करने का वायदा किया। हंगरी में राष्ट्रीय तत्वों के समर्थन के लिए लुई कोसुथ नाम का एक नेता पैदा हुआ। उसने सामन्तों के विरुद्ध एक आन्दोलन खड़ा किया। आन्दोलन बहुत तीव्र गति से बढ़े। परम्परावादी और रूढ़िवादी तत्वों ने कुछ सुविधाएँ देने का वायदा किया लेकिन मुख्य अधिकार अपने पास ही रखे ताकि समय व्यतीत होने पर क्रान्तिकारियों के उत्साह कम हो जाने के पश्चात् वे पूर्व स्थिति को पुन. स्थापित कर सकें।

स्विट्जरलैण्ड में आन्दोलन हुआ और उसके परिणाम स्थाई सिद्ध हुए। 1847 ई में गृहयुद्ध आरम्भ हो चुका था। यूरोप के रूढ़िवादी राष्ट्र सम्भवतः हस्तक्षेप करने की सोच ही रहे थे कि उन देशों में भी क्रान्तियाँ हो गयी, स्विट्जरलैण्ड में गृहयुद्ध भी शीघ्र ही समाप्त हो गया और सितम्बर 1848 ई. में एक वास्तविक संघीय राज्य की स्थापना हुई। इसके अनुसार राज्य के सभी जिलों में गणतन्त्रात्मक पद्धति पर संविधान स्थापित हुए। अगले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय सामूहिक डाक व्यवस्था, मुद्रा प्रणाली आदि स्थापित हुई।

आस्ट्रिया, हंगरी में आन्दोलन अधिक सफल इसलिए नहीं हो सका क्योंकि वहाँ तीन विभिन्न जातियाँ (जर्मन, मगयार और स्लाव) थी और उनमें से कोई भी दूसरे को वे अधिकार देने को तैयार नहीं थी जो वह अपने लिए चाहती थी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति में पूरी तरह से एकता नहीं थी। इस आपसी विरोध के कारण आस्ट्रिया के शासक निश्चिन्त थे। 1848 ई. के अन्त तक आस्ट्रिया अपनी सेनाओं द्वारा इन पृथक राष्ट्रवादियों के आन्दोलनों को कुचल चुका था। 1849-50 ई. में यह सब आन्दोलन प्राय. समाप्त हो चुके थे, इटली और जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न हो चुकी थीं। यहाँ तक कि उदारवादी परिवर्तन भी धीमे-धीमे आस्ट्रिया और प्रशा में समाप्त हो रहे थे।

1848 ई. की क्रान्ति के परिणाम

यद्यपि 1849-50 ई. तक यूरोप पुनः पहले की स्थिति को लौट आया था लेकिन कुछ परिणाम इस क्रान्ति के स्पष्ट दिखायी पड़ते थे।

(1) सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि यह क्रान्ति 1815 ई. में स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध थी। फ्रांस में 1789 ई. की क्रान्ति की भांति गणतंत्र और प्रजातंत्र की स्थापना का प्रयत्न किया गया था। इटली और जर्मनी में आस्ट्रिया के साम्राज्य के आधिपत्य को समाप्त करने के लिए प्रयत्न किया गया था। आस्ट्रिया और प्रशा में ये आन्दोलन उदारवाद और प्रजातंत्रीय प्रणाली की स्थापना के लिए थे।

(2) इस आन्दोलन की सबसे पहली घटना यद्यपि इटली में हुई थी लेकिन फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात् समस्त यूरोप में क्रान्ति फैल गयी। 1848 ई. की क्रान्ति शीघ्र ही फ्रांस में नियमित हो गयी लेकिन क्रान्ति के मुख्य केन्द्र इटली और आस्ट्रिया-हंगरी में रहे। क्रान्ति के क्षेत्र में भी फ्रांस का स्थान गौण होता दिखाई पड़ा। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 1848 ई. की क्रान्ति के प्रेरणा स्रोत राष्ट्रीयता से अधिक प्रभावित थे और संवैधानिक सुविधाओं से कम।

(3) इस क्रान्ति का प्रभाव इगलैण्ड और बेलजियम पर सबसे कम पड़ा। इसका कारण सम्भवतः यह रहा हो कि इन दोनों देशों में ऐसी प्रशासन पद्धति विकसित हो चुकी थी जिसके द्वारा लोगों का असन्तोष दूर किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयता के आधार पर ऐसी कोई आवश्यकताएँ नहीं थीं जिनकी पूर्ति इंगलैण्ड और बेलजियम में शेष हो।

1848 ई. के पश्चात् यूरोपीय राजनीति में सामान्य जनता का योगदान अधिक बढ़ा। अब सरकारों को समस्त जनता की ओर ध्यान देना पड़ा। 1848 ई. के आन्दोलनों को सेनाओं द्वारा विफल कर दिया गया था इसलिए विभिन्न राज्यों में सैनिक शक्ति के महत्व पर अधिक ध्यान दिया गया और इस प्रकार अगले 25-30 वर्षों में सैन्य शक्ति के गठन पर प्रायः अधिकांश देशों में ध्यान दिया गया। इस प्रकार बिस्मार्क के सैन्यवाद की पृष्ठभूमि स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

मध्यम वर्ग के विकास और उदारवाद का प्रभाव

राजनीतिक प्रभाव

(1) नये वर्ग के हाथ में सत्ता प्राप्त होना—यह बात सामान्यतः कही जा सकती है कि सभी देशों में जितने भी राजनीतिक परिवर्तन हुए थे उनका लक्ष्य अथवा परिणाम यह था कि मध्यम वर्ग को सत्ता प्राप्त हो जाये। मताधिकार का विस्तार केवल सम्पत्ति प्राप्त वर्गों तक ही सीमित था। विभिन्न देशों में सामन्त अथवा कुलीन वर्ग भी सत्ता प्राप्त सदनों एवं संस्थाओं के सदस्य होते थे लेकिन उनमें से प्रत्येक दल अथवा वर्ग यह समझता था कि भविष्य इस मध्यम वर्ग के साथ ही है।

(2) सरकार के कार्य क्षेत्र का विस्तार—जिस समय तक राज्य केवल

सामन्तों तथा कुलीन घरानों तक सीमित रहता था उस समय तक शान्ति बनाये रखना तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए प्रबन्ध करना राज्य का मुख्य लक्ष्य था। अब राज्य की एक नयी कल्पना उत्पन्न हुई जिसमें वहाँ के नागरिकों के सामान्य जीवन से राज्य का घनिष्ठ सम्पर्क हो। मध्यकालीन धारणा कि राजा और प्रजा में वही भेद होता है जो आदेश देने वाले और आज्ञा पालन करने वालों में होता है, अब प्रायः समाप्त होती जा रही थी। राज्य और समाज की एक-दूसरे पर निर्भरता पर विशेष ध्यान दिया गया। आधुनिक इतिहास का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कि राज्य की सर्वोच्चता तथा प्रभुसत्ता वहाँ के नागरिकों में निहित है, उसी समय प्रभावशाली बन पाया था। इससे न केवल पुरानी परम्परागत वंशानुगत पद्धति समाप्त हुई बल्कि राज्यों के कार्यों और लक्ष्यों में भारी परिवर्तन आया।

(3) साम्राज्यवाद का विकास—उदारवाद और औद्योगिक परिवर्तनों से प्रभावित होकर राज्य की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई। तकनीकी विज्ञान और वैज्ञानिक अनुसन्धान के फलस्वरूप शक्ति के नये साधनों का पता लगा। औद्योगिक परिवर्तनों से समस्त समाज सक्रिय हो गया था। सगठन एवं विचारों की स्वतंत्रता से समाज में बहुत-से ऐसे आन्दोलन पैदा हो जाते थे जिन पर सरकारी नियंत्रण सम्भव नहीं था। इस जागृत जन शक्ति में पैदा हुए आन्दोलन से राज्य सरकार भी नहीं बच सकती थी। अधिक जनसंख्या की समस्या और अधिक उत्पादन की समस्या तथा कच्चे माल की आवश्यकता ऐसे तत्त्व थे जिन पर सरकार चाहते हुए भी नियंत्रण नहीं कर पा सकती थी। यह तत्त्व ही साम्राज्यवाद को जन्म देने में सहायक हुए। एक देश द्वारा साम्राज्यवादी नीति अपना लिये जाने के पश्चात् अन्य देश भी उसमें पीछे नहीं रह सकते थे।

सामाजिक और आर्थिक प्रभाव

(1) शिक्षा का प्रसार—18वीं शताब्दी के पश्चात् यह भावना बढ़ रही थी कि समाज के प्रत्येक वर्ग को शिक्षित होना चाहिए। जैसे-जैसे मताधिकार सामान्य जनता तक विस्तृत होता गया वैसे-वैसे यह आवश्यकता भी बढ़ती गयी कि शिक्षा का प्रबन्ध समाज के समस्त वर्गों तक फैला हुआ होना चाहिए। इस प्रश्न पर वाद-विवाद हो सकता था कि किस स्तर की शिक्षा प्रत्येक नागरिक को उपलब्ध होनी चाहिए लेकिन उस तथ्य की आवश्यकता पर मतभेद नहीं था।

इसी क्षेत्र में एक दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि शिक्षा को धर्म के नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया। शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना रहा न कि स्वर्ग और नर्क के सम्बन्ध में। फ्रांस में सबसे पहले एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का विकास किया गया। यूरोप में सबसे अधिक विकसित शिक्षा प्रणालियाँ स्विट्जरलैण्ड, हॉलैण्ड और बेल्जियम में देखने को मिलती हैं। इंग्लैण्ड में कुलीन वर्ग अधिक शिक्षित था लेकिन सामान्य लोगों की शिक्षा पर 1870 ई. के पश्चात् ही विशेष ध्यान दिया जा सका।

(2) **सार्वजनिक हित के कार्य**—राज्यों में नये नगरों का निर्माण हो रहा था जहाँ पर जनसंख्या बड़े वेग से बढ़ रही थी। उद्योगों में काम करने वालों के स्वास्थ्य और कल्याण के कार्य श्रमिकों के हित में तो थे ही किन्तु पूंजीपति और मध्यम वर्ग के लोग भी इस नीति के समर्थक थे। यह कार्य मुख्यतः चार क्षेत्रों में हुए—स्वास्थ्य, प्रारम्भिक शिक्षा, श्रमिकों की कार्य प्रणाली को नियंत्रित करना तथा सार्वजनिक कल्याण सम्बन्धी संस्थाओं पर सरकार का नियंत्रण। इन कार्यों को बढ़ाने में मध्यम वर्ग ने भी योगदान दिया। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि ये अधिकांश कार्य सरकार की ओर से आरम्भ किये गये। सामाजिक दबाव अथवा आन्दोलन उस समय नहीं था। मध्यम वर्ग के हाथों में राज्य नीति का संचालन इसलिए भी अधिक समय तक बना रहा क्योंकि इसका लक्ष्य उन वर्गों के कल्याण के लिए कार्य करना था जो इस कार्य के विरुद्ध संगठित हो सकते थे। यही कारण था कि 19वीं शताब्दी में वर्ग संघर्ष उतना अधिक नहीं था जितना बीसवीं सदी में दिखाई पड़ता है।

(3) **अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि**—19वीं शताब्दी में औद्योगिक परिवर्तन, मध्यम वर्ग का विकास तथा आवागमन के साधनों में परिवर्तन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर पड़ा। आर्थिक क्षेत्र में इतना बड़ा परिवर्तन पहले नहीं हुआ था। अब वस्तुओं के भाव विश्वव्यापी तत्त्वों से प्रभावित होने लगे। प्रत्येक देश के लिए यह आवश्यक नहीं रहा कि वह अपने नागरिकों के लिए अन्न भी स्वयं ही पैदा करे। एक देश औद्योगिक क्षेत्र में विशेष प्रगति करके अपनी अन्य कमियों को दूर कर सकता था। विश्व के विभिन्न देश आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर रहने लगे। 20वीं शताब्दी में यह अन्तरराष्ट्रीय व्यापार देशों को एक-दूसरे के अधिक निकट लाने में सहायक हुआ।

(4) **साहित्य एवं जीवन स्तर में परिवर्तन**—19वीं शताब्दी में एक विस्तृत मध्यम वर्ग विकसित हो रहा था। इस वर्ग के पास पूंजी पर्याप्त थी। यह वर्ग अधिक पूंजी खर्च कर सकता था। इसी समय स्त्रियों के फैशन में विभिन्न परिवर्तन हुए। इस वर्ग के पास पूंजी अधिक होने और समय अधिक होने से इसे सस्ते तथा मनोरंजक साहित्य की आवश्यकता हुई। इससे उपन्यास अधिक लोकप्रिय बन गया। मनोरंजन के ऐसे साधन जो घर के अन्दर ही बैठे-बैठे उपयोग में आ सकें, अधिक लोकप्रिय हो गये।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए।

1. 19वीं सदी में जिस वर्ग का विकास हुआ वह था—
   (क) कुलीन वर्ग
   (ख) शासक वर्ग

(ग) मध्यम वर्ग
(घ) पादरी वर्ग ( )

2. फ्रांस को दूसरी बार गणतंत्र कब घोषित किया गया—
(क) 1815 ई.
(ख) 1830 ई
(ग) 1848 ई.
(घ) 1852 ई. ( )

3. 1830 ई. की क्रान्ति में जिस देश मे राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य परिवर्तन हुआ वह था—
(क) सार्डिनिया पीडमोण्ट
(ख) प्रशा
(ग) बेलजियम
(घ) ग्रीस
(ङ) पुर्तगाल ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निदश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5-6 पक्तियो मे दीजिए।

1. 19वी सदी मे मध्यम वर्ग क्यों विकसित हुआ—कोई दो कारण लिखिए।
2. उदारवाद से आप क्या अर्थ समझते हैं—पाँच लाइनो मे लिखिए।
3. 1848 ई. की क्रान्ति के कोई दो परिणाम लिखिए।

9

राष्ट्रीयता का विकास तथा इटली का एकीकरण

रोमाण्टिक आन्दोलन

19वीं शताब्दी में जहाँ एक ओर औद्योगिक प्रगति हो रही थी और मध्यम वर्ग राजनीति अथवा उद्योगों की जटिल समस्याओं में अपने को उलझा हुआ समझता था, दूसरी ओर साहित्य तथा कला में रोमाण्टिक आन्दोलन शुरू हो रहा था। रोमाण्टिक आन्दोलन का अर्थ था कि सत्य की खोज में भावनाएँ प्रधान हैं और वे ही ठीक मार्ग प्रदर्शित कर सकती हैं और शास्त्रीय आदर्शों के स्थान पर उन चीजों का चित्रण अथवा वर्णन किया जाय जो सुन्दर हों। विद्वानों ने अन्य विद्याओं की अपेक्षा इतिहास के अध्ययन पर अधिक जोर दिया। समुदायों तथा समाज के क्रमिक विकास तथा प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की उत्पत्ति पर अधिक ध्यान दिया गया।

इतिहास का यह पुनः अध्ययन तार्किक कम होता था और व्यावहारिक अधिक। यह अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता था जिससे यह पता लग सके कि वास्तव में घटनाएँ किस प्रकार से हुईं। दार्शनिक पक्ष पर कम महत्त्व दिया जाता था। इतिहास के अध्ययन का विषय भावना प्रधान अधिक होता था और तार्किक कम होता था। रोमाण्टिक साहित्यकारों ने उदारवाद को चाहे प्रोत्साहन न दिया हो लेकिन राष्ट्रीयता को निश्चित रूप से बढ़ावा दिया। भावनाओं को प्रोत्साहन देने के लिए प्रेरणा स्रोत धुंधले भूतकाल से ढूंढ़े। इस कार्य में लोक गाथाओं, पुरानी शौर्य कृतियों को पुनः जीवित किया गया। इन सबका प्रभाव एक समुदाय के पृथक अस्तित्व पर बल देना था।

फ्रांस की क्रान्ति का योगदान—फ्रांस की क्रान्ति ने यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा दिया था जबकि आस्ट्रिया और प्रशा के आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावनाओं को बढ़ावा दिया गया था। फ्रांस ने राष्ट्रीय सेना का संगठन करके तथा इटली और जर्मनी में अन्य छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त करके एक बड़े संघ की स्थापना की थी। नेपोलियन का पतन स्पेन और प्रशा के राष्ट्रीय संघर्षों के परिणाम-स्वरूप हुआ था।

इस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति तथा रोमाण्टिक आन्दोलनों ने उस सर्वदेशीय तथा विश्वव्यापी भावना को समाप्त कर दिया जिस पर निरंकुश राजतन्त्र आधारित

था। जर्मनी ने फ्रांस के सांस्कृतिक आदर्शों को अनुकरणीय न मानकर अपनी पृथक संस्कृति को उभारा लिया और ऐसा ही इटली में हुआ।

इटली का राष्ट्रीय एकीकरण

मुख्य बाधाएँ—19वीं शताब्दी के आरम्भ में इटली वास्तव में एक भौगोलिक इकाई मात्र था। इसका कोई राजनीतिक अस्तित्व नहीं था। साथ के नक्शे के देखने से पता चलेगा कि इटली कई भागों में विभाजित था। उसके दो बड़े प्रदेश—लुम्बार्डी और वेनेशिया—आस्ट्रिया के अधिकार में थे। टस्कनी, मोडेना और पार्मा के राज्य भी

आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजकुमारों को ही प्राप्त थे। नेपिल्स और सिसली में फ्रांस (बूर्बों वंश) के राजकुमार शासन करते थे और पोप के अधीन मध्य इटली का काफी बड़ा

भाग था। इन विभिन्न राज्यों में विभक्त होने के कारण तथा मध्यकाल में नगरों के पृथक विकास के कारण इटली में एकीकरण एक कठिन प्रश्न था।

ऐतिहासिक पृथकता के कारण विभिन्न नगरों मे तथा राज्यों मे आपसी विरोध था। मेजिनी ने लिखा था : "हमारा न कोई झडा है, न कोई राजनीतिक नाम है, न यूरोप के राष्ट्रो के मध्य हमारा कोई स्थान है। हमारा कोई एक केन्द्र नही है। हम 8 राज्यो मे विभक्त है। इन राज्यों मे कोई मैत्री सम्बन्ध नही थे। हर एक की मुद्रा प्रणाली भिन्न थी और एक के निवासी दूसरे को अजनबी समझते थे। इटली के राष्ट्रीय एकीकरण मे तीन व्यक्तियों का अत्यधिक योगदान रहा—मेजिनी जिसे राष्ट्रीयता का दार्शनिक कहा जा सकता है, गेरीबाल्डी जिसे इस राष्ट्रीय संग्राम का सेनानी कहा जा सकता है और कावूर जिसे इस एकीकरण का कूटनीतिक संचालक कहा जा सकता है। इन तीनो नेताओं के सामूहिक परिश्रम तथा योगदान का परिणाम इटली का राष्ट्रीय एकीकरण था।

जोजेफ मेजिनी का योगदान (*1805-1872 ई.*)—मेजिनी का पिता एक डाक्टर था। अपने बाल्यकाल मे उस पर रोमाण्टिक लेखकों का प्रभाव बहुत अधिक हुआ और उसके जीवन से रोमाण्टिक आन्दोलन और राष्ट्रीयता का गहरा सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। उसने आरम्भ मे 'कारबोनारी' सोसायटी की सदस्यता ग्रहण की। कारबोनारी शब्द का अर्थ होता है, 'कोयला जलाने वाले'। यह एक गुप्त संस्था थी जिसका लक्ष्य विदेशियो को इटली से बाहर निकालना था। मेजिनी 1830 ई. मे इसी प्रकार के एक षडयन्त्र में पकड़ा गया और उसको देश से निर्वासित कर दिया गया।

इसके पश्चात् मेजिनी ने 'नवयुवक इटली' नाम की संस्था का संचालन किया जिससे नवयुवकों को प्रोत्साहित कर सके। इस संस्था में केवल 40 वर्ष से कम आयु वाले व्यक्तियो को भर्ती किया जाता था। 1830-49 ई. तक अधिकांश समय मेजिनी इंगलैण्ड और फ्रांस मे रहा और अपने लेखो से इटली मे जागरण उत्पन्न करता रहा। वह समस्त इटली के लिए गणतन्त्र स्थापित करना चाहता था। उसे इटली में राष्ट्रीय भावना का जन्मदाता कहा जाता है।

जोजेफ गेरीबाल्डी (*1807-1882 ई.*)—गेरीबाल्डी 1807 ई. मे नीस राज्य मे पैदा हुआ। उसके माता-पिता ने उसे पादरी बनाने का प्रयत्न किया, लेकिन वह बचकर भाग गया और बाद मे मेजिनी के नेतृत्व मे 'नवयुवक इटली' में सम्मिलित हो गया। वह गणतन्त्र का समर्थक था और पीडमोण्ट के विरुद्ध षड्यन्त्र में उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया लेकिन वह भागकर अमरीका चला गया। 1848 ई. की यूरोपव्यापी क्रान्ति का समाचार सुनकर वह इटली वापस आया। वह आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध मे भाग लेता रहा। 1849 ई. उसने पोप के राज्य पर अधिकार कर लिया लेकिन फ्रांस की सहायता पोप को मिल जाने से गेरीबाल्डी को हटना पड़ा। 1860 ई. मे उसने अपने लाल कुर्तियों के साथ सिसली और नेपिल्स पर अधिकार कर लिया और फिर इन दोनों राज्यों को सार्डिनिया के शासक को सौंप दिया। यह आत्मत्याग का बड़ा

जोजेफ गेरीबाल्डी

उज्ज्वल उदाहरण है। गेरीबाल्डी को इस बात से दुःख था कि उत्तरी इटली के नेता उस पर विश्वास नहीं करते थे। उसने राजनीति से अलग हटकर कैप्रेरा में अपने कृषि फार्म पर कार्य करना आरम्भ किया और 1882 ई में उसकी मृत्यु हो गयी।

काबूर (1810-1861 ई)—काबूर का जन्म पीडमोण्ट राज्य के तूरिन नगर मे हुआ। उसने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करके सेना मे पद प्राप्त किया, लेकिन उदार विचारो का व्यक्ति होने के नाते उसे यह पद त्याग देना पडा। 1831 ई मे 1843 ई. तक उसका अधिकांश समय फ्रांस, इगलैण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड आदि की यात्रा मे तथा अपनी पैतृक जागीर के प्रबन्ध मे व्यतीत हुआ। उसने राजनीतिक समस्याओ पर कुछ लेख आदि लिखकर अपने उदार विचारों का परिचय दिया। 1847 ई मे उसने एक पत्रिका 'इल रिसोर्जिमेण्टो' नाम से प्रकाशित करना आरम्भ किया। इसका अभिप्राय इटली मे एकता स्थापित करना था। 1848 ई. मे वह सार्डिनिया पार्लियामेन्ट का सदस्य निर्वाचित हुआ। 1850 ई. मे वह सार्डिनिया मे कृषि तथा वाणिज्य मन्त्री बना। 1852 ई. मे वह प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया जिस पर वह कुछ महीनो की अवधि छोड़कर अन्त तक (1861 ई.) कार्य करता रहा।

काबूर

इटली की राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में उसका बहुत बड़ा हाथ था। उसने ही इटली की एकता को यूरोपीय समस्या बनाया और आस्ट्रिया को हराने में फ्रांस का सहयोग प्राप्त किया। वह समझता था कि बिना किसी बड़े राष्ट्र की सहायता के इटली का एकीकरण सम्भव नहीं है। इटली को एक राष्ट्र के रूप में सगठित कर

देना उसकी ही देन है। वह मेजिनी तथा गेरीबाल्डी के प्रयत्नों को एक साकार रूप प्रदान कर सका।

इटली की एकता की ओर प्रयास (1815 से 1850 ई.)

इस समय इटली का इतिहास आपसी फूट, विदेशी नियन्त्रण और विफल संघर्ष का इतिहास है। फ्रांस की क्रान्ति से जो कुछ राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई थी वह 1815 ई. की व्यवस्था से समाप्तप्राय हो गयी थी। इटली के राष्ट्रवादियों और देशभक्तो के लिए गुप्त संस्थाएँ और षड्यन्त्र करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न रह गया था। 1820-21 ई. मे नेपिल्स तथा पीडमोण्ट के लोगों ने विद्रोह किया लेकिन आस्ट्रिया के हस्तक्षेप से यह विद्रोह कुचल दिया गया। 1830 ई. की फ्रांस की सफल क्रान्ति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भी इटली में विभिन्न स्थानों पर क्रान्ति का सूत्रपात हुआ लेकिन 1831 ई. तक मेटरनिख इन क्रान्तियों को दबाने में सफल हुआ।

1831 ई. तक इन प्रयत्नो की असफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि इटली मे राष्ट्रीय एकता केवल नवयुवको के प्रयत्नो से स्थापित नही हो सकती क्योंकि देश की साधारण जनता अभी उनके साथ नही थी। लेकिन इस समय के आन्दोलनों से कुछ बातें पूरी तरह स्पष्ट हो गयी थीं—(1) इटली के एकीकरण के मार्ग में मुख्य बाधा आस्ट्रिया का इटली पर नियन्त्रण था। वह ही इटली की राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा शत्रु था। (2) इटली की जनता मे राष्ट्रीय एकता की भावना बहुत कम थी इसलिए इस बात की आवश्यकता थी कि इस भावना को फैलाया जाय। इटली के विभिन्न राजा दुर्बल थे और विदेशी सहायता के अभाव मे वे एकता आन्दोलन को रोकने मे असमर्थ थे।

मेजिनी का कार्य—इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन का पैगम्बर मेजिनी था। वह इटली का पहला नेता था जिसने इटली में राष्ट्रीयता की भावना को पैदा किया तथा बढाया और इटली की एकता के स्वप्न को साकार बनाने का प्रयत्न किया। उसने विभिन्न लेखो द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि इटली एक राष्ट्र है। उसने परम्पराओ तथा ऐतिहासिक स्मृतियो के आधार पर इटली की राष्ट्रीय एकता को स्पष्ट समझा था। उसने देश के नवयुवकों को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया। मेजिनी ने अपने चारो ओर नवयुवको की एक ऐसी टोली इकट्ठी की जो देश-भक्ति की भावना से प्रेरित थी। उनको संगठित करके उनमें क्रान्ति की भावना जागृत की। उसकी 'नवयुवक इटली' सस्था के सदस्यो की सख्या 60 हजार से भी अधिक हो गयी थी। गेरीबाल्डी भी उसका ही अनुयायी था।

सार्डिनिया का नेतृत्व—राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने के लिए दूसरा क्रियात्मक दल राजतन्त्रवादियों का था। वे सार्डिनिया के शासक चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में इटली की एकता स्थापित करना चाहते थे। उत्तर-पश्चिमी इटली मे सार्डिनिया पीडमोण्ट का राज्य था। सार्डिनिया एक द्वीप था लेकिन 1720 ई. के पश्चात् से यहाँ

के शासक को सार्डिनिया का शासक कहा जाता था। यह राज्य ही आस्ट्रिया के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता रखता था। वह सीमित राजतन्त्र का समर्थक था। इसी कारण 1848 ई. की क्रान्ति में उसने सार्डिनिया-पीडमोण्ट में सीमित राजतन्त्र की स्थापना की थी।

इटली में 1848 ई की क्रान्ति—1846 ई. में पोप पायस नवाँ एक उदार विचारों का पोप था। उसने अपने राज्य में उदारवादी आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। प्रेस से प्रतिबन्ध हटा लिये गये और इस प्रकार इटली में कुछ लोग पोप के नेतृत्व में एकीकरण का समर्थन करने लगे। 1846 ई में सार्डिनिया ने आस्ट्रिया को इटली से निकालने की अर्द्ध शताब्दी मनायी क्योंकि 1796 ई. में नेपोलियन ने आस्ट्रिया का नियन्त्रण इटली में समाप्त कर दिया था।

1848 ई में फ्रांस तथा आस्ट्रिया में क्रान्ति हो जाने पर सार्डिनिया ने केवल अपने राज्य में ही संवैधानिक सुधार नहीं किये बल्कि वेनेशिया तथा लुम्बार्डी में आस्ट्रिया विरोधी विद्रोह का नेतृत्व भी किया। आरम्भ में पोप ने उसका समर्थन किया लेकिन गणतन्त्रवादियों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर उन्होंने अपनी सेनाएँ वापस बुला ली। चार्ल्स एल्बर्ट आस्ट्रिया के विरुद्ध सफल नहीं हो सका। आस्ट्रिया ने दबाव डालकर सीमित राजतन्त्रीय प्रणाली को, जिसे सार्डिनिया ने स्थापित किया था, समाप्त करवाना चाहा, लेकिन एल्बर्ट ने अपने बेटे विक्टर इमैन्युअल को राजा बना दिया। इटली फिर पहले जैसी स्थिति में आ गया।

इस विफल क्रान्ति के दो लाभदायक परिणाम निकले। पहला तो यह था कि इटली के सब राजाओं तथा पोप में सार्डिनिया के शासक का नेतृत्व निश्चित हो गया और कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसने राष्ट्रीय एकता का समर्थन न किया हो। दूसरा परिणाम यह था कि पहली बार इटली की समस्त जनता ने राष्ट्रीयता की भावना व्यक्त की थी। सब राज्यों में प्राय एकता की भावना प्रभावशाली हो चुकी थी।

इटली के एकीकरण का पहला चरण (1849-1859 ई.)

कावूर की नीति—इमैन्युअल के राजा बनने के पश्चात् सार्डिनिया की संसद में कावूर एक प्रभावशाली नेता था। इमैन्युअल ने उसको 1850 ई. में कृषि तथा वाणिज्य मन्त्री बनाया और 1852 ई में उसे प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। कावूर की महानता इस बात में थी कि उसने इटली की एकता के लिए आस्ट्रिया को मुख्य शत्रु समझा और उसके विचार में अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी बाह्य शक्ति की सहायता लेना आवश्यक था। वह यह जानता था कि अभी तक इटली की समस्या आस्ट्रिया की घरेलू समस्या समझी जाती है। उसने आस्ट्रिया के निरकुश शासन तथा इटली की राष्ट्रीय एकता की भावना को यूरोप के समक्ष रखने का निश्चय किया। ये दोनों कार्य ही कावूर को महान बनाने में सहायक हुए।

प्लाम्बियर्स समझौता (1858 ई.)—कावूर ने अपनी नीति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए इंगलैण्ड और फ्रांस का रूस के विरुद्ध क्रीमिया युद्ध में साथ दिया। यद्यपि

चाहता था, लेकिन पोप पर आक्रमण कर देने से फ्रांस से मित्रता के सम्बन्ध टूट सकते थे तथा आस्ट्रिया पुनः आक्रमण कर सकता था। इसलिए सार्डिनिया का शासक स्वयं नेपिल्स पहुँचा और जनमत संग्रह द्वारा नेपिल्स और सिसली को सार्डिनिया के साथ मिला दिया गया। गेरीबाल्डी सब कुछ त्याग कर वापस चला गया। इतिहास में राजनीतिक बलिदान के ऐसे उदाहरण कम ही देखने को मिलते हैं। इसी बीच सार्डि-

इटली का एकीकरण
1859–1870

निया की सेनाओं ने पोप के राज्यों में सफलता प्राप्त कर ली और जनमत के आधार पर अम्ब्रिया और मार्चेज (पोप के अधीन दो राज्यों के नाम) को सार्डिनिया के साथ मिला लिया।

1861 ई. में इटली की स्थिति—जनवरी 1861 ई. में पहली बार तूरिन के स्थान पर समस्त इटली की संसद का अधिवेशन आरम्भ हुआ। इसमें वेनेशिया और रोम को छोड़कर शेष समस्त इटली के प्रतिनिधि उपस्थित थे। कुछ ही महीनों पश्चात्

कावूर की मृत्यु हो गयी। कावूर यद्यपि अपने लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सका फिर भी उसने ऐसी नीति का निर्माण किया जिसके आधार पर इटली का राष्ट्रीय एकीकरण सम्भव हो सका।

कावूर के कार्यों का मूल्यांकन—कावूर इटली के राष्ट्रीय एकीकरण के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है। उसकी नीति ही यह लक्ष्य निर्धारित कर सकी कि इटली को अपने एकीकरण के लिए किसी बड़े राष्ट्र की मैत्री आवश्यक थी। इटली के चार प्रमुख नेताओं (मेजिनी, गेरीबाल्डी, कावूर तथा विक्टर इमैन्युअल) में कावूर का स्थान अन्य की अपेक्षा ऊँचा है। मेजिनी एक अव्यावहारिक आदर्शवादी था तथा गेरीबाल्डी एक वीर लडाकू था। लेकिन कावूर की राजनीतिक कुशलता के अभाव मे मेजिनी का आदर्शवाद और गेरीबाल्डी की वीरता निष्फल रह जाती। कावूर ने अपनी योग्यता से मेजिनी की प्रेरणा को कूटनीतिक शक्ति में और गेरीबाल्डी की तलवार को राष्ट्रीय शस्त्र में बदल दिया। इटली की एकता कावूर की नीति का ही परिणाम था।

अधूरे कार्य को पूरा करना

वेनेशिया की प्राप्ति (1866 ई.)—वेनेशिया का प्रदेश आस्ट्रिया के अधीन था इसलिए यह उसी समय प्राप्त हो सकता था जबकि कोई महान शक्ति या तो आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर रही हो या सार्डिनिया का आस्ट्रिया के विरुद्ध सैनिक समर्थन करे। नेपोलियन तृतीय 1861 ई. के पश्चात् पतन की ओर बढ रहा था और उसकी सहायता अब उपलब्ध नहीं हो सकती थी। यह अवसर 1866 ई. मे आया जब प्रशा और आस्ट्रिया मे (जर्मनी के एकीकरण हेतु) लड़ाई आरम्भ हुई। सार्डिनिया ने इस अवसर का लाभ उठाया और प्रशा की ओर से आस्ट्रिया के विरुद्ध लड़ाई में भाग लिया। दोनों देशों में यह तय किया गया कि सार्डिनिया की सेनाएँ वेनेशिया पर आक्रमण करेंगी और प्रशा उस समय तक आस्ट्रिया से सन्धि नही करेगा जब तक आस्ट्रिया वेनेशिया पर से अपना अधिकार समाप्त न कर दे। युद्ध में सार्डिनिया की सेनाएँ तो आस्ट्रिया के विरुद्ध सफलता प्राप्त नहीं कर सकी, लेकिन प्रशा की सफलता के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया को वेनेशिया का प्रदेश सार्डिनिया को देना पड़ा और इस प्रकार अब रोम को छोडकर शेष समस्त इटली एक साथ सगठित हो चुका था।

रोम पर अधिकार (1870 ई.)—पोप के अधीन रोम का राज्य मध्य इटली में था। रोम के पोप की सैनिक सुरक्षा के लिए फ्रास के सम्राट नेपोलियन तृतीय ने अपनी सेनाएँ रोम मे रखी हुई थी। इसलिए रोम की समस्या इटली के लिए एक प्रमुख समस्या बनी हुई थी। रोम के पोप का धार्मिक प्रभाव भी अधिक था इसलिए पोप विरोधी कोई नीति सरलता से नही अपनाई जा सकती थी।

लेकिन इटली को यह सुअवसर भी शीघ्र ही मिल गया। 1870 ई. मे फ्रास और प्रशा के मध्य (जर्मन एकीकरण सम्बन्धी) लड़ाई आरम्भ हो गयी और फ्रास को अपनी सेनाएँ रोम से वापस बुलानी पड़ी। ऐसी स्थिति मे पोप पर सरलता से आक्रमण किया जा सकता था। विक्टर इमैन्युअल ने पोप से इटली मे सम्मिलित हो जाने के लिए कहा। पोप

समय रेखा

1840
1842
1844
1846
1848
1850
1852
1854
1856
1858
1860
1862
1864
1866
1868
1870
सार्डिनिया पीडमोन्ट में सीमित राजतंत्र की स्थापना
कावूर को कृषि तथा वाणिज्य मंत्री नियुक्त करना
कावूर का प्रधान मंत्री बनना
सार्डिनिया का क्रीमिया युद्ध में भाग लेना
पेरिस शान्ति सम्मेलन
प्लोम्बियर्स समझौता
आस्ट्रिया सार्डिनिया युद्ध
गेरीबाल्डी का सिसली पर अधिकार
तुरिन मे इटली की संसद का अधिवेशन आरम्भ, केवूर की मृत्यु
प्रशा का युद्ध में समर्थन, वेनेशिया का प्रदेश इटली को प्राप्त होना
रोम के राज्यों पर इटली का अधिकार, राष्ट्रीय एकीकरण की पूर्ति
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 2 वर्ष
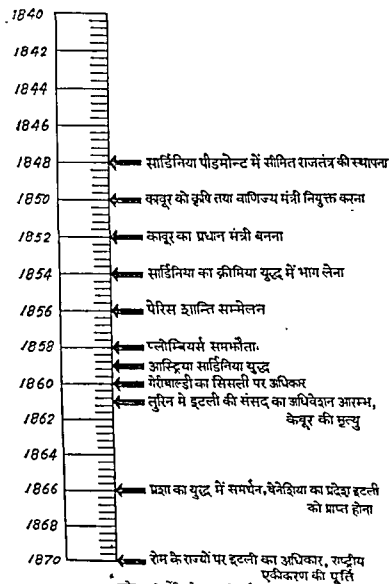
के [illegible] होने पर इमैन्युअल ने 20 सितम्बर, 1870 ई. को रोम पर अधिकार कर लिया और जनमत के समक्ष इटली में विलय के प्रश्न को प्रस्तुत किया। पोप के समर्थन में बहुत कम मत आये। रोम को इटली में सम्मिलित कर दिया गया। पोप के राज्य को इटली में मिला लिए जाने के पश्चात् इटली ने पोप को कुछ विशेष सुविधाएं तथा आश्वासन दिये। इसके अनुसार पोप की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया गया, और उसे विभिन्न स्वतन्त्र देशों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार था। उसको 6 लाख 45 हजार डालर की वार्षिक आर्थिक सहायता दिये जाने का वादा किया तथा इटली के संचार साधनों का निःशुल्क प्रयोग का अधिकार भी पोप को प्रदान किया गया। पोप ने इन सुविधाओं का प्रयोग नहीं किया और उसने अपने आपको "वैटिकन" (पोप का स्वतन्त्र राज्य) का बंदी राज्य घोषित किया। 1929 ई. में पोप और मुसोलिनी में समझौता हुआ था। उस समय तक पोप ने इटली की भूमि पर कदम नहीं रखा था।

1871 ई. में रोम को संयुक्त इटली की राजधानी घोषित कर दिया गया और इटली राष्ट्रीय राज्य बन चुका था। यह राज्य जो 1815 ई. में केवल एक भौगोलिक अभिव्यक्ति था, 1871 ई. में एक राष्ट्रीय राज्य बन चुका था।

इटली के एकीकरण का महत्त्व—इटली के एकीकरण से पूरे यूरोप में आठ राज्यों के स्थान पर एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हो गयी थी, लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं था कि राष्ट्रीय राज्य की सीमाएँ निश्चित हो गयी थीं। वास्तव में 1871 ई. के पश्चात् इटली की विदेश नीति की एक मुख्य समस्या, इटली में उन प्रदेशों को सम्मिलित करने का प्रयत्न था जहाँ पर इटली राष्ट्र के लोग रहते थे। यह भावना ही इटली की प्रमुख नीतियों को निश्चित करने में सफल हुई। जर्मनी और आस्ट्रिया की मित्रता हो जाने (1879 ई.) के पश्चात् इटली जर्मनी का मित्र बन गया लेकिन इंगलैण्ड और फ्रांस से दोस्ती के पश्चात् इटली जर्मन विरोधी गुट में सम्मिलित हो गया। प्रथम विश्व युद्ध में भी इटली अपनी उस राष्ट्रीयता को पूरा करने में लगा रहा जिसको 1871 ई. में पूरा नहीं कर पाया था लेकिन इस लक्ष्य में असफलता मिलने से प्रथम युद्ध के पश्चात् इटली में उग्र राष्ट्रीयता का जन्म हुआ और मुसोलिनी के नेतृत्व में यूरोपीय शान्ति भंग होने में सहायता मिली।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. रोमाण्टिक आन्दोलन का अर्थ था—
   (क) भावना ही जनता के लिए ठीक मार्ग प्रदर्शित करती है
   (ख) शास्त्रीय आदर्श ही अनुकरणीय हैं
   (ग) केवल बाह्य सौन्दर्य का वर्णन गलत है
   (घ) तर्क के आधार पर ही उचित मार्ग का नियत्रण सम्भव है ( )
2. रोमाण्टिक आन्दोलन का क्षेत्र था—
   (क) राजनीतिक (ख) सामाजिक

(ग) साहित्य और कला (घ) आर्थिक ( )

3. मेजिनी ने नवयुवकों में प्रोत्साहन के लिए एक संस्था स्थापित की, जिसका नाम था—
(क) नवयुवक इटली (ख) कारबोनारी
(ग) रेड शर्ट (लाल कुर्ती) (घ) फासिस्ट पार्टी ( )

4. इटली में राष्ट्रीय भावना का जन्मदाता कहा जाता है—
(क) कावूर (ख) मेजिनी (ग) गैरीबाल्डी (घ) इमैन्युअल ( )

5. विदेशियों से सिसली और नेपिल्स को मुक्त कराने का श्रेय है—
(क) जोजेफ गैरीबाल्डी को (ख) कावूर को
(ग) मेजिनी को (घ) विक्टर इमैन्युअल को ( )

6. कावूर की सबसे बड़ी देन है—
(क) इटली को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर देना
(ख) इटली का प्रधान मन्त्री पद प्राप्त करना
(ग) 'इल रिसोर्जिमेण्टो' नाम की पत्रिका निकालना
(घ) इटली के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करना ( )

7. इटली को वेनेशिया जिस युद्ध के द्वारा प्राप्त हुआ, वह था—
(क) आस्ट्रिया-प्रशा का युद्ध (ख) फ्रांस और प्रशा का युद्ध
(ग) सार्डिनिया और आस्ट्रिया का युद्ध (घ) क्रीमियन युद्ध ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5-6 पंक्तियों में दीजिए।

1. कावूर इटली के एकीकरण के लिए क्या आवश्यक समझता था?
2. 1831 तक इटली का एकीकरण पूरा होने में क्या बाधाएँ थी?
3. इटली की राष्ट्रीय एकता प्राप्ति में विक्टर इमैन्युअल की क्या देन है?
4. गैरीबाल्डी का इटली की राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति में योगदान बताइए।
5. वह घटना बताइए जिसके कारण चार्ल्स एल्बर्ट ने विक्टर इमैन्युअल के पक्ष में गद्दी त्याग दी।
6. 1848 ई. की क्रान्ति से इटली में कोई दो महत्त्वपूर्ण परिणाम लिखिए।
7. प्लेम्बियर्स के समझौते का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
8. इटली को रोम किस प्रकार प्राप्त हुआ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. इटली के एकीकरण में कावूर और गैरीबाल्डी का योगदान लिखिए।
2. कावूर के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।

करने योग्य बातें

1. इटली के मानचित्र में उन क्षेत्रों को स्पष्ट कीजिए जो 1861 ई. तक राष्ट्रीय एकीकरण में सम्मिलित हो चुके थे।

10
जर्मनी का राष्ट्रीय एकीकरण
(1815-1870 ई.)

फ्रांस की क्रान्ति और जर्मनी—19वीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मनी में 300 से अधिक छोटे-छोटे राज्य थे। 1801 ई. को लूनेवील की सन्धि के अनुसार नेपोलियन बोनापार्ट ने जर्मनी के राज्यों के पुनर्गठन का अधिकार प्राप्त कर लिया। उसने जर्मनी के बड़े राज्यों की शक्ति को कम करने तथा छोटे राज्यों की शक्ति को बढ़ाने की नीति अपनायी और जर्मनी के विभिन्न राज्यों की संख्या घटाकर राइन संघ की स्थापना की, जिसमें 39 सदस्य थे। 1806 ई. में नेपोलियन ने 'पवित्र रोम साम्राज्य' को भी समाप्त कर दिया और इस प्रकार जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग को सरल बना दिया।

वियना व्यवस्था—1815 ई. में फ्रांस की क्रान्ति के परिणामों को दूर करने की दृष्टि से आस्ट्रिया को जर्मन संघ का प्रधान नियुक्त किया गया। उस समय ऐसी आशा की जाती थी कि यह संघ जर्मन एकता का संस्थापक बने। लेकिन मेटरनिख के प्रभाव में होने के कारण इस संघ का प्रयोग उदारवाद का जर्मनी में प्रसार रोकने के लिए किया गया। जितने भी प्रस्ताव जर्मन एकता को बढ़ाने के लिए प्रस्तुत किये गये वे या तो आस्ट्रिया अथवा प्रशा के विरोध के कारण असफल हो गये या आपसी भेदभाव के कारण अस्वीकृत हो गये। व्यवहारिक रूप में यह 'डायट' समस्त यूरोप तथा जर्मनी के लिए उपहास बन गयी। इसकी कार्य प्रणाली विलम्ब से कार्य करने के लिए प्रसिद्ध थी—उदाहरणार्थ, 1815 ई. में फ्रांस ने कुछ जर्मन संघीय दुर्ग निर्माण करने के लिए धन दिया था, वे 1825 ई. तक भी नहीं बने थे।

जर्मन एकीकरण की कठिनाइयाँ—1815 ई. के पश्चात जर्मन एकीकरण के मार्ग में विभिन्न बाधाएँ थी जिनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(1) जर्मनी के विभिन्न राज्यों मे आपसी भेदभाव अधिक था। किसी भी प्रश्न पर आस्ट्रिया और प्रशा (जर्मनी के दो सबसे बड़े राज्य) आपस में सहमत नहीं होते थे। आस्ट्रिया के अधिकाश हित जर्मनी के बाहर थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी के राज्यो को उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यो में विभक्त किया जा सकता था। उत्तरी राज्य प्रोटेस्टेन्ट धर्म के समर्थक थे और दक्षिणी राज्य रोमन कैथोलिक अनुयायी थे।

(2) जर्मन सुधारवादी आपस में किसी एक निश्चित नीति पर सहमत नहीं

थे। कुछ आस्ट्रिया के नेतृत्व में जर्मनी को संगठित करना चाहते थे। कुछ आस्ट्रिया को बाहर निकालकर प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण चाहते थे। कुछ सीमित राजतन्त्र के समर्थक थे तथा कुछ गणतन्त्रीय प्रणाली के। इस प्रकार कार्ल मार्क्स ने उस वक्त ठीक ही कहा था कि 'जर्मन एकता का प्रश्न आपसी भेद तथा फूट से भरा हुआ है जिससे गृहयुद्ध तक आरम्भ होने की सम्भावना है।'

(१) [illegible]

बुद्धिजीवियों तथा विद्यार्थियों तक सीमित थी। विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता पर विचार करने के लिए मेटरनिख ने 1819 ई. में कार्ल्सबाद में संघीय सभा की एक बैठक बुलायी और वहाँ से कुछ घोषणाएँ प्रसारित करवाकर विचारों की स्वतन्त्रता को समाप्त करवा दिया।

(4) जर्मनी में उदारवादी विशिष्टतावादी बन गये क्योंकि जर्मन सभा किसी प्रकार से जर्मन राज्यों में परिवर्तन कराने में असमर्थ थी। इसलिए उदारवादी अपने-अपने राज्यों में वैधानिक सरकार स्थापित कराने का प्रयत्न करने लगे। जर्मन संघ से असन्तुष्ट होकर कोई ऐसा आन्दोलन आरम्भ नहीं किया गया था जिसने एक अखिल जर्मन संघ की व्यवस्था पर बल दिया हो।

एकीकरण की प्रगति (1815–1850 ई.)

जोलवरीन की स्थापना (1818 ई.)—नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप में औद्योगिक विकास तथा व्यापारिक प्रगति होनी स्वाभाविक ही थी। प्रशा में विभिन्न चुंगी क्षेत्र थे जिनमें व्यापारिक असुविधा होती थी। 1818 ई. में प्रशा में आन्तरिक चुंगी क्षेत्रों को समाप्त कर दिया गया और उत्पादित वस्तुओं पर आयात कर भी कम कर दिये गये जिससे मुक्त व्यापार को बढ़ावा मिला। अन्य जर्मन राज्यों को जाने वाले सामान पर चुंगी अधिक लगा दी और इस प्रकार उन्हें इस बात पर विवश किया कि वे प्रशा के साथ चुंगी करों के सम्बन्ध में समझौता करें।

प्रशा का यह सुधार उस समय केवल कृषि सम्बन्धी सुविधाओं को ध्यान में रखकर किया गया था। फलस्वरूप बड़े-बड़े जमींदार अपने कृषि उत्पादनों को समस्त जर्मनी में बेच सकें। उस समय इसके राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय हित प्रशा के शासक के ध्यान में नहीं थे, उसने केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से ही ऐसा किया था। आरम्भ में इसका अन्य जर्मन राज्यों ने विरोध किया। मध्य जर्मनी, दक्षिणी जर्मनी में अलग-अलग संघ इसके विरोध में बने। उत्तरी जर्मनी के कुछ छोटे-छोटे राज्यों ने प्रशा के साथ 1828 ई. तक चुंगी सम्बन्धित समझौते कर लिये जिसे जोलवरीन कहते हैं। 1828-1831 ई. में मध्य जर्मन राज्यों ने इस संघ की सदस्यता स्वीकार की। 1834 ई. में बवेरिया तथा दक्षिणी जर्मनी के अन्य राज्यों ने इसे स्वीकार किया और इस प्रकार आस्ट्रिया को छोड़कर जर्मनी के अधिकांश राज्य एक व्यापारिक संघ में सम्मिलित हो गये जिसका नेतृत्व प्रशा के हाथ में था। आस्ट्रिया ने मुक्त व्यापार अथवा किसी प्रकार के व्यापारिक संघ की स्थापना नहीं की और इस प्रकार जर्मनी में नेतृत्व का स्थान प्रशा को प्राप्त हो जाने दिया। जर्मनी के भावी एकीकरण की झलक इस संघ में दिखायी पड़ती थी।

बुद्धिजीवी वर्ग का प्रभाव—जैसा ऊपर बताया गया है, जर्मनी में एकता के लक्ष्य को प्रोत्साहन देने वाला वर्ग बुद्धिजीवियों का था। 19वीं शताब्दी का प्रत्येक मुख प्रगतिशील जर्मन कवि, दार्शनिक तथा इतिहासकार जर्मन महानता के गुण गाता तथा जर्मन एकता का स्वप्न देखता था। फिक्टे तथा हेगल इस समय के प्रमुख

(3) जर्मन एकीकरण का मुख्य शत्रु आस्ट्रिया था तथा जर्मनी का एकीकरण बिना सैनिक शक्ति के सम्भव नहीं था। सैनिक दृष्टि से भी प्रशा ही प्रमुख राज्य था जिसके नेतृत्व में एकीकरण सम्भव था।

1850 ई. से 1860 ई. के मध्य जर्मनी में औद्योगिक क्रान्ति बड़े जोरों पर थी। इस औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप जर्मनी में एक नये पूंजीपति वर्ग का विकास हुआ। यह वर्ग समस्त जर्मनी को एक इकाई में संगठित करने के पक्ष में था, जिससे औद्योगिक विकास तेजी से हो सके। इस समय में विभिन्न जर्मन सभाएँ इस उद्देश्य के लिए आन्दोलन कर रही थी कि विभिन्न स्तरों पर एकता स्थापित हो। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि यद्यपि जर्मनी का एकीकरण अन्त में राजनीति, कूटनीतिक तथा सैनिक सफलताओं पर निर्भर करता था लेकिन इस आर्थिक विकास तथा प्रगति के अभाव में यह राष्ट्रीयता का आन्दोलन एक दुर्बल आन्दोलन होता। जिस प्रकार फ्रांस, इगलैण्ड तथा बेलजियम में एक नये वर्ग के विकास से पुरानी राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था को बदल दिया गया था उसी प्रकार जर्मनी में इस नये पूंजीपति वर्ग के विकास से राष्ट्रीय एकता के आन्दोलन को अत्यधिक बल मिला।

नेतृत्व के लिए तैयारी—1860 ई. तक प्रशा जर्मनी के एकीकरण आन्दोलन का नेतृत्व नहीं कर सका क्योंकि वहां के राजा तथा मन्त्री आस्ट्रिया का विरोध करने के लिए तैयार नहीं थे। 1861 ई. में प्रशा के शासक फैड्रिक विलियम चतुर्थ की मृत्यु हो जाने से विलियम प्रथम गद्दी पर बैठा। वह एक सैनिक था और वह प्रशा को एक शक्तिशाली राज्य बनाना चाहता था। वह 5 लाख स्थायी सेना रखना चाहता था जिसके लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता थी। इस धन को एकत्र करने तथा टैक्स लगाने के प्रश्न को लेकर विलियम प्रथम तथा प्रशा की प्रतिनिधित्व सभा में संघर्ष उत्पन्न हुआ। 1862 ई. मे प्रतिनिधि सभा ने विलियम प्रथम के सैनिक खर्च की मांगों को अस्वीकृत कर दिया। विलियम को ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो सभा की अस्वीकृति की स्थिति में सेना के सगठन के लिए धनराशि एकत्र कर सके और ऐसा व्यक्ति था बिस्मार्क। वह इस समय फ्रांस में प्रशा का राजदूत था। बिस्मार्क को तार भेजकर पेरिस से बर्लिन बुलाया गया और 23 सितम्बर, 1862 ई. को उसे प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त कर दिया गया।

बिस्मार्क

बिस्मार्क की नीति—बिस्मार्क की आयु इस समय 46 वर्ष की थी। उसका

जन्म कुलीन घराने में हुआ था। वह जनता के अधिकारों के सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता था। वह निरंकुश शासन का समर्थक था। बिस्मार्क समझता था कि जर्मनी में आस्ट्रिया तथा प्रशा दोनों के विकास के लिए स्थान नहीं है। वह जर्मनी में प्रशा का प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और यह प्रभुत्व केवल सैन्य बल के आधार पर ही प्राप्त हो सकता था। विदेश नीति में वह रूस के साथ मैत्री चाहता था। उसने आरम्भ में यह चाहा कि प्रशा की लोकसभा के सहयोग से वह सैनिक पुनर्गठन कर सके। जब यह सम्भव न हो सका तब उसने बिना संसद की स्वीकृति के टैक्स वसूल

प्रशा के सम्राट विलियम के पुन पदासीन होने के बाद चांसलर बिस्मार्क की स्थिति का नास्त द्वारा बनाया गया व्यंग्य चित्र। चित्र में बिस्मार्क को झोले में लोहा और बोतल में खून ले जाते हुए दिखाया गया है जो उसकी 'रक्त एवं शस्त्र' नीति पर व्यंग्य है

किये और यह घोषणा की कि "राज्य के समक्ष महान समस्याएँ केवल भाषणों से हल नहीं हो सकती हैं, उनको सुलझाने के लिए 'रक्त और शस्त्र' की आवश्यकता है।" इस प्रकार संसद से बिस्मार्क का संघर्ष आरम्भ हो गया।

रूस से मैत्री—विदेश नीति के क्षेत्र में बिस्मार्क अपने समय का महान कूटनीतिक था। उसने यह अनुभव कर लिया था कि शीघ्र ही उसे आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध करना पड़ेगा। इसलिए उसने ऐसी विदेश नीति का संचालन किया जिससे यूरोप में आस्ट्रिया को अधिक समर्थन प्राप्त न हो सके और इसलिए उसने रूस के साथ

मैत्री सम्बन्ध बढाये क्योंकि रूस और आस्ट्रिया के मध्य तनावपूर्ण सम्बन्ध थे। 1863 ई. में रूस अधिकृत पोलैण्ड में विद्रोह हुआ। बिस्मार्क ने पोलैण्ड का समर्थन न करके रूस के पक्ष का समर्थन किया और अपनी सेना को इस स्थिति में रखा कि यदि आवश्यकता हो तो रूस की सहायता की जा सके। इसी समय उसने फ्रांस से भी एक व्यापारिक समझौता किया जिससे फ्रांस का दृष्टिकोण मित्रतापूर्ण हो गया।

आस्ट्रिया से संघर्ष की भूमिका—1863 ई. मे आस्ट्रिया ने जर्मन राजकुमारो की एक सभा बुलायी और जर्मन सघ सविधान मे आवश्यक परिवर्तन करने चाहे। विलियम प्रथम यद्यपि इस सम्मेलन में भाग लेने का वचन दे चुका था लेकिन बिस्मार्क के मना करने पर उसमे भाग लेने के लिए नही गया। परिणामस्वरूप फ्रेंकफर्ट मे बुलाया गया सम्मेलन असफल रहा।

श्लेसविग व हालसटीन का प्रश्न—श्लेसविग व हालसटीन नाम के दो छोटे प्रदेश जर्मनी और डेनमार्क के मध्य स्थित हैं। इन प्रदेशो की अधिकांश जनता जर्मन थी। लेकिन डेनमार्क के शासक का इन प्रदेशो पर व्यक्तिगत अधिकार था। 1848 ई. की क्रान्ति के पश्चात डेनमार्क के शासक ने इन प्रदेशो को डेनमार्क के साथ मिलाना चाहा और इसीलिए इन प्रदेशों मे (जिन्हे डची कहा जाता था) विद्रोह हुआ क्योंकि वे अपना शासक आगस्टनवर्ग के ड्यूक को चुनना चाहते थे। लेकिन 1852 ई. मे लन्दन सम्मेलन में यह तय हुआ कि इन डचियो का प्रशासन डेनमार्क के शासक के अधिकार में रहेगा लेकिन वह इन्हें अपने राज्य मे नही मिला सकेगा।

1863 ई. मे डेनमार्क मे एक नया शासक गद्दी पर बैठा और उसने इन दोनो डचियो को अपने आधीन राज्य मे सम्मिलित करना चाहा। यह लन्दन समझौते का उल्लघन था। बिस्मार्क के लिए इन डचियो का प्रश्न महत्वपूर्ण था क्योंकि ये प्रदेश नौसैनिक शक्ति के विकास में सहायक हो सकते थे।

डेनमार्क पर आक्रमण—बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को अपने साथ मिलाकर डेनमार्क पर 1864 ई. मे आक्रमण कर दिया क्योंकि डेनमार्क ने लन्दन समझौते को भग कर दिया था। डेनमार्क बुरी तरह पराजित हुआ। अक्टूबर 1864 ई मे वियना की सन्धि हुई जिसके अनुसार डेनमार्क ने इन दोनों डचियों पर से अपना अधिकार समाप्त करना स्वीकार किया तथा दोनों पर आस्ट्रिया तथा प्रशा का सामूहिक नियन्त्रण स्वीकार कर लिया गया।

लेकिन शीघ्र ही आस्ट्रिया को पता चला कि प्रशा के साथ मिले रहने के परिणामस्वरूप उसका जर्मन डायट मे प्रभाव समाप्त हो जायेगा। इसलिए उसने आगस्टनवर्ग के ड्यूक का समर्थन किया। बिस्मार्क इस समय आस्ट्रिया से युद्ध करना नही चाहता था क्योंकि उसे अन्तरराष्ट्रीय कूटनीतिक स्थिति पर भरोसा नहीं था और आस्ट्रिया अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण युद्ध नही कर सकता था। इसलिए 1865 ई. मे गैस्टीन के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार आस्ट्रिया ने

हालस्टीन पर और प्रशा ने श्लेसविग पर प्रशासन करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया।

आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के कारण—1866 ई.—गैस्टीन का समझौता अल्पकालीन था। प्रशा एक उचित अवसर की तलाश में था जिसमें यूरोप के विभिन्न देश आस्ट्रिया पर आक्रमण के समय तटस्थ रहें। 1865-66 ई. में बिस्मार्क ने सार्डिनिया, नेपोलियन आदि के साथ समझौता किया।

आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रशा का युद्ध आवश्यक था भले ही श्लेसविग-हालस्टीन का प्रश्न हल भी हो गया होता। यदि प्रशा की महत्वाकांक्षा केवल डचियों को प्राप्त करना होती तो बिना युद्ध किये हुए वह प्राप्त कर सकता था लेकिन युद्ध प्रशा की प्रतिष्ठा तथा जर्मनी में धाक स्थापित करने के लिए आवश्यक था।

आस्ट्रिया ने आगस्टनबर्ग के ड्यूक के अधिकारों की स्थापना का समर्थन किया और इस प्रकार बिस्मार्क को युद्ध आरम्भ करने का बहाना उपलब्ध कराया। बिस्मार्क ने एक जर्मन राष्ट्रीय सभा को (जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हुआ हो) बुलाने की योजना रखी। यह सभा ही जर्मनी की समस्या को हल करने योग्य हो सकती थी। इस नये संघ में प्रशा ने आस्ट्रिया को अलग करने का प्रस्ताव किया।

सप्त साप्ताहिक युद्ध—16 जून, 1866 ई. को युद्ध आरम्भ हुआ। बिस्मार्क की नीति का केवल सैनिक वर्ग ने समर्थन किया। प्रशा अकेले ही युद्ध कर रहा था। लेकिन सार्डिनिया के युद्ध में भाग लेने के कारण आस्ट्रिया को अपनी अधिकांश सेना इटली की सीमा पर रखनी पड़ी। प्रशा की सेनाएँ कुशल नेतृत्व तथा आधुनिक हथियारों के परिणामस्वरूप जीतनी चली गयी और 3 जुलाई, 1866 ई. को सेडोवा के स्थान पर आस्ट्रिया की सेनाओं को हरा दिया। इस पराजय से आस्ट्रिया की सैनिक शक्ति टूट गयी और जुलाई के अन्त में सन्धि वार्ता आरम्भ हो गयी।

प्राग की सन्धि—1866 ई.—में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ उदार व्यवहार किया जिससे युद्ध शीघ्रातिशीघ्र समाप्त हो जाये। उसे नेपोलियन तृतीय पर भरोसा नहीं था और भय था कि कहीं यूरोपीय देशों का संघ उसके विरुद्ध हस्तक्षेप न कर बैठे। इसलिए सन्धि की शर्तों में निम्न बातें रखी गयी

(1) आस्ट्रिया जर्मन संघ से अपने आपको अलग कर ले। वेनेशिया का प्रदेश सार्डिनिया को दे दिया जाये। युद्ध के हरजाने के रूप में कुछ धनराशि प्रशा को दी जाय।

(2) प्रशा को श्लेसविग और हालस्टीन प्राप्त हो गये और उसे उत्तर जर्मन राज्यों के संघ का अध्यक्ष मान लिया गया।

(3) प्रशा ने सेक्सनी राज्य की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया लेकिन उसकी सेनाओं का नियन्त्रण प्रशा के हाथ में रहा।

[illegible] हो सके। [illegible] के युद्ध में [illegible] कि युद्ध [illegible] लेकिन उसकी यह अभिलाषा [illegible] हुई [illegible] रही थी। [illegible] था। इस प्रकार से युद्ध करके [illegible] था।

[illegible] का [illegible] था। पहले वह [illegible] था। बिस्मार्क ने उनके प्रस्तावों को [illegible] दिया। [illegible] उत्पन्न हुआ। नेपोलियन [illegible] चाहता था। हालैंड को [illegible] कि [illegible] को लक्जेमबर्ग [illegible]। बिस्मार्क ने इस प्रस्ताव को [illegible] 1867 ई. में लन्दन सम्मेलन में [illegible] लक्जेमबर्ग को तटस्थ घोषित कर दिया गया। इसी प्रकार 1870 ई. में बिस्मार्क ने फ्रांस का यह प्रस्ताव प्रकाशित कर दिया कि फ्रांस बेल्जियम पर अधिकार करना चाहता था। इससे इंग्लैंड किसी भावी युद्ध में फ्रांस का समर्थन नहीं हो सकता था।

युद्ध का तात्कालिक कारण

स्पेन के उत्तराधिकार का प्रश्न—1868 ई. में स्पेन में सैनिक उपद्रव के परिणामस्वरूप वहाँ की रानी इजाबेला को गद्दी से उतार दिया गया और राजगद्दी प्रशा के राजा विलियम प्रथम के सम्बन्धी ल्योपोल्ड को देने का प्रस्ताव किया। प्रशा ने इस प्रस्ताव को ल्योपोल्ड ने स्वीकार कर लिया था। तीव्र विरोध किया और इंग्लैण्ड तथा आस्ट्रिया के भी विरोध करने पर ल्योपाल्ड ने अपनी स्वीकृति वापस ले ली। इससे यह विषय समाप्त हो जाना चाहिए था। लेकिन फ्रांस के उग्र नेता विलियम प्रथम से इस बात का आश्वासन चाहते थे कि विलियम कभी भविष्य में ल्योपोल्ड को ऐसा प्रस्ताव स्वीकार नहीं करने देगा।

ऐम्स टेलीग्राम—फ्रांस का राजदूत प्रशा के राजा से ऐम्स नामक स्थान पर यह आश्वासन लेने गया। यह घटना 13 जुलाई, 1870ई की थी। विलियम ने आश्वासन देने से मना कर दिया और ऐम्स से बिस्मार्क को तार द्वारा इस वार्तालाप की विस्तृत सूचना भेज दी।

बिस्मार्क तथा प्रशा के युद्ध मन्त्री तथा सेनाध्यक्ष फ्रांस से युद्ध की प्रतीक्षा करते रहे थे। सेनाध्यक्ष मोल्ट्क फ्रांस से युद्ध के लिए इतना व्याकुल था कि उसने एक बार कहा था कि "यदि मरने के पूर्व एक बार वह फ्रांस के विरुद्ध अपनी सेनाओं का नेतृत्व कर सकें तो उसके पश्चात् मरने में उसे तनिक भी सकोच नहीं होगा।" जिस समय ऐम्स तार बिस्मार्क को प्राप्त हुआ वह मोल्ट्क के साथ भोजन कर रहा था।

बिस्मार्क ने ऐम्स तार का संक्षिप्त रूप इस प्रकार प्रकाशित किया कि ऐसा प्रतीत हो मानो फ्रांस के राजदूत का अपमान हुआ हो।

अगले दिन, 14 जुलाई, 1870 ई. को फ्रास ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

फ्रांस-प्रशा का युद्ध (1870-1871 ई.)

प्रथम दो महीनो में ही युद्ध की निर्णायक लड़ाइयाँ हो गयी थी और 1 सितम्बर, 1870 ई. को फ्रास की सबसे बडी पराजय सेडान के मैदान में हुई। 2 सितम्बर, 1870 ई. को नेपोलियन तृतीय तथा उसकी 81,000 सेना ने समर्पण कर दिया। फ्रास से नेपोलियन को भागना पडा। युद्ध इसी समय समाप्त हो सकता था लेकिन प्रशा के सेना सचालक फ्रास के प्रदेश चाहते थे। इसलिए युद्ध के दूसरे चरण में फ्रास को प्रतिरोधक युद्ध करना पडा। जनवरी 1871 ई. मे पेरिस ने समर्पण कर दिया, और फ्रास की राष्ट्रीय सभा ने जर्मनी की विभिन्न शर्तों को स्वीकार करके युद्ध समाप्त किया। 10 मई, 1871 ई. को फ्रेंकफर्ट की सन्धि पर हस्ताक्षर हुए।

फ्रेंकफर्ट की सन्धि—इस सन्धि के अन्तर्गत (1) फ्रास ने एलसेस लॉरेन के प्रान्त जर्मनी को दे दिये। इस क्षेत्र मे कोयले तथा लोहे की खानें अधिक थी।

(2) फ्रास ने युद्ध के हरजाने के रूप मे 20 करोड पौण्ड देना स्वीकार किया और यह भी तय हुआ कि जब तक यह राशि जर्मनी को प्राप्त नहीं हो जायगी उस समय तक जर्मन सेनाएँ फ्रास मे रहेंगी।

जर्मन साम्राज्य की घोषणा—सितम्बर 1870 ई. के पश्चात् बिस्मार्क ने जर्मन साम्राज्य की स्थापना की। दक्षिण जर्मन राज्य प्रशा के अधीन उत्तर जर्मन संघ मे पहले ही सम्मिलित हो चुके थे। 18 जनवरी, 1871 ई. को वार्साय के 'शीश-महल' मे प्रशा के राजा को जर्मनी का सम्राट घोषित किया गया और इस प्रकार जर्मन राष्ट्रीय एकीकरण पूरा हुआ।

फ्रेंकफर्ट की सन्धि का महत्त्व—1871 ई. की यह सन्धि यूरोपीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ थी। इसके तात्कालिक तथा दूरगामी परिणाम दोनो ही महत्त्वपूर्ण हुए। तात्कालिक परिणाम में इटली का राष्ट्रीय एकीकरण का पूरा होना, नेपोलियनवाद का प्रभाव समाप्त होना, फ्रास में साम्राज्य का स्थायी पतन होना, जर्मनी का एक साम्राज्य बन जाना आदि उल्लेखनीय है। दूरगामी परिणामो में सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि यूरोपीय राजनीति का केन्द्र पेरिस से हटकर बर्लिन चला गया। पिछले दो सौ वर्षों से पेरिस केवल फ्रांस की ही राजधानी नही था बल्कि समस्त यूरोप के राजनीतिक कार्यों का केन्द्र माना जाता था, वह स्थान अगले 75 वर्षों के लिए बर्लिन को प्राप्त हो गया। इतिहासकार केटलबी ने ठीक ही कहा है कि इस युद्ध ने जर्मनी को यूरोप का स्वामी बना दिया और बिस्मार्क को जर्मनी का स्वामी बना दिया। एलसेस लॉरेन जर्मनी के अधिकार मे आ जाने से यह सन्धि प्रथम विश्व युद्ध के लिए भी उत्तरदायी हुई क्योंकि इस अपमान को फ्रास कभी भुला नही सका।

जर्मनी और इटली के एकीकरण की तुलना

राष्ट्रीयता के आधार पर 19वीं शताब्दी में कुछ और भी राज्यों का निर्माण तथा संगठन हुआ था—जैसे ग्रीस, बेलजियम, रूमानिया आदि का। लेकिन इन दोनों
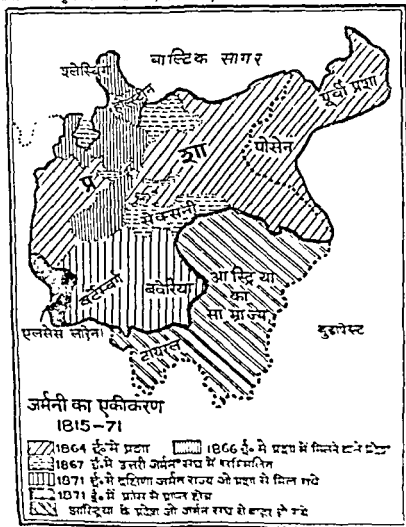
जर्मनी का एकीकरण 1815–71

राज्यों के एकीकरण का संघर्ष बहुत अधिक समय तक चला और इसके पूरा हो जाने से एक प्रकार से नये युग का आरम्भ हुआ। 1871 ई. का यूरोप 1815 ई. से पूर्णतया भिन्न था। इस समय में विभिन्न आर्थिक तथा राजनैतिक परिवर्तन हुए।

राष्ट्रीय एकीकरण की दृष्टि से दोनों देशों के एकीकरण में [illegible]

समानता थी कि दोनों राज्यो मे राष्ट्रीयता के आधार पर एकीकरण हुआ। दोनो राज्यों में नेपोलियन बोनापार्ट ने राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया था। दोनों राज्यो को 1815 ई. के वियना समझौते के अनुसार कई भागो में विभक्त कर दिया गया था और दोनों का एक ही मुख्य शत्रु था—आस्ट्रिया। और दोनों देशो का एकीकरण फ्रास को पराजित करके ही पूर्ण हुआ।

दोनो देशो मे एकीकरण का माध्यम तथा नीति भिन्न थी—जर्मनी मे प्रशा की सैनिक शक्ति इस एकीकरण का माध्यम बनी, जबकि इटली में सार्डिनिया को विदेशी सहायता पर आधारित होकर इटली का एकीकरण करना पड़ा। लेकिन विश्व मे राष्ट्रीयता के इतिहास में मेजिनी का मुकाबला कोई जर्मन नेता नही कर सकता था। इटली मे राष्ट्रीयता की भावना जर्मनी की अपेक्षा कही अधिक बलवान थी। जर्मनी मे राष्ट्रीय एकता पहले से कुछ अशो मे विद्यमान थी। इटली मे कोई ऐसी सस्था नही थी जो जोलवरीन की तुलना कर सके। जोलवरीन के अभाव मे जर्मनी की एकता दुर्वल रहती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इटली के एकीकरण के पक्ष मे पश्चिमी यूरोप की सभी शक्तियाँ थीं जबकि जर्मनी के एकीकरण के प्रति उनका दृष्टिकोण सन्देहपूर्ण था। कावूर के लिए इटली का राष्ट्रीय एकीकरण एक आदर्श था जिसके लिए वह बड़ी से बड़ी वलि देने को तैयार था जबकि बिस्मार्क के लिए प्रशा का स्थान महत्त्वपूर्ण था और एकीकरण केवल प्रशा को शक्तिशाली बनाने का एक साधन था।

राष्ट्रीयवाद का प्रभाव—औद्योगिक क्रान्ति तथा व्यापार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए राष्ट्रीयता की भावनाएँ बहुत प्रभावशाली हुईं। आरम्भ मे औद्योगिक प्रगति से उदारवाद को प्रोत्साहन मिला था लेकिन इसने बाद मे उदारवाद के स्थान पर राष्ट्रीयता को बढावा दिया। इस राष्ट्रीयता ने 19वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे तथा बाद मे उग्र राष्ट्रीयता को और अधिक उत्तेजित किया और इस रूप मे राष्ट्रीयता अन्त तक कुछ स्थानों पर उदारवाद और प्रजातन्त्र के साथ-साथ विकसित होती रही लेकिन ये सहायक तत्त्व आवश्यक नहीं थे।

इस उग्र राष्ट्रीयता ने 19वी शताब्दी के मध्य से विभिन्न देशों मे साम्राज्य-वादी भावनाओं को बल दिया। यूरोप के विभिन्न देश तथा जापान इस भावना से प्रेरित होते रहे कि अपनी राष्ट्रीय सस्कृति का प्रसार किया जाये, अन्य देशों में उसको स्थापित किया जाये ताकि वे लोग भी सभ्य बन सकें। अफ्रीका और एशिया मे साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए औद्योगिक क्रान्ति तथा राष्ट्रीयवाद उत्तरदायी रहे हैं। यह उग्र राष्ट्रीयवाद ही, जैसा अगले अध्यायों मे बताया जायेगा, दो महान विश्व-युद्धों के लिए उत्तरदायी रहा है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता के विकास को जहाँ हम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव सराहनीय भावना कहते हैं क्योंकि इससे विभिन्न देशों ने अपनी अधीनता को समाप्त किया—19वी शताब्दी मे ग्रीस, बेलजियम, इटली, जर्मनी बल्कान प्रायद्वीप आदि ने और 20वीं

समय रेखा
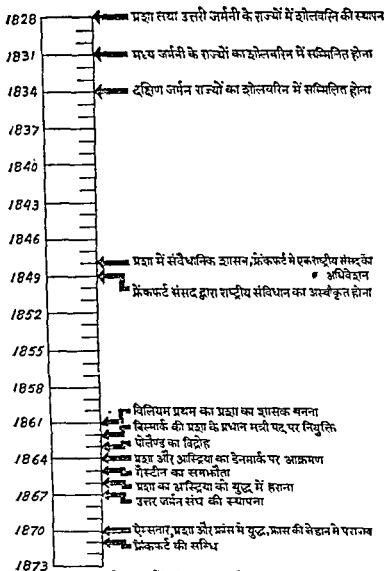
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 3 वर्ष

शताब्दी में एशिया-अफ्रीका के विभिन्न देशों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किये—वहीं दूसरी ओर जर्मनी, इटली, जापान, इंगलैण्ड तथा हालैण्ड और फ्रांस आदि देशों ने राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित होकर विश्व के विभिन्न देशों का आर्थिक एवं सामाजिक शोषण किया। अपने-अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के लिए विश्व शान्ति को दो युद्धों द्वारा भंग किया और उग्र राष्ट्रीयता से उत्पन्न खतरे से बचने के लिए अन्तरराष्ट्रीयता का विकास हुआ।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों में सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1 ओल्मुत्ज का उद्देश्य था —
  (क) युद्ध सम्बन्धित समझौते करना
  (ख) जर्मन एकता के लिए भूमिका तैयार करना
  (ग) प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना
  (घ) फ्रांस तथा जर्मनी में व्यापारिक समझौता करना ( )

2 जर्मनी के नेताओं ने फ्रैंकफर्ट में एक राष्ट्रीय संसद का अधिवेशन बुलाया क्योंकि—
  (क) प्रशा जर्मनी की राष्ट्रीय एकता का नेतृत्व करने के लिए तैयार था
  (ख) संयुक्त जर्मनी के लिए संविधान की आवश्यकता थी
  (ग) एकता को कार्यरूप देने का अवसर आ गया था
  (घ) फ्रांस की क्रान्ति का जर्मन उदारवादियों पर प्रभाव पड़ा ( )

3. 1850 ई. के पश्चात् जर्मनी में राष्ट्रीय एकता के आन्दोलन के विकास में सबसे अधिक बल मिला—
  (क) पूंजीपति वर्ग से (ख) राजनीतिज्ञों से
  (ग) बुद्धिजीवियों से (घ) राष्ट्रवादियों से ( )

4. 'राज्य की महान समस्याएँ केवल भाषणों से हल नहीं हो सकतीं उनको सुलझाने के लिए रक्त और शस्त्र की आवश्यकता है।' ये विचार थे—
  (क) फ्रेडरिक विलियम के (ख) फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ के
  (ग) विलियम प्रथम के (घ) बिस्मार्क के ( )

5. 1863 ई. में पोलैण्ड के विद्रोह के समय पौलेण्ड का समर्थन न करने के पीछे बिस्मार्क का ध्येय था कि—
  (क) इससे पोलेण्ड कमजोर हो जायेगा
  (ख) इससे रूस के साथ अच्छे सम्बन्ध बने रहेंगे
  (ग) पोलैण्ड को विजय करना जर्मनी के लिए सरल रहेगा
  (घ) बिस्मार्क युद्धों में उलझना नहीं चाहता था ( )

6. बिस्मार्क का डेनमार्क से युद्ध करने का मुख्य कारण था—
   (क) डेनमार्क के शासक ने लन्दन के समझौते का उल्लंघन किया
   (ख) डेनमार्क ने श्लेसविग और हाल्सटीन को अपने राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया
   (ग) डेनमार्क के प्रदेश में जर्मन जाति के लोग रहते थे जिन पर वह अत्याचार कर रहा था
   (घ) श्लेसविग और हाल्सटीन के प्रदेश को प्रशा अपने अधिकार में करना चाहता था ( )
7. प्रशा का आस्ट्रिया से युद्ध अनिवार्य था, क्योंकि—
   (क) आस्ट्रिया को बिना हराये श्लेसविग और हाल्सटीन की समस्या हल नहीं हो सकती थी
   (ख) जर्मनी में प्रशा की प्रतिष्ठा और धाक स्थापित हो सकती थी
   (ग) जर्मनी का एकीकरण सम्भव था
   (घ) यूरोपीय देशों की एकीकरण के लिए सहानुभूति प्राप्त की जा सकती थी ( )
8. आस्ट्रिया के साथ बिस्मार्क ने सन्धि की शर्तें नरम रखी क्योंकि—
   (क) बिस्मार्क को नेपोलियन तृतीय के आक्रमण का भय था
   (ख) बिस्मार्क आस्ट्रिया को हराकर भी मित्र बनाये रखना चाहता था
   (ग) आस्ट्रिया और जर्मनी में एक ही नस्ल के व्यक्ति थे
   (घ) रूस के विरुद्ध आस्ट्रिया की सहायता प्राप्त हो सकती थी ( )
9. फ्रांस और प्रशा का युद्ध जिस सन्धि से समाप्त हुआ, वह थी—
   (क) फ्रेंकफर्ट की सन्धि (ख) प्राग की सन्धि
   (ग) वियना की सन्धि (घ) बर्लिन की सन्धि ( )
10. फ्रेंकफर्ट की सन्धि का प्रमुख परिणाम निकला कि—
   (क) फ्रांस पराजित हो गया
   (ख) फ्रांस ने प्रशा की अधीनता स्वीकार कर ली
   (ग) आस्ट्रिया जर्मन संघ से अलग हो गया
   (घ) प्रशा और रूस में मैत्री स्थापित हो गयी ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर पाँच या छह पंक्तियों में लिखो—

1. 1850 ई. से पूर्व जर्मनी के राजनीतिक ... रहे। कोई दो कारण बताओ।
2. 1861 ई. के पश्चात् प्रशा जर्मनी के ... दो उदाहरण दीजिए
3. बिस्मार्क

4. आस्ट्रिया जर्मनी की राष्ट्रीय एकता में क्यों बाधक था ?
5. प्राग की सन्धि की तीन मुख्य शर्तें बताइए।
6. आस्ट्रिया और प्रशा के युद्ध के तीन परिणाम बताइए।
7. प्रशा के विरुद्ध फ्रांस के युद्ध का तत्कालीन कारण बताओ।
8 फ्रेंकफर्ट की सन्धि की दो प्रमुख शर्तें बताओ।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. बिस्मार्क की विदेशी नीति के वे सिद्धान्त बताइए जिनके आधार पर ज की राष्ट्रीय एकता सम्भव हुई।
2. जर्मनी और इटली के राष्ट्रीय एकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

करने योग्य बातें

जर्मनी का एक मानचित्र खींचकर बताइए कि 1817 ई. तक जर्मनी कितना भाग प्रशा के नेतृत्व में संगठित हो चुका था।

11

प्रथम विश्व युद्ध

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोपीय राजनीति

औद्योगिक क्रान्ति तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यूरोप का प्रत्येक प्रगतिशील देश अपनी शक्ति एवं प्रभाव बढ़ाने में लगा हुआ था। प्रत्येक देश दूसरों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये हुए था, लेकिन वह अपने हितों के लिए दूसरों के साम, दाम, दण्ड, भेद आदि सब प्रकार के साधन अपना सकता था। शक्ति की प्राप्ति में प्रत्येक राज्य केवल अपने ही लक्ष्यों को ठीक समझता था। दूसरों के हितों का उसके लिए कोई स्थान नहीं था। आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ अब इतने प्रभावशाली हो चुके थे कि 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भिक 14 वर्षों में विभिन्न ऐसे अन्तरराष्ट्रीय संकट उत्पन्न हुए कि उनमें से किसी पर भी एक युद्ध आरम्भ हो सकता था। शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त जो 16वीं और 17वीं शताब्दी से यूरोप में प्रचलित था वह अब प्राय समाप्त हो चुका था। यूरोप के विभिन्न देश अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे थे। यह औद्योगिक तथा आर्थिक वैमनस्यता बढ़ते-बढ़ते राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रवेश कर गयी जिसका परिणाम विश्व युद्ध हुआ।

विभिन्न देशों की महत्त्वाकांक्षा

यूरोप के महान देश अपनी-अपनी सुरक्षा, आर्थिक सम्पन्नता तथा साम्राज्य विस्तार में इतने संलग्न थे कि उन्हें दूसरे का ध्यान ही नहीं था। जर्मनी ने पूर्व की ओर अपने साम्राज्य विस्तार को आवश्यक समझा। वह विश्व की राजनीति में प्रभावशाली ढंग से हस्तक्षेप करना चाहता था। बर्लिन से बगदाद तक रेल योजना उसके बढ़ते हुए साम्राज्यवाद का प्रतीक थी। इसी प्रकार वह मोरक्को में अपने हितों के लिए संघर्ष करने को तैयार था तथा तुर्की साम्राज्य के भूमध्यसागर के क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। आस्ट्रिया को विशेषकर कुछ खतरा था क्योंकि इटली तथा रूस इस क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे।

फ्रांस—फ्रांस 19वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैण्ड के विरुद्ध था तथा जर्मनी से उसके सम्बन्ध कटुतापूर्ण थे। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में उसने इन दो महान राष्ट्रों में से एक से मैत्री स्थापित की। अब उसकी शत्रुता केवल जर्मनी से रह गयी थी।

फ्रांस एलसेस तथा लॉरेन को पुनः प्राप्त करना चाहता था। औपनिवेशिक क्षेत्र में मोरक्को में जर्मनी और फ्रांस के हित परस्पर विरोधी थे। फ्रांस जनसंख्या में जर्मनी की अपेक्षा कम था इसलिए युद्ध के समय उत्तरी अफ्रीका के अधिकांश भाग पर नियन्त्रण कर लेने से सामरिक तथा आर्थिक लाभ होना स्वाभाविक ही था।

रूस—यूरोप में रूस की सबसे बड़ी अभिलाषा डार्डनेलीज और बोसफोरस पर अधिकार कर लेने की थी क्योंकि वह विशाल होते हुए भी खुले समुद्रों तक पहुँचने में असमर्थ था और इससे भूमध्यसागर तक पहुँचने का मार्ग बड़ी सरलता से खुल जाता। रूस ईरान तथा चीन पर भी अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था लेकिन जापान से 1904-5 ई. के युद्ध में हार जाने के फलस्वरूप तथा 1907 ई. में इंग्लैण्ड के साथ समझौता हो जाने से यहाँ पर उसकी महत्त्वाकांक्षा अब केवल काला सागर तथा भूमध्य-सागर तक सीमित रह गयी। वह बल्कान प्रायद्वीप में स्लाव जाति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और यहाँ पर उसका आस्ट्रिया से संघर्ष बहुत अधिक था।

इंगलैण्ड तथा इटली—इगलैण्ड की विदेश नीति यूरोप के प्रत्येक देश के प्रभाव को रोकने में लगी रहती थी। वह रूस, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि की विदेश नीति, उपनिवेश विस्तार तथा औद्योगिक प्रगति के विरुद्ध था। इंगलैण्ड के उपनिवेश एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा अमरीका में इतने अधिक फैले हुए थे कि वह किसी भी देश के किसी भी कार्य को अपनी सुरक्षा के विरुद्ध बता सकता था। इंगलैण्ड अपनी नीति का उद्देश्य शक्ति सन्तुलन बताता था किन्तु इसका अर्थ दूसरे किसी भी देश की शक्ति को बढ़ने देने से रोकना था। इसी प्रकार इटली भी आस्ट्रिया से यूरोप के कुछ प्रदेश प्राप्त करना चाहता था जिनमें इटली राष्ट्र के सदस्य रहते थे।

सैन्यवाद की प्रगति

विभिन्न राष्ट्रों के आपसी मतभेद बढ़ने से यह आवश्यक हुआ कि प्रत्येक देश अपनी सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली सेना का गठन करे। इंगलैण्ड को छोड़कर अन्य अधिकांश देशों ने आवश्यक सैनिक सेवा लागू कर रखी थी। एक-दूसरे के सुरक्षा सम्बन्धी प्रयत्नों को देखकर उन देशों में आपस में असुरक्षित होने की भावना पैदा होना स्वाभाविक ही था। विभिन्न देशों के दार्शनिक सैनिक संघर्ष को किसी न किसी रूप में उचित मानते थे।

प्रथम विश्व युद्ध के कारण

उपरोक्त संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप के विभिन्न देश एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। यह सन्देह का वातावरण दूषित होता गया और शीघ्र ही युद्ध में परिणत हो गया। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

1. **यूरोप का दो गुटों में विभाजित होना**—जब तक यूरोप के देशों में आपसी शत्रुता थी उस समय तक आपसी वैमनस्य बढ़ सकता था लेकिन युद्ध आरम्भ करने के लिए कुछ सहयोगियों की आवश्यकता थी। 1890 ई. के पश्चात् धीमे-धीमे यूरोप दो गुटों में विभाजित होता गया। यह ठीक है कि बिस्मार्क ने गुटबन्दी

की नीति आरम्भ की थी लेकिन उस समय तक केवल एक गुट था। 1894 ई. के पश्चात् दूसरे गुट का गठन आरम्भ हुआ। पहले रूस फ्रांस मे (1894 ई.) फिर इंगलैण्ड फ्रांस मे (1904 ई.) और रूस इंगलैण्ड मे (1907 ई.) परस्पर मैत्री स्थापित हुई। दूसरी ओर जर्मनी, आस्ट्रिया (1879 ई) और इटली की मित्रता (1882 ई) स्थापित थी। इन गुटो के निर्माण का प्रभाव यह हुआ कि कोई भी देश अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अन्तरराष्ट्रीय जगत में अपने को अकेला अनुभव नही करता था। इसलिए वह अधिक दृढ़ता से अपनी नीति का अनुसरण करता था जिससे तनावपूर्ण वातावरण बढ़ता था। इन दो गुटो मे सन्देह इसलिए और अधिक बढा क्योंकि ये सब सन्धियाँ गुप्त होती थी। प्रत्येक सन्धि होते समय विभिन्न प्रकार की अटकलें लगायी जाती थी और इससे देशो के आपसी सम्बन्धो मे तनाव पैदा हो जाता था।

2. उग्र राष्ट्रीयता—उग्र राष्ट्रीयता यूरोप के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई। प्रत्येक राष्ट्र अपने को अन्य की अपेक्षा महान समझता था तथा दूसरे को हेय समझता था। वह अपने धर्म, भाषा, संस्कृति को सबसे उन्नत समझता था। यह भावना केवल महान राष्ट्रो मे ही नही थी अपितु बल्कान प्रायद्वीप के अन्य छोटे-छोटे राज्य भी इससे प्रभावित थे। इसका परिणाम यह हुआ कि चेक, पोल, सर्ब तथा स्लाव जातियाँ अपने-अपने जातीय राज्यों मे मिल जाना चाहती थी। यह कार्य आस्ट्रिया के साम्राज्य को खण्डित करके ही सम्भव था। जर्मनी आस्ट्रिया के पक्ष मे था, इसीलिए वह बल्कान राष्ट्रीयता की भावना का विरोधी था।

3 साम्राज्यवाद—औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप प्रत्येक देश कच्चे माल के स्रोत तथा अपने यहाँ उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिए सुरक्षित बाजारो की तलाश मे था। साम्राज्य विस्तार से ये दोनो ही बातें पूर्ण हो सकती थीं। 19वी शताब्दी मे विश्व में काफी स्थान ऐसे थे जहाँ पर प्रत्येक देश अपनी आवश्यकतानुसार अधिकार स्थापित कर सकता था। लेकिन 20वीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते यह विस्तृत क्षेत्र छोटा पड़ गया था। जर्मनी यूरोप का सबसे शक्तिशाली राज्य था लेकिन साम्राज्य विस्तार मे वह इगलैण्ड तथा फ्रास से काफी पीछे था। इसलिए समुचित स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था। जर्मनी की औद्योगिक तथा नाविक शक्ति का बढ़ना इगलैण्ड सहन नही कर सकता था। इसलिए इन दोनों महान देशो में आपसी तनाव बहुत अधिक बढ गया।

4. सैन्यवाद—यूरोपीय देश उग्र राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर साम्राज्य स्थापना के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिए केवल सैन्यवाद का ही मार्ग उपलब्ध था। यूरोप के विभिन्न देश अपनी राजकीय आय का आधे से अधिक भाग सैन्य संचालन तथा अस्त्र-शस्त्र खरीदने पर खर्च कर रहे थे। इस सैन्य संगठन का परिणाम सुरक्षा न होकर असुरक्षा तथा सन्देहात्मक वातावरण का उत्पन्न कराना हुआ। अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 1905 ई. मे लिखा था कि जर्मनी इंगलैण्ड के भय से पीड़ित था और इगलैण्ड स्वयं जर्मनी के आक्रमण की सम्भावना से बचाव

का प्रयत्न कर रहा था। इंगलैण्ड और जर्मनी की नाविक प्रतिस्पर्धा सैन्यवाद को बढ़ावा देने में अत्यधिक सहायक हुई। 1889 ई. इंगलैण्ड की नाविक शक्ति का लक्ष्य किन्हीं भी देशों की शक्ति से 10 प्रतिशत अधिक होना निश्चित हुआ था। इस महत्वाकांक्षी उद्देश्य की प्राप्ति में 1900 ई. के पश्चात् कठिनाई पैदा हुई जब जर्मनी ने भी अपनी नौसैनिक शक्ति को बढ़ाना आरम्भ किया।

प्रथम विश्वयुद्ध से एक वर्ष पूर्व (1913 ई. मे) प्रकाशित व्यग्य चित्र, जिसमें शान्ति काल में राष्ट्रो द्वारा किये गये अस्त्र सग्रह भार की व्यंग्यपूर्ण स्थिति दिखायी गयी है

5. **फ्रांस की प्रतिशोध की भावना**—1871 ई. के पश्चात् फ्रास की विदेश नीति का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य जर्मनी से अपनी पराजय का प्रतिशोध लेना था। एलसेस लॉरेन प्रदेशों का जर्मनी को प्राप्त हो जाना उसके लिए असह्य था। वह जानता था कि अकेले युद्ध करने में शायद जर्मनी को पराजित करना सरल न हो ... जो युद्ध आरम्भ हो वह इतना व्यापक होना चाहिए कि जर्मनी उसमें ... न कर सके। एलसेस लॉरेन का महत्त्व इस बात से और अधिक बढ़ ... कि वहाँ पर लोहे की खानें थी और नयी औद्योगिक प्रगति से अब घटिया ... के लोहे को इस्पात में परिवर्तित किया जा सकता था।

6 अन्तरराष्ट्रीय अराजकता—यूरोपीय देश इस बात की आवश्यकता से परिचित थे कि कोई अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था आपसी झगडो को हल करने के लिए होनी आवश्यक थी। कुछ अन्तरराष्ट्रीय सभाएँ और समझौते भी होते थे। लेकिन कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नो को हल करने के लिए कोई व्यवस्था ऐसी नही थी जिससे उन्हें हल किया जा सके; जैसे—राष्ट्रीय सेनाओ की संख्या तथा अस्त्र-शस्त्र की होड की सीमा अथवा राष्ट्रीय आय का कितना भाग सैनिक सामग्री पर खर्च किया जाये ? राष्ट्रीय हित क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर एक राष्ट्र स्वय अपने आप ही देता था। दो हेग सम्मेलन 1899 और 1907 ई. मे हुए थे लेकिन वे भी स्थायी नहीं हो सके।

7 जनमत तथा समाचार-पत्रो का प्रभाव—20वी शताब्दी के आरम्भ मे प्राय सभी देशो मे जनमत का समर्थन प्राप्त किया जाता था। चाहे वहाँ प्रजातान्त्रिक सरकार हो अथवा न हो, शासन का लक्ष्य जनमत को उत्तेजित करना तथा राजकीय नीतियों के प्रति समर्थन प्राप्त करना था। जर्मनी तथा इगलैण्ड की जनता एक-दूसरे राज्यो की नीतियों के प्रति सन्देह का दृष्टिकोण रखती थी। जर्मनी के समाचार-पत्र इगलैण्ड की नीतियों की निरन्तर आलोचना करते थे। जर्मनी का जनमत इगलैण्ड के साम्राज्य विस्तार के विरुद्ध था। इगलैण्ड का जनमत जर्मनी की बढती हुई शक्ति से भयभीत था तथा इगलैण्ड की सरकार पर दबाव डालकर सैनिक शक्ति बढाने को बाध्य कर रहा था। इगलैण्ड और जर्मनी के समाचार-पत्रो के इस परस्पर विरोधी प्रचार से सम्बन्धो का कटु होना स्वाभाविक हो था।

8 बल्कान प्रायद्वीप की समस्या—बल्कान प्रायद्वीप यूरोप के विभिन्न देशो के लिए लडाई का मैदान था। इस क्षेत्र मे रूस, आस्ट्रिया, जर्मनी इटली, तुर्की आदि देशो की नीतियाँ आपस मे परस्पर टकराती थी। आस्ट्रिया राष्ट्रीयता की भावना को कुचलना चाहता था, रूस उस भावना को बढावा देता था। 1908 ई मे आस्ट्रिया ने स्लाव राष्ट्रीयता को कुचलने के लिए बोसनिया प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। यह सर्बिया के लिए घातक था। वह रूस की सहायता पर निर्भर करता था। रूस अपनी सैनिक दुर्बलता के कारण 1908 ई मे युद्ध आरम्भ न कर सका लेकिन इसका यह आवश्यक परिणाम हुआ कि किसी भी नयी परिस्थिति मे रूस युद्ध मे भाग लेने के लिए सबसे पहले तैयार हो गया। 1912-13 ई मे बल्कान प्रायद्वीप के विभिन्न छोटे राज्यों मे आपसी सघर्ष बहुत अधिक बढा हुआ था। इन राज्यो के आपसी सघर्ष मे विभिन्न बडे राज्य भी रुचि रखते थे। यह स्पष्ट था कि यूरोपीय राज्यो मे युद्ध बल्कान प्रायद्वीप मे ही आरम्भ होगा।

9. तात्कालिक कारण : फरडिनेण्ड हत्याकाण्ड—28 जून, 1914 ई. को आस्ट्रिया के राजकुमार फ्रांसिस फरडिनेण्ड तथा उसकी पत्नी की बोसनिया की राजधानी सेराजेवो में हत्या कर दी गयी। यह हत्या एक सर्ब द्वारा की गयी थी।

इस हत्या का सारा दोष आस्ट्रिया ने सर्बिया पर थोपा जबकि वास्तव में सर्बिया का दोष नही था। सर्बिया को कुछ ज्ञान इस षड्यन्त्र का था लेकिन उसने इस

षड्यन्त्र की कोई सूचना आस्ट्रिया को नहीं दी थी। आस्ट्रिया का राजकुमार स्लाव जाति के अधिकारों का समर्थक था और आस्ट्रिया के साम्राज्यवादी उनकी योजनाओं से सहमत नही थे। आस्ट्रिया के अधिकारियों ने उनकी सुरक्षा का उचित प्रवन्ध नही किया था। इस हत्याकाण्ड को वहाना वनाकर आस्ट्रिया ने सर्बिया से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया।

आस्ट्रिया का अल्टीमेटम—28 जून, 1914 ई. के पश्चात् आस्ट्रिया तीन सप्ताह से अधिक समय तक अपने निर्णय पर विचार करता रहा। इस बीच उसने जर्मनी से पूर्ण समर्थन प्राप्त किया और एक ऐसी योजना बनायी जिसका परिणाम सर्बिया का अन्त हो। 23 जुलाई, 1914 ई. को शाम के 6 बजे सर्बिया सरकार को आस्ट्रिया की ओर से एक अल्टीमेटम दिया गया जो 48 घंटो के भीतर उसे स्वीकार करना था। इस अल्टीमेटम की शर्तें अत्यन्त कठोर थी। उन शर्तों का सारांश यह था कि सर्बिया राज्य एक प्रकार से इस हत्या के लिए अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करे तथा कर्मचारियों को दण्ड दे तथा आस्ट्रिया विरोधी प्रचार वन्द करवा दे और आस्ट्रिया के कर्मचारियों को सर्बिया मे आस्ट्रिया विरोधी षड्यन्त्र को समाप्त करने के लिए पूरी सुविधाएँ प्रदान करे।

आस्ट्रिया का यह अल्टीमेटम अत्यन्त कठोर था तथा इसे जानवूझकर ऐसा बनाया गया था कि सर्बिया उसे अस्वीकार कर दे। लेकिन इसके मुख्य साराश को सर्बिया ने स्वीकार कर लिया। फिर भी आस्ट्रिया ने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिये क्योकि सर्बिया ने पूर्णतया इस अल्टीमेटम को स्वीकार नही किया था।

युद्ध की घोषणा—25 जुलाई, 1914 ई. से घटनाओ का चक्र अत्यन्त वेग से चला और 3-4 अगस्त, 1914 ई. तक युद्ध आरम्भ हो चुका था। 28 जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उत्तर मे सर्बिया ने भी युद्ध घोषित कर दिया। रूस ने 30 जुलाई को सेना के प्रयाण का आदेश प्रसारित कर दिया। रूस के इस कार्य ने यूरोप के देशो को युद्ध की ओर धकेल दिया। इस समय इंगलैण्ड और जर्मनी, आस्ट्रिया को रोकने का प्रयत्न कर रहे थे। जर्मनी की कोई रुचि अब युद्ध रोकने में नही थी क्योकि वह रूस की सेनाओ के तैयार होने से पूर्व ही फ्रांस को हरा देना चाहता था। फ्रास ने 1 अगस्त, 1914 ई. को अपनी सेना के प्रयाण का आदेश दे दिया। जर्मनी ने 3 अगस्त, 1914 ई. को बेलजियम के द्वारा फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। इंगलैंड बेलजियम की तटस्थता की खातिर युद्ध में कूद पडा। युद्ध में इगलैण्ड को आना तो पड़ता ही, शायद और किसी वहाने से युद्ध में सम्मिलित होने मे दो-चार दिन का समय लगता। इस प्रकार विश्व युद्ध आरम्भ हुआ जो नवम्बर 1918 ई. तक चला। इस युद्ध मे इंगलैण्ड, फ्रास तथा उनके समर्थकों को मित्र राष्ट्र कहकर पुकारा जाता है जबकि जर्मनी और उसके समर्थकों को केन्द्रीय राज्य कहा जाता था।

युद्ध के लिए दोषी कौन था—वार्साय की सन्धि (1919 ई) ने यह निर्णय

[illegible] कि इस युद्ध का पूरा दोष जर्मनी तथा उसके मित्रों पर था। यह विचार बहुत समय तक बना रहा लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व तक विभिन्न देशों ने अपने अभिलेखागारों के गुप्त पत्र प्रकाशित करना आरम्भ किये तो यह स्पष्ट हुआ कि जर्मनी ही नहीं बल्कि [illegible] इस युद्ध के लिए उत्तरदायी था। [illegible] इंग्लैण्ड [illegible] यह युद्ध [illegible] था लेकिन प्रत्येक देश अपने हितों की पूर्ति के लिए युद्ध आवश्यक समझता [illegible] के लिए युद्ध प्रारम्भ करने के लिए तैयार बैठा था।

युद्ध की घटनाएँ—इस युद्ध का स्वरूप अब तक के युद्धों से भिन्न था। यह युद्ध एक व्यापक युद्ध था जो [illegible] पर लड़ा गया था। इसलिए कूटनीतिक [illegible] और [illegible] का संचालन [illegible] देशों में सैनिक अधिकारियों के हाथ में चला गया। प्रत्येक देश को सैनिक व्यवस्था की आवश्यकता थी इसलिए भी कूटनीति को सैनिक व्यवस्था ने [illegible] कर दिया गया।

1914 ई. की घटनाएँ—युद्ध का पश्चिमी मोर्चा जर्मनी द्वारा फ्रांस पर आक्रमण से आरम्भ हुआ। यह आक्रमण बेल्जियम के मार्ग से हुआ। जर्मन सेनाध्यक्षों ने बहुत पहले से इस योजना को पूरा कर रखा था लेकिन बेल्जियम ने आशा से अधिक विरोध किया और बेल्जियम को पार करने में उन्हें 20 दिन लग गये। फ्रांस के मार्न नदी पर भयंकर युद्ध हुआ। जर्मन सेनाओं को आरम्भ में कुछ सफलता मिली लेकिन फ्रांस और इंग्लैण्ड की सेनाओं ने जर्मन सेनाओं की गलती से लाभ उठाया और जर्मन सेना को पीछे हटना पड़ा। मार्न नदी की लड़ाई युद्ध की निर्णायक लड़ाई सिद्ध हुई। जर्मन सेनाओं के पीछे हटने के कारण जर्मनी की फ्रांस पर शीघ्र विजय प्राप्त की अभिलाषा समाप्त हो गयी और पश्चिमी मोर्चे पर अगले चार वर्षों तक कोई विशेष प्रगति न हो सकी।

इंगलिश चैनल की ओर दौड़—जर्मनी ने भी इस बात का प्रयत्न किया कि फ्रांस तथा बेल्जियम के समुद्री तट पर नियन्त्रण कर लिया जावे जिससे इंगलैण्ड फ्रांस को आवश्यक सैनिक सहायता न दे सके लेकिन इस कार्य में उन्हें कुछ ही सफलता मिल सकी। पूर्णरूप से वह समुद्री तट पर नियन्त्रण नहीं कर पाए। ईप्रे (Ypres) के स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ लेकिन जर्मन सेनाएँ उस पर नियन्त्रण नहीं स्थापित कर सकीं। फिर भी उत्तर-पूर्वी भाग तथा बेल्जियम का समुद्री तट जर्मनी के अधिकार में आ गये। इस प्रदेश में फ्रांस का 80 प्रतिशत कच्चा लोहा तथा 50 प्रतिशत कोयला था। इससे जर्मनी को युद्ध संचालन में अत्यधिक सहायता मिली।

पूर्वी मोर्चा—रूस ने अप्रत्याशित तेजी के साथ पूर्वी एशिया पर आक्रमण किया जिससे जर्मनी का फ्रांस पर दबाव कम हो सके। लेकिन हिण्डनबर्ग के नेतृत्व में जर्मन सेनाओं ने रूस को पराजित कर दिया। रूस की सेनाएँ आस्ट्रिया के विरुद्ध अधिक सफल रहीं। जर्मन सेनाओं की सहायता मिलने पर आस्ट्रिया की सेना ने रूस के अधिकार क्षेत्र को समाप्त कर दिया।

युद्ध के पश्चात् एक नये विश्व की रचना की जायगी । इन चौदह सूत्रों में मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं . (1) अन्तरराष्ट्रीय समझौते स्पष्ट होने चाहिए, (2) बड़े समुद्रों पर खुले व्यापार का अधिकार, (3) राष्ट्रों के मध्य व्यापारिक बन्धनों को समाप्त कर दिया जावे, (4) निरस्त्रीकरण किया जाय, (5) औपनिवेशिक प्रश्नों को वहाँ की जनता की इच्छानुसार हल किया जाय (6) एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय जो अन्तरराष्ट्रीय विवादों को हल कर सके, (7) यूरोप में जहाँ तक सम्भव हो विभिन्न देशों का सगठन राष्ट्रीयता के आधार पर किया जाय—इस प्रकार की व्यवस्था तुर्की, पोलैण्ड, आस्ट्रिया, हगरी, इटली आदि देशों के लिए की जाय ।

इन सिद्धान्तों को पेरिस शान्ति सम्मेलन के समक्ष रखा गया था और कुछ सीमा तक इनके अनुसार कार्य भी किया गया था । पेरिस शान्ति सम्मेलन में जिस सन्धि को तैयार किया गया उसे वार्साय की सन्धि कहते हैं । इसे इसलिए ऐसा कहा जाता है क्योंकि जर्मनी से इस सन्धि पर हस्ताक्षर वार्साय में उसी स्थान पर कराये गये थे जहाँ 48 वर्ष पूर्व बिस्मार्क ने प्रशा के राजा को जर्मनी का सम्राट घोषित किया था ।

वार्साय सन्धि की शर्तें

वार्साय सन्धि विस्तृत सन्धि थी । यह लगभग 230 पृष्ठों में छपी हुई थी तथा 15 भागों में बँटी हुई थी । इसमें 440 धाराएँ थी । इसकी मुख्य-मुख्य शर्तें ही यहाँ पर सक्षेप में दी जा रही हैं :

युद्ध के पश्चात् एक नये विश्व की रचना की जायगी। इन चौदह सूत्रों में मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं (1) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते स्पष्ट होने चाहिए, (2) बड़े समुद्रों पर खुले व्यापार का अधिकार, (3) राष्ट्रों के मध्य व्यापारिक बन्धनों को समाप्त कर दिया जाये, (4) निरस्त्रीकरण किया जाय, (5) औपनिवेशिक प्रश्नों को वहाँ की जनता की इच्छानुसार हल किया जाय (6) एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय जो अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल कर सके, (7) यूरोप में जहाँ तक सम्भव हो विभिन्न देशों का गठन राष्ट्रीयता के आधार पर किया जाय—इस प्रकार की व्यवस्था तुर्की, पोलैण्ड, बाल्कन, हंगरी, इटली आदि देशों के लिए की जाय।

इन सिद्धान्तों को पेरिस शान्ति सम्मेलन के समक्ष रखा गया था और कुछ सीमा तक इनके अनुसार कार्य भी किया गया था। पेरिस शान्ति सम्मेलन में जिस सन्धि को तैयार किया गया उसे वार्साय की सन्धि कहते हैं। इसे इसलिए ऐसा कहा जाता है क्योंकि जर्मनी से इस सन्धि पर हस्ताक्षर वार्साय में उसी स्थान पर कराये गये थे जहाँ 48 वर्ष पूर्व बिस्मार्क ने प्रशा के राजा को जर्मनी का सम्राट घोषित किया था।

वार्साय सन्धि की शर्तें

वार्साय सन्धि विस्तृत सन्धि थी। यह लगभग 230 पृष्ठों में छपी हुई थी तथा 15 भागों में बँटी हुई थी। इसमें 440 धाराएँ थीं। इसकी मुख्य-मुख्य शर्तें ही यहाँ पर संक्षेप में दी जा रही हैं :

1. एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की गयी (इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में किया जायगा)।

2. एलसेस लारेन फ्रांस को वापस दिला दिये गये। पोलैण्ड के नये राज्य का संगठन किया गया। जर्मनी के प्रसिद्ध सार प्रदेश पर 15 वर्ष के लिए राष्ट्रसंघ का नियन्त्रण स्थापित किया गया। यहाँ उत्पन्न कोयला तथा अन्य खनिज पदार्थ फ्रांस को प्राप्त होंगे। 15 वर्ष पश्चात् जनमत संग्रह द्वारा तय किया जायेगा कि यह प्रदेश किसके अधिकार में रहेगा।
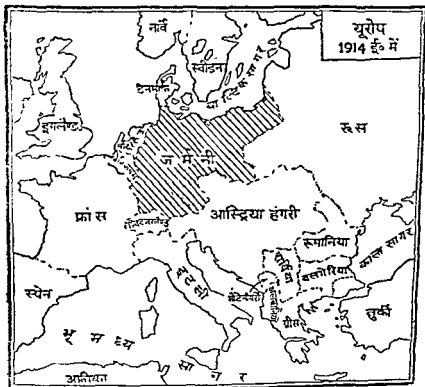
3. जर्मनी का समस्त औपनिवेशिक साम्राज्य छीन लिया गया और यह साम्राज्य विभिन्न मित्र राष्ट्रों को बाँट दिया गया। कहने के लिए ये प्रदेश केवल प्रशासन के लिए दिये गये थे।

4. जर्मनी की सेना बहुत कम कर दी गयी तथा उसकी संख्या एक लाख निश्चित कर दी गयी। उसका जहाजी बेड़ा इंगलैण्ड को सौंप दिया गया।

5. आस्ट्रिया, हंगरी के साम्राज्य को भंग कर दिया और उसके स्थान पर हंगरी, चेकोस्लोवाकिया के स्वतन्त्र राज्य बना दिये गये। आस्ट्रिया के कुछ प्रदेश सर्विया को दे दिये गये और इसका नाम यूगोस्लाविया रख दिया गया।

6. इटली को कुछ प्रदेश आस्ट्रिया से लेकर दे दिये गये। टर्की का साम्राज भंग कर दिया गया।

7. जर्मनी को क्षति-पूर्ति की बहुत अधिक धनराशि देनी पड़ी। इस क्षति पूर्ति का औचित्य यह था कि सन्धि के अनुसार जर्मनी तथा उसके मित्र देशों को युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया। हरजाने की मात्रा इतनी अधिक थी कि जर्मनी उसको पूर कर ही नहीं सकता था।
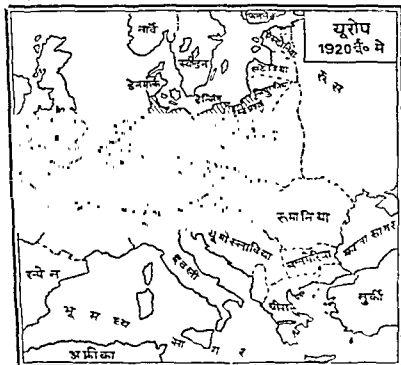
जर्मनी पर प्रभाव—इस सन्धि का जर्मनी पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इस सन्धि के परिणामस्वरूप जर्मनी को यूरोप में अपने 70,000 वर्ग किलोमीटर के भूभाग से हाथ धोना पड़ा। 60 लाख जनसंख्या कम हो गयी। कच्चे लोहे, कोयले, [illegible], शोरे के अधिकांश भण्डार उससे छीन लिये गये। इस प्रकार उद्योगों तथा कृषि उत्पादन का काफी बड़ा भाग मित्र राष्ट्रों को देना पड़ा। समुद्र पार का समस्त जर्मन साम्राज्य जर्मनी से छीन लिया गया और सैनिक दृष्टि से जर्मनी को एक अत्यन्त छोटे तथा दुर्बल राज्य के बराबर कर दिया गया और इतना सब करने के बाद जर्मनी से क्षति-पूर्ति की बहुत बड़ी धनराशि लेने की बात कही गयी थी। इस प्रकार जर्मनी को पूर्ण रूप से कुचल देने की व्यवस्था की गयी थी।

वार्साय सन्धि की आलोचना—वार्साय सन्धि की जर्मनी द्वारा तीव्र आलोचना की गयी थी। केवल जर्मनी द्वारा ही ऐसा नही हुआ अपितु मित्र राष्ट्रों के प्रभावशाली देशों मे भी इसकी आलोचना की गयी थी। विलसन स्वय सन्तुष्ट नही था। फ्रांस ने विदेशों पर विभिन्न आक्षेप लगाये। इस सन्धि के मुख्य दोष निम्नलिखित थे :

1. जर्मनी को शान्ति वार्ता मे न बुलाने से सन्धि एक प्रकार से 'आरोपित सन्धि' बन गयी थी, यद्यपि जर्मनी वहाँ उपस्थित भी होता तो भी कोई विशेष अन्तर न पड़ता, लेकिन यह दोष दूर हो सकता था।

2. जर्मनी ने युद्ध विराम विलसन के चौदह सूत्रों के आधार पर किया था। सन्धि के लिए उसका कहना था कि यह सन्धि चौदह सूत्रों का उल्लघन करती थी। पेरिस सम्मेलन का प्रमुख काम युद्ध की लूट को बाँटना था। जर्मनी के साथ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया था क्योंकि बहुत-से जर्मन प्रदेश, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया को दे दिये गये थे तथा आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण को मना कर दिया गया था। जर्मनी का निरस्त्रीकरण किया गया था लेकिन अन्य देशों का नही किया गया था।

कोई भी स्थायी सन्धि किसी एक बडे राष्ट्र के अपमान पर आधारित नहीं हो सकती थी। जर्मनी के प्रतिनिधियो का कहना था कि इस सन्धि को एक महान राष्ट्र कैसे सहन कर सकता है, इस सन्धि मे एक विषवृक्ष के बीज का आरोपण किया गया है। जर्मन नेताओ ने यह स्पष्ट कह दिया था कि वह सन्धि पर हस्ताक्षर तो करेगा परन्तु यथाशक्ति इसका विरोध करेगा। फ्रास के सेनाध्यक्ष फोश ने कहा कि वार्साय सन्धि, सन्धि नहीं थी बल्कि बीस वर्षों का युद्ध विराम थी। उसने बहुत ठीक कहा था।

सन्धि का औचित्य—निस्सन्देह वार्साय की सन्धि जर्मनी के लिए अत्यन्त कठोर थी। लेकिन जर्मनी यदि विजयी हो गया होता तो वह इससे भी अधिक कठोर सन्धि स्थापित करता जैसा कि उसने रूस के साथ किया था। इसके अतिरिक्त यदि 1914 ई के पूर्व और 1919 ई. के पश्चात् यूरोप के मानचित्र की तुलना की जाय तो यह सरलता से ही कहा जा सकता था कि 1919 ई. के पश्चात यूरोप का मानचित्र राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर गठित था। यदि कुछ राज्यों में अल्पसख्यक जातियाँ थीं तो इसका कारण था यूरोप की विभिन्न परिस्थितियाँ जिनमे विभिन्न जातियाँ विभिन्न देशो मे फैली हुई थी।

एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि यदि एक उदार सन्धि स्थापित होती तो इस बात का कोई आश्वासन नही दे सकता था कि जर्मनी उसका अधिक पालन करता। जिन तत्त्वों ने 1919 ई. की सन्धि का समर्थन किया था वे किसी अन्य सन्धि का निश्चित विरोध करते, यदि उस राज्यों मे उन सन्धि की महत्त्वाकाक्षा पूरी नही होती। राष्ट्रसघ की स्थापना से कम से कम यह विश्वास होता था कि यदि कुछ कठोर शर्तें वार्साय द्वारा स्थापित की गयी हैं तो उन्हे शीघ्र ही अन्तरराष्ट्रीय सस्था द्वारा बदला जा सकेगा।

समय रेखा

मई 1915
इटली का मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लेना
गैलीपोली युद्ध
दिसम्बर
मई 1916
जटलैण्ड की नौसैनिक लड़ाई
सितम्बर
पनडुब्बी युद्ध का आरम्भ
अप्रैल 1917
संयुक्त राज्य अमरीका का युद्ध में भाग लेना
नवम्बर
रूस में साम्यवादी क्रान्ति तथा युद्ध समाप्ति की रूस द्वारा घोषणा
मार्च 1918
जर्मनी का पेरिस पर अधिकार करने का अन्तिम प्रयास
जुलाई
मित्र राष्ट्रों का जर्मनी पर आक्रमण
नवम्बर
जर्मनी का आत्म समर्पण
जनवरी 1919
पेरिस में शान्ति सम्मेलन आरम्भ
जून
जर्मनी का वर्साय सन्धि पर हस्ताक्षर
स्केल 1 सेंटिमीटर = ½ वर्ष
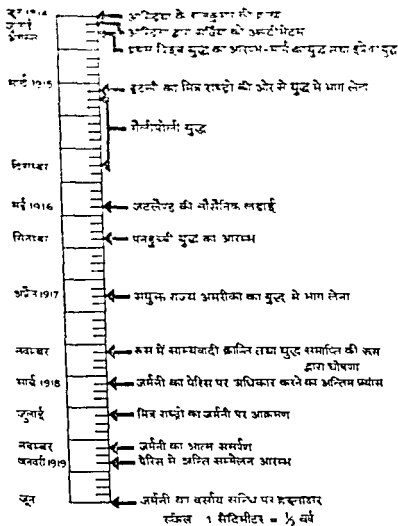
प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. बीसवी शती के प्रारम्भ मे इगलैण्ड की विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य था—
   (क) रूस और जर्मनी मे मैत्री स्थापित न हो
   (ख) यूरोप मे शक्ति सन्तुलन बनाये रखना
   (ग) किसी भी देश की शक्ति को बढ़ाने से रोकना
   (घ) यूरोप के प्रत्येक देश के प्रभाव को रोकना ( )
2. फ्रास की जर्मनी के प्रति प्रतिशोधात्मक भावना का मुख्य कारण था—
   (क) फ्रास के औद्योगिक विकास पर जर्मनी ने प्रतिबन्ध लगा रखे थे
   (ख) एलसेस और लारेन पर जर्मनी का अधिकार था
   (ग) जर्मनी की योजनाएँ फ्रांस के लिए हानिकारक थी
   (घ) फ्रास के दार्शनिक जर्मनी के विरुद्ध घृणा का प्रचार कर रहे थे ( )
3. इगलैण्ड से जर्मनी के सम्बन्ध खराब होने का कारण था—
   (क) इगलैण्ड के विशाल साम्राज्य से जर्मनी का जनमत विरुद्ध था
   (ख) जर्मनी के विस्तार मे इगलैण्ड बाधक था
   (ग) इगलैण्ड अपनी सेना का विस्तार कर रहा था
   (घ) इगलैण्ड के पत्र जर्मनी की आलोचना कर रहे थे ( )
4. फांसिस फर्डिनेण्ड की हत्या की गयी—
   (क) जून 1914 ई. मे (ख) जुलाई 1914 ई. में
   (ग) मई 1911ई. मे (घ) 1881ई. में ( )
5. इगलैण्ड के प्रथम महायुद्ध मे सम्मिलित होने का कारण था—
   (क) आस्ट्रिया जर्मनी ने इंगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी
   (ख) जर्मनी ने फ्रास पर बेलजियम से होकर आक्रमण किया
   (ग) इगलैण्ड ने फ्रास को सुरक्षा की गारण्टी दे रखी थी
   (घ) इगलैण्ड जर्मनी के विरुद्ध युद्ध के अवसर की तलाश मे था ( )
6. प्रथम महायुद्ध मे जर्मनी और उसके समर्थक राष्ट्रो को कहा गया—
   (क) धुरी राष्ट्र (ख) केन्द्रीय राज्य
   (ग) मित्र राष्ट्र (घ) शत्रु देश ( )
7. वार्साय की सन्धि के अनुसार प्रथम महायुद्ध का दोषी था—
   (क) इगलैण्ड और उसके समर्थक राष्ट्र
   (ख) जर्मनी और उसके समर्थक राष्ट्र
   (ग) आस्ट्रिया जिसने सर्बिया को अल्टीमेटम दिया
   (घ) केवल सर्बिया जिसने अल्टीमेटम स्वीकार नही किया ( )

8. जटलैण्ड की प्रसिद्ध लड़ाई का उद्देश्य था—
   (क) जर्मनी के बेड़े की सर्वोच्चता सिद्ध करना
   (ख) जर्मनी द्वारा जल युद्ध में विजय प्राप्त करना
   (ग) इंगलैण्ड के अवरोध को समाप्त करना
   (घ) इंगलैण्ड के जहाजी बेड़े को समाप्त करना ( )
9. प्रथम महायुद्ध में अमरीका के भाग लेने का प्रमुख कारण था—
   (क) जर्मनी की विजयों से प्रजातन्त्र को खतरा हो गया था
   (ख) जर्मनी ने अमरीका के जहाजों को डुबाना प्रारम्भ कर दिया था
   (ग) इंगलैण्ड ने अमरीका से युद्ध में शामिल होने के लिए कहा
   (घ) युद्ध को शीघ्र समाप्त करना ( )
10. पराजित जर्मनी से वार्साय के शीशमहल में सन्धि पर हस्ताक्षर करवाने का उद्देश्य था—
   (क) 1871 ई. के अपमान का बदला लेना
   (ख) जर्मनी का अपमान करना
   (ग) जर्मनी को उसके प्राचीन गौरव का स्मरण कराना
   (घ) जर्मनी हस्ताक्षर से मना न कर सके ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों में दीजिए—

1. *यदि प्रथम महायुद्ध में जर्मनी विजयी होता तो वह पराजित राष्ट्रों के साथ वार्साय से भी कठोर सन्धि करता, इसका प्रमाण क्या है ?*
2. प्रथम महायुद्ध से पूर्व फ्रांस की किन देशों से मैत्री थी ?
3. फ्रांस प्रथम विश्व युद्ध से किस अपमान का बदला लेना चाहता था ?
4. सैनिक प्रतिस्पर्धा ने किस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध का वातावरण तैयार किया ?
5. प्रथम महायुद्ध का तत्कालीन कारण क्या था ?
6. आस्ट्रिया ने सर्बिया को 48 घण्टे का अल्टीमेटम हत्या के 25 दिन पश्चात् क्यों दिया ?
7. 1917 ई. की दो प्रमुख घटनाएँ बताओ जिनका युद्ध पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।
8. विल्सन के 14 सूत्रों में से मुख्य चार का वर्णन करो।
9. वार्साय की सन्धि की कुछ धाराएँ द्वितीय विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी थीं—वे कौनसी धाराएँ थी ?
10. *वार्साय की सन्धि के विषय में अपने विचार प्रकट कीजिए।*

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रथम महायुद्ध के मुख्य कारण लिखिए।
2. प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की असफलता के कारण लिखिए।
3. वार्साय की सन्धि की (क) क्या शर्तें थी तथा (ख) इसमें क्या दोष थे ?
4. प्रथम महायुद्ध की घटनाओं का संक्षेप में वर्णन करो।

12

राष्ट्रसंघ

राष्ट्रसंघ की स्थापना

प्रथम विश्व युद्ध के मध्य विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक अन्तर राष्ट्रीय शान्ति व्यवस्था को स्थायी रूप से बनाये रखने की समस्या पर विचार कर रहे थे। इंगलैण्ड के नेता लायड जार्ज तथा फ्रांस के नेता क्लीमेन्श्यू ने भी इस समस्या पर अपने विचार व्यक्त किये थे लेकिन अन्य राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने शान्ति व्यवस्था के बनाये रखने के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन की व्यवस्था पर अधिक बल दिया था तथा इसे अपने चौदह सूत्रों में भी सम्मिलित कर लिया था। इसलिए साधारणतया विलसन को इस राष्ट्रसंघ का संस्थापक कहा जाता है।

विलसन समझता था कि राष्ट्रसंघ की स्थापना को वार्साय सन्धि का एक अंग बना लिया जाये। उसका विचार था कि एक बार शान्ति स्थापित हो जाने से विभिन्न देश अन्तरराष्ट्रीय संघ की स्थापना के लिए शिथिल पड़ जायेंगे। वह इस विचार से भी सहमत नहीं था कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता कुछ देशों तक ही सीमित रखी जाय। राष्ट्रसंघ की सदस्यता उन सब राष्ट्रों को उपलब्ध थी जिन्होंने पेरिस शान्ति सम्मेलन में भाग लिया था तथा सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे। नये सदस्यों के सम्मिलित होने की भी व्यवस्था थी। वार्साय सन्धि का पहला भाग राष्ट्रसंघ के विधान से सम्बन्धित था।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य

राष्ट्रसंघ की स्थापना केवल शान्ति स्थापना के लिए ही नहीं की गयी थी अपितु इसके कई उद्देश्य थे :

1. इस संघ को शान्ति सन्धि द्वारा कुछ कार्य सौंपे गये थे। उन कार्यों को सुचारु रूप से चलाना इसका प्रमुख कार्य था। उदाहरण के लिए, 15 वर्षों के लिए सार प्रदेश तथा डेंजिग नगर का प्रशासन चलाने का उत्तरदायित्व इस संघ को दिया गया था, अल्पसंख्यक जातियों तथा उपनिवेशों की देखभाल भी करनी होती थी।

2. राष्ट्रसंघ को मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए विविध उपाय करने थे। विश्व में प्रचलित विभिन्न कुरीतियों को रोकना, महामारियों की रोकथाम करना, स्त्रियों तथा बच्चों के क्रय-विक्रय तथा दास-प्रथा को समाप्त करने के लिए प्रयत्न करना इसके कार्य थे। मनुष्य समाज विभिन्न राजनीतिक इकाइयों में बँटा हुआ था

इसलिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में सहयोग प्राप्त करना राष्ट्रसंघ का ही कार्य था।

3. राष्ट्रसंघ का तीसरा परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य विश्व में शान्ति स्थापित रखना था और इसके लिए युद्ध का निराकरण आवश्यक था। राष्ट्रसंघ के विधान पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक देश ने इस बात का आश्वासन दिया था कि वह अन्य राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखेगा। राष्ट्रसंघ को इस बात के लिए प्रयत्न करना था कि उन सब कारणों को दूर कर दिया जाये जो युद्ध आरम्भ करने में सहायक होते हैं; जैसे—अस्त्र-शस्त्रों की होड को रोकना तथा दो या अधिक देशों के मध्य झगड़ों को हल करना।

राष्ट्रसंघ की सदस्यता—राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र को प्राप्त हो सकती थी यदि वह राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों और विधान का पालन करने का वचन दे। कुछ देशों को जिनकी कुल संख्या 31 थी आरम्भ से ही राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त थी। उनके नाम राष्ट्रसंघ विधान के परिशिष्ट में दे दिये गये थे। नये देशों को सदस्यता प्रदान करने का अधिकार साधारण सभा के 2/3 बहुमत को था। इसकी अधिकतम सदस्यता 54 तक पहुँच गयी थी।

सदस्यों को दो वर्ष पूर्व सूचना देकर सदस्यता छोड़ सकने का अधिकार था। इस प्रकार इटली, जर्मनी, जापान, ब्राजील आदि ने सदस्यता छोड़ दी थी। इसी प्रकार राष्ट्रसंघ की काउन्सिल को किसी सदस्य राज्य को सदस्यता से वंचित करने का अधिकार था। इस प्रकार काउन्सिल ने रूस को 1939 ई. में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण सदस्यता से वंचित कर दिया था।

राष्ट्रसंघ का संगठन

राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किस प्रकार कार्य करे, यह उसके संगठन से स्पष्ट हो जाता है। इस संघ के तीन प्रधान अंग थे : एसेम्बली, काउन्सिल तथा सेक्रेटेरिएट।

एसेम्बली (राष्ट्रसंघ सभा)—राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों के प्रतिनिधियों की सभा को एसेम्बली कहते थे। सब सदस्यों के अधिकार समान थे, चाहे वे देश बड़े हों अथवा छोटे। एक देश अपने तीन प्रतिनिधि इस एसेम्बली में भेज सकता था लेकिन उसको एक ही वोट का अधिकार प्राप्त था। इस एसेम्बली का एक वार्षिक अधिवेशन आवश्यक था जो सितम्बर के महीने में प्रतिवर्ष आरम्भ होता था। इसके विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते थे। राष्ट्रसंघ के समक्ष जितनी भी समस्याएँ उत्पन्न होती थीं उन सब पर विचार करने का अधिकार एसेम्बली को होता था। इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित होते थे :

1. राष्ट्रसंघ के बजट का निर्णय एसेम्बली द्वारा ही होता था। राष्ट्रसंघ के लिए प्रत्येक सदस्य देश को कुछ धनराशि देनी होती थी। इस राशि को एसेम्बली ही तय करती थी।

2. राष्ट्रसंघ में यदि कोई संशोधन करना होता तो यह एसेम्बली ही कर सकती थी। संशोधन की प्रणाली अत्यन्त कठिन थी। पहले संशोधन का प्रस्ताव एकमत से काउन्सिल पारित करके राष्ट्रसंघ की एसेम्बली के समक्ष प्रस्तुत करे फिर बहुमत से इसे एसेम्बली स्वीकार करे और इसके पश्चात् संघ के सदस्य देशों की सरकारें इस संशोधन को स्वीकार कर लें।

3. राष्ट्रसंघ के जितने भी निर्वाचन होते थे वे सब एसेम्बली द्वारा ही किये जाते थे, चाहे किसी नये देश को सदस्य बनाना हो अथवा न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त करना हो अथवा समितियों के सदस्यों का निर्वाचन करना हो। एसेम्बली की कार्यप्रणाली पर दो प्रतिबन्ध थे—(1) यह अपने सदस्य देशों की आन्तरिक समस्याओं पर विचार नहीं कर सकती थी। (2) इसको अपने निर्णय सर्वसम्मति से लेने होते थे—दूसरे शब्दों में, कोई भी एक देश यदि विरोधी हो तो इसके निर्णय लागू नहीं माने जायेंगे।

यह प्रतिवर्ष कुछ अस्थायी समितियाँ नियुक्त करती थी जो विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित तथ्य एकत्र करके एसेम्बली के समक्ष अपनी रिपोर्ट पेश करती थीं। यह किसी भी समस्या पर, जिससे विश्व शान्ति को भय हो, विचार कर सकती थी।

काउन्सिल परिषद—प्रतिनिधि सभा के अतिरिक्त एक कार्यकारिणी समिति की भी स्थापना की गयी थी जिसे काउन्सिल कहते थे। इस काउन्सिल में दो प्रकार के सदस्य होते थे—स्थायी और अस्थायी। प्रारम्भ में इसके स्थायी सदस्य पाँच थे—संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली तथा जापान। अस्थायी सदस्य चार थे। समय-समय पर इन अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ायी जा सकती थी। 1934 ई. में इसके अस्थायी सदस्यों की संख्या 11 हो गयी थी। इसके सदस्यों को सर्वसम्मति से कार्य करना होता था। 1929 ई. के पश्चात् नियमतः वर्ष भर में उसके तीन अधिवेशन होना आवश्यक था। यदि आवश्यक हो तो अधिक अधिवेशन भी हो सकते थे।

राष्ट्रसंघ के समस्त कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करना इस काउन्सिल का उत्तरदायित्व था। इसका सबसे मुख्य कार्य अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों को हल करना था। यह निरस्त्रीकरण की योजनाएँ बनाकर एसेम्बली के समक्ष रखती थी। एसेम्बली द्वारा पास किये गये निर्णयों को लागू करने के लिए प्रयत्न करना भी इसी के कार्यक्षेत्र में आता था। सार क्षेत्र तथा डैंजिग का प्रशासन, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का उत्तरदायित्व भी काउन्सिल पर ही था।

सचिवालय—राष्ट्रसंघ का कार्यालय स्विट्ज़रलैण्ड के जिनेवा नगर में था। राष्ट्रसंघ के सभी कार्य पत्र-व्यवहार द्वारा सम्पन्न होते थे। यह कार्य राष्ट्रसंघ सचिवालय ही करता था। इस सचिवालय का प्रमुख अधिकारी महासचिव होता था। इस कार्यालय का कार्य राष्ट्रसंघ एसेम्बली तथा काउन्सिल के लिए विभिन्न देशों से सूचना प्राप्त करना तथा एसेम्बली तथा काउन्सिल की कार्यवाही को प्रकाशित करना था।

राष्ट्रसंघ के अधीन कुछ प्रमुख संस्थाएं

अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय—राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्य अन्तरराष्ट्रीय झगडों को हल करना था। इसके लिए 1921 ई. मे अन्तरराष्ट्रीय न्याय के लिए एक स्थायी न्यायालय स्थापित किया गया। आरम्भ मे इसके न्यायाधीशो की संख्या 11 रखी गयी। लेकिन बाद में यह संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गयी। ये न्यायाधीश एसेम्बली द्वारा 9 वर्षों के लिए नियुक्त होते थे। इसका प्रधान कार्यालय हेग मे था।

अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन—इसी प्रकार की एक दूसरी संस्था अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन थी। 1917 ई. में रूस की क्रान्ति के पश्चात् यह समझा जाता था कि यदि श्रमिकों की स्थिति को नही सुधारा गया तो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर साम्यवादी क्रान्ति को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। विभिन्न देश अपनी पारस्परिक द्वेष भावना तथा प्रतिस्पर्धा के कारण मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए कोई विशेष कार्य नही कर पाते थे। इसलिए मजदूरों की दशा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ही सुधर सकती थी। इस श्रम संगठन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न देशो के श्रम कानूनो मे समानता लाना था तथा मजदूरों को संतुष्ट करना था। इस संगठन का कोई भी देश सदस्य हो सकता था चाहे वह राष्ट्रसंघ का सदस्य हो अथवा नही।

राष्ट्रसंघ के कार्य

1. प्रशासकीय कार्य—राष्ट्रसंघ को डेंजिग तथा सार प्रदेश के प्रशासन का कार्य सौंपा गया था। सार प्रदेश तो केवल 15 वर्षों के लिए राष्ट्रसंघ के आधीन था और 1 मार्च, 1935 ई. को यह प्रदेश जर्मनी को वापस लौटा दिया गया। डेंजिग और पोलैण्ड मे निरन्तर झगडा चलता रहता था। डेंजिग के लिए राष्ट्रसंघ ने एक उच्च आयुक्त नियुक्त किया था। जर्मनी में नाजी दल को प्रभुत्व प्राप्त हो जाने के बाद डेंजिग तथा पोलैण्ड मे मतभेद बढ़ गया जिसका परिणाम द्वितीय विश्व युद्ध के रूप मे निकला।

मैण्डेट प्रणाली—राष्ट्रसंघ को उन क्षेत्रों के प्रशासन का कार्य भार सौंपा गया। जो पहले जर्मनी तथा टर्की के साम्राज्य मे सम्मिलित थे। इन उपनिवेशो मे स्वशासन की माँग को प्रोत्साहन दिया गया था। मित्र राष्ट्रों ने उन उपनिवेशो का संरक्षण राष्ट्रसंघ को सौंप दिया। राष्ट्रसंघ ने इन उपनिवेशो को विभिन्न राष्ट्रों को सौंप दिया और इस प्रकार साम्राज्यवादी देशो ने अपने साम्राज्यवादी हितो को छिपाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार स्वशासन का नाम भी रह गया और शत्रु के उपनिवेशो पर मित्र राष्ट्रों का साम्राज्य भी स्थापित हो गया। इस प्रणाली को मैंण्डेट प्रणाली कहते है। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रसंघ के समक्ष साम्राज्यवादी देश प्रस्तुत करते थे। यह व्यवस्था विलसन के 'स्वशासन' के सिद्धान्तो का पूर्ण उपहास थी।

अल्पसंख्यकों की समस्या—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् यह अनुभव किया गया था कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्तो की अवहेलना ही प्रथम विश्व युद्ध का कारण है।

इसीलिए जहाँ एक ओर राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण किया गया वहाँ दूसरी ओर यह भी व्यवस्था की गयी कि जो अल्पसंख्यक विभिन्न राज्यों में थे उनके हितों और अधिकारों की सुरक्षा की जाये। इसलिए राष्ट्रसंघ और राज्यों के बीच एक समझौता हुआ कि अल्पसंख्यकों के धार्मिक, नागरिक, व्यापारिक, भाषायी तथा सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाये। कोई भी अल्पसंख्यक जाति किसी राज्य की नीतियों के विरुद्ध राष्ट्रसंघ को आवेदन कर सकती थी और राष्ट्रसंघ उस राज्य में पूछताछ कर सकता था। यद्यपि इस प्रकार की व्यवस्था का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन असन्तोष कुछ कम अवश्य हो गया। ऐसी स्थिति में जहाँ कोई राज्य राष्ट्रसंघ की बात को विशेष महत्त्व न देता हो, राष्ट्रसंघ कुछ भी कर पाने में असमर्थ था।

राष्ट्रसंघ के राजनीतिक कार्य

राष्ट्रसंघ के संगठन का मुख्य उद्देश्य शान्ति बनाये रखना तथा विभिन्न देशों के झगड़ों को तय करना था। इसके लिए उसे कई विशेषाधिकार दिये गये थे और इन अधिकारों के अन्तर्गत पहले तो राष्ट्रसंघ इन विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने का प्रयत्न करता था, यदि इस लक्ष्य में सफलता न मिले तो वह आर्थिक प्रतिबन्ध आक्रमणकारी देश पर लगा सकता था और यदि आवश्यकता पड़े तो सम्मिलित रूप से सैनिक कार्यवाही भी कर सकता था।

राष्ट्रसंघ के गठन के समय यह आशा की जाती थी कि विश्व में शान्ति बनी रह सकेगी क्योंकि सभी महान राष्ट्र इस संघ की काउन्सिल के सदस्य थे और जब काउन्सिल एकमत होकर कार्य करेगी तो यह सम्भव नहीं था कि कोई देश उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन कर सके। लेकिन इस स्थिति की ओर उस समय शायद ध्यान नहीं गया था कि जब महान शक्तियों में आपस में मतभेद अथवा उनके हितों का प्रश्न हो, तो एकमत होना असम्भव होगा और काउन्सिल कार्य करने में असमर्थ रहेगी। यह बात राष्ट्रसंघ के कार्यकाल में ही भली-भाँति स्पष्ट हो गयी थी।

विवादों को सफलतापूर्वक हल करना

उक्त परिस्थिति में यह बात बड़ी सरलता से कही जा सकती थी कि जब कोई विवाद दो छोटे राज्यों में होगा तब राष्ट्रसंघ उसे सफलतापूर्वक हल कर सकेगा। कुछ विवाद जो राष्ट्रसंघ द्वारा सफलतापूर्वक हल किये गये, वह निम्नलिखित थे :

1. आलैण्ड द्वीप विवाद—यह द्वीप समूह, स्वीडन और फिनलैण्ड के मध्य स्थित है। नेपोलियन बोनापार्ट के समय यह द्वीप फिनलैण्ड के साथ-साथ रूस के अधिकार में चले गये। रूस की साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् फिनलैण्ड स्वतन्त्र हो गया और उसने इन द्वीपों पर अपना नियन्त्रण दृढ़ करना चाहा। वहाँ की जनता स्वीडिश थी और ये द्वीप पहले स्वीडन के अधिकार में थे। 1920 ई. में ये द्वीप स्वीडन के साथ मिलना चाहते थे। इंगलैण्ड ने जब यह देखा कि इस प्रश्न को लेकर इन दोनों देशों में संघर्ष आरम्भ हो सकता है तो उसने राष्ट्रसंघ की काउन्सिल के समक्ष यह समस्या रख दी। काउन्सिल ने तथ्यों का पता लगाने के लिए एक समिति नियुक्त की

और उनकी रिपोर्ट मिलने पर उन द्वीपों को फिनलैण्ड के अधिकार में ही रहने दिया लेकिन साथ ही इन द्वीपों को स्वायत्त शासन भी प्रदान किया तथा उनके स्कूलों में स्वीडिश भाषा का प्रयोग होने दिया और इन द्वीपों का तटस्थीकरण तथा असैनिकीकरण कर दिया गया। अप्रैल 1922 ई. में यह पहली सफलता राष्ट्रसंघ को प्राप्त हुई।

2 ऊपरी साइलेशिया विवाद—1921 ई. में जर्मनी तथा पोलैण्ड के मध्य एक विवाद ऊपरी साइलेशिया पर नियन्त्रण रखने से सम्बन्धित प्रश्न को लेकर हुआ। वार्साय सन्धि में उस क्षेत्र का निर्णय जनमत संग्रह के आधार पर होना निश्चित हुआ था। इसलिए 1921 ई में राष्ट्रों ने जनमत संग्रह के आधार पर साइलेशिया का प्रदेश जर्मनी को दे दिया। पोलैण्ड की फ्रांस से मित्रता थी। उसने ऊपरी साइलेशिया के कुछ क्षेत्र पर अपना अधिकार करना चाहा क्योंकि वहाँ की अधिकांश जनता पोल थी। पोलैण्ड ने ऊपरी साइलेशिया के कुछ भाग पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया। बहुत प्रयत्नों के पश्चात् यह तय हुआ कि साइलेशिया का विभाजन कर *दिया जाय और विभाजन के अनुसार एक भाग जिसमें जर्मन जन*-संख्या अधिक थी जर्मनी को, और दूसरा भाग जिसमें खनिज पदार्थ अधिक थे पोलैण्ड को प्राप्त हुआ। दोनों ने ही इस निर्णय को स्वीकार कर लिया।

3. कोर्फू विवाद, 1923 ई—*कोर्फू का झगड़ा एक छोटे और एक बड़े* राष्ट्र के मध्य था। इटली के कुछ नागरिकों की यूनान में हत्या कर दी गयी थी। इटली ने इस घटना के लिए यूनान को चेतावनी दी तथा बहुत बड़ी धनराशि हरजाने के रूप में माँगी। यूनान के न मानने पर इटली ने कार्फू द्वीप पर बमबारी आरम्भ कर दी। समस्या राष्ट्रसंघ के समक्ष रखी गयी। इटली ने राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का विरोध किया और बड़े राष्ट्रों के राजदूतों के समक्ष इस समस्या को रखा और राजदूतों ने इटली की बमबारी को अनुचित ठहराया लेकिन अन्तिम निर्णय में इटली के पक्ष का ही समर्थन किया जिसमें यूनान को क्षति-पूर्ति की धनराशि देनी पड़ी।

4. विलना विवाद—विलना लिथुएनिया के अधिकार में था। 1920 ई. में रूस ने इस पर अधिकार कर लिया था लेकिन शीघ्र ही इस प्रदेश को लिथुएनिया को लौटा दिया। पोलैण्ड इस क्षेत्र को प्राप्त करना चाहता था और अपनी सैनिक टुकड़ी भेजकर जबरदस्ती अधिकार कर लिया। लिथुएनिया ने राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्रसंघ ने दोनों सरकारों को आपस में झगड़ा तय करने के लिए कहा। दो वर्षों तक विवाद चलता रहा और 1923 ई यह स्थान पोलैण्ड को प्राप्त हो गया।

5. मेमेल सम्बन्धित विवाद—वार्साय सन्धि से मेमेल पोलैण्ड को प्राप्त हुआ था। मित्र राष्ट्र इस प्रदेश को डेंजिग के साथ मिला देना चाहते थे। उधर लिथुएनिया इस प्रदेश पर अपना अधिकार चाहता था। 1923 ई में लिथुएनिया ने इस प्रदेश पर अपनी फौजें भेजकर अस्थायी सरकार की स्थापना कर ली। बहुत समय तक वाद-विवाद बना रहा लेकिन बाद में यह प्रदेश लिथुएनिया को दे दिया गया।

इस प्रकार कुछ और भी विवाद राष्ट्रसंघ द्वारा तय किये गये। 1924 ई.

से 1930 ई. के काल में राष्ट्रसंघ उन्नति एवं प्रतिष्ठा के चरम शिखर पर था। इस मध्य जर्मनी का सहयोग भी राष्ट्रसंघ के साथ था और समस्त यूरोप में एक उचित वातावरण उपस्थित था।

राष्ट्रसंघ के मानवीय तथा आर्थिक कार्य

युद्धबन्दियों तथा विस्थापितों की समस्या—राजनीतिक क्षेत्र से भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य आर्थिक तथा अन्य क्षेत्रों में किये गये। युद्ध के पश्चात् प्रथम समस्या लाखो विस्थापितों को पुनः बसाना राष्ट्रसघ के समक्ष एक विकट समस्या के रूप में थी। लाखों युद्धबन्दी युद्ध के बाद मुक्त किये गये थे उनको उनके देशों को वापस लौटाना एक कठिन समस्या थी। राष्ट्रसघ ने विस्थापितों के लिए एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की। इस प्रकार लाखों बिना घरबार के व्यक्तियों को ठीक प्रकार से बसाया गया। राष्ट्रसंघ की देखरेख मे लाखो युद्धबन्दियों को बिना तनावपूर्ण स्थिति पैदा किये वापस उनके देशो को लौटा दिया गया।

स्वास्थ्य सम्बन्धी—युद्ध समाप्ति के पश्चात् रूस मे टायफस का रोग फैला हुआ था। यह एक प्रकार से छूत से फैलने वाली बीमारी थी और उस समय यह खतरा उत्पन्न हो गया था कि यह समस्त यूरोप में फैल सकती है। राष्ट्रसघ ने इस रोग को यूरोप में फैलने से रोका और डाक्टरों को संगठित करके इसकी रोकथाम का प्रयत्न किया। 1923 ई. मे राष्ट्रसंघ ने एक स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की। इस संगठन ने हैजा, मलेरिया, चेचक, तपेदिक आदि बीमारियों की रोकथाम का प्रयास किया। इन बीमारियो से बचने के उपाय भी निकाले और कुछ राज्यो को इन बीमारियो के रोकने में मदद दी।

आर्थिक कार्य—यूरोप के विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति युद्ध के पश्चात् काफी खराब हो गयी थी। राष्ट्रसंघ ने इन देशों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में काफी सहायता की। 1920 ई. मे ब्रुसेल्स में एक अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन बुलाया गया। इसी प्रकार 1927 ई. में एक विश्व आर्थिक सम्मेलन बुलाया गया। 1933 ई. में अन्तरराष्ट्रीय सकट को हल करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन लन्दन में बुलाया गया। इन अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों से यद्यपि आशा के अनुकूल सफलता प्राप्त नही हुई, लेकिन फिर भी आर्थिक क्षेत्र मे सहयोग की भावना बढ़ी।

राष्ट्रसंघ ने सम्मेलनो के अतिरिक्त कुछ राज्यों की युद्धोपरान्त दयनीय आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। विशेष उल्लेखनीय सहायता आस्ट्रिया के आर्थिक विकास के लिए दी गयी। राष्ट्रसंघ के प्रयास के फलस्वरूप अन्य बड़े राष्ट्रों से उधार की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रसंघ ने इसी प्रकार हंगरी की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए प्रयत्न किये। इन देशो पर राष्ट्रसंघ ने आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया तथा इनकी आर्थिक स्थिति को सुधार कर राष्ट्रसंघ ने अपना नियन्त्रण समाप्त किया। इसी प्रकार राष्ट्रसघ ने यूनान, बुल्गारिया आदि देशो को भी आर्थिक सहायता दी।

सामाजिक कार्य—सामाजिक प्रगति तथा कुरीतियों को रोकने में भी राष्ट्रसंघ ने सराहनीय कार्य किया। नशीली वस्तुओं के सेवन पर प्रतिबन्ध लगाये। एक आयोग की भी स्थापना की गयी। स्त्रियों तथा बालकों के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाये गये। अन्तरराष्ट्रीय विधि को नियमबद्ध करने के लिए प्रयत्न किये गये। विभिन्न देशों के मनुष्यों तथा विचारकों में परस्पर सम्पर्क स्थापित कराने का प्रयत्न किया। अन्तरराष्ट्रीय परिवहन की समस्याओं को हल करने का प्रयास किया गया। इन सामाजिक तथा आर्थिक कार्यों से राष्ट्रसंघ के देशों तथा अन्य देशों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये गये।

राष्ट्रसंघ की असफलताएँ

उपरोक्त सफलताएँ होते हुए भी राष्ट्रसंघ विश्व में शान्ति स्थापना में असफल रहा। कुछ ऐसे विभिन्न राजनीतिक विवाद उठे जिन्हें हल करने में राष्ट्रसंघ असमर्थ रहा। इन सब विवादों की एक ही विशेषता थी—ये बड़े राष्ट्रों के झगड़े थे और ये बड़े राष्ट्र किसी भी बाह्य संस्था की बात मानने के लिए तैयार नहीं थे। ये विवाद अधिकांशतः 1929-30 ई. के आर्थिक संकट का परिणाम थे। इस भयंकर संकट से बचने के लिए प्रत्येक देश ने अपनी पृथक-पृथक नीतियाँ अपनायीं। आर्थिक प्रतिबन्ध संरक्षण, आयात कर तथा आपसी प्रतिद्वन्द्विता का पुनः विकास हुआ और इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय संकट बढ़ने लगे। कुछ प्रमुख संकट निम्नलिखित थे :

जापान का मंचूरिया पर आक्रमण—सुदूर पूर्व में जापान अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र था। उसकी महत्त्वाकांक्षा भी अधिक थी। वहाँ के पूँजीपतियों ने मंचूरिया में अधिक धन लगाया हुआ था और जापान की सरकार इस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहती थी। सितम्बर 1931 ई. में जापान ने चीन पर उसकी रेल लाइनों को उड़ाने का आक्षेप लगाकर मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और शीघ्र ही वहाँ पर अपना अधिकार कर लिया तथा मुचुकाओ नाम की सरकार स्थापित की। चीन ने राष्ट्रसंघ के समक्ष जापान के विरुद्ध शिकायत प्रस्तुत की। जापान ने राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप को रोकने का प्रयत्न किया लेकिन इसमें वह असफल रहा। राष्ट्रसंघ ने लिटन की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया जिसका उद्देश्य था कि मंचूरिया जाकर तथ्यों का अध्ययन करे और रिपोर्ट प्रस्तुत करे।

राष्ट्रसंघ द्वारा जापान के विरुद्ध कोई भी कार्य बिना बड़े राष्ट्रों के सहयोग के सम्भव नहीं था। रूस और अमरीका जापान की नीतियों के विरुद्ध थे लेकिन वे राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे। इंगलैंड पूर्ण रूप से जापान विरोधी नहीं था। यह समय ऐसा था जबकि और भी विभिन्न अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ राष्ट्रों का ध्यान केन्द्रित कर रही थीं। यूरोप में निरस्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा में आरम्भ हो रहा था और लूसान में जर्मनी से क्षति-पूर्ति के प्रश्न को लेकर गम्भीर विचार-विमर्श हो रहा था।

अक्टूबर 1932 ई. में लिटन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित की गयी। दिसम्बर 1932 ई. में इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ की असेम्बली

समय रेखा

1918
1920
1922
1924
1926
1928
1930
1932
1934
1936
1938
1940
राष्ट्र संघ का कार्य आरम्भ
अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना अलैण्ड द्वीप विवाद
ऊपरी साइलेशिया विवाद
कोर्फू विवाद, विलना विवाद
मेमेल विवाद
विश्व व्यापी आर्थिक संकट
जापान का मंचूरिया पर आक्रमण
लिटन कमीशन रिपोर्ट
जापान द्वारा राष्ट्र संघ की सदस्यता से त्यागपत्र
इटली का एबीसीनिया पर आक्रमण, सार का क्षेत्र जर्मनी को प्राप्त
जर्मनी की सेनाओं का राइन प्रदेश में प्रवेश
जर्मनी का आस्ट्रिया पर अधिकार: म्यूनिख समझौता
जर्मनी का पोलैण्ड एवं चेकोस्लोवेकिया पर आक्रमण: द्वितीय विश्व युद्ध: राष्ट्र संघ का अन्त
स्केल 1 सेंटिमीटर = 2 वर्ष

समाप्त कर दिया गया। राष्ट्रसंघ नाम मात्र के लिए जीवित था। व्यावहारिक रूप में यह कब का मर चुका था और राष्ट्रसंघ की अन्त्येष्टि-क्रिया भी अप्रैल 1946 ई. में कर दी गयी।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

राष्ट्रसंघ बीस वर्षों की दुरावस्था में समाप्त हो गया। वास्तव में 1933-35 ई. की घटनाओं से ही इसकी असफलता स्पष्ट दिखायी देती थी। राष्ट्रसंघ की असफलता के कई मुख्य कारण थे

1 प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ विजेता राष्ट्रों के हितों का समर्थक बना रहा। यह एक निष्पक्ष न्यायालय अथवा सभा के रूप में विकसित नहीं हो सका। पराजित राष्ट्रों को इससे न्याय की आशा कम रही। यह भी एक तथ्य है कि विल्सन के विचारों में तथा उस संधि के अन्य संचालकों में अन्तर था। विल्सन राष्ट्रसंघ को एक निष्पक्ष सभा के रूप में देखना चाहता था।

2 संयुक्त राज्य अमरीका ने आरम्भ से ही इस संघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद रखा। यह राष्ट्रसंघ के लिए अत्यन्त आघातजनक घटना थी। राष्ट्रसंघ किसी भी आक्रमणकारी के विरुद्ध कोई सफल प्रतिबन्ध लागू नहीं कर सकता था, जब तक विश्व का एक शक्तिशाली राष्ट्र उस संघ से बाहर था तथा उसकी नीतियों से बँधा हुआ नहीं था। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा पर उससे भारी प्रभाव पड़ा। अन्तरराष्ट्रीय जगत में राष्ट्रसंघ की उपयोगिता पर सन्देह किया जाने लगा।

3. राष्ट्रसंघ के लिए सबसे घातक कारण उग्र राष्ट्रीयता का प्रभाव था। विश्व के शक्तिशाली देश राष्ट्रीय हितों को ही प्रधान समझते थे। फ्रांस के लिए सबसे बड़ी समस्या उसकी अपनी सुरक्षा ही मुख्य थी। इंगलैण्ड अपने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को ही मुख्य समझता था। जापान, जिसका विकास तथा प्रभाव अभी बढ़ना शुरू ही हुआ था, अपनी स्थिति को दृढ़ करना चाहता था। इटली अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को शीघ्र स्थापित करना चाहता था। इन सब राष्ट्रीय हितों को प्रधानता मिलने का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रसंघ के कोई भी उद्देश्य पूरे नहीं हुए।

4. 1919 ई. के पश्चात् यूरोप के विभिन्न देशों में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था स्थापित की गयी थी। यह व्यवस्था विकसित नहीं थी बल्कि विलसन के आदर्शवाद का परिणाम थी। यूरोप के विभिन्न देशों में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था नही चल सकी और विभिन्न तानाशाहों का विकास हुआ। इनमें से प्रत्येक अपने राष्ट्रीय हितों को बढ़ाकर अपने निरकुश अधिकारों को सुरक्षित रखना चाहता था।

राष्ट्रसंघ की असफलता मनुष्य की असफलता तथा इस बात की द्योतक थी कि वह अभी तक अपने आपको उस स्थिति से आगे नही बढ़ा पाया जिसमें अधिकारों का निर्णय बल के आधार पर किया जाये।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. शान्ति के लिए अन्तरराष्ट्रीय संगठन की व्यवस्था पर बल देने वाला राजनीतिज्ञ था—
   (क) चर्चिल (ख) वुडरो विलसन
   (ग) लायड जार्ज (घ) क्लीमेन्श्यू ( )
2. राष्ट्रसंघ में नये देशों को सदस्यता प्रदान करने का तरीका था कि—
   (क) साधारण सभा बहुमत से उसका समर्थन करे
   (ख) साधारण सभा के 2/3 बहुमत की स्वीकृति होनी चाहिए
   (ग) महान राष्ट्रों की स्वीकृति ही पर्याप्त होती थी
   (घ) काउन्सिल के 2/3 बहुमत की स्वीकृत होनी चाहिए ( )
3. राष्ट्रसंघ की सदस्यता से किसी राष्ट्र को वंचित करने का अधिकार था—
   (क) एसेम्बली को (ख) अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय को
   (ग) काउन्सिल को (घ) सेक्रेट्रिएट को ( )
4. काउन्सिल में दो प्रकार के सदस्य थे, वे थे—
   (क) बड़े और छोटे राष्ट्र
   (ख) स्थायी और अस्थायी राष्ट्र
   (ग) धनी और निर्धन राष्ट्र
   (घ) विकसित और अविकसित राष्ट्र ( )
5. काउन्सिल में निर्णयों का आधार था—
   (क) कुल सदस्य संख्या का बहुमत (ख) सर्वसम्मति
   (ग) 2/3 मत (घ) उपस्थित संख्या का बहुमत ( )
6. राष्ट्रसंघ का कार्यालय था—
   (क) स्विट्जरलैण्ड के जिनेवा नगर में (ख) फ्रांस के पेरिस नगर में
   (ग) अमरीका के न्यूयार्क शहर के पास (घ) रूस के मास्को शहर में ( )
7. अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति होती थी—
   (क) एसेम्बली द्वारा (ख) काउन्सिल द्वारा
   (ग) सचिवालय द्वारा (घ) लोक सेवा आयोग द्वारा ( )
8. श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए राष्ट्रसंघ ने जिस संस्था की स्थापना की वह थी—
   (क) अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय (ख) अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन
   (ग) अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संघ (घ) अन्तरराष्ट्रीय विवाद कमीशन ( )

शक्ति पैदा हुई जो सम्पत्ति के स्वामित्व के परिवर्तन के सम्बन्ध में किसी आन्दोलन के पक्ष में हो। श्रमिक तथा मजदूर संगठित नहीं थे और 1921 ई. में अधिकांश सम्पत्ति को उन्होंने वापस कर दिया।

फासिस्ट दल का अधिकार करना—1921 ई. के निर्वाचन में समाजवादी दल की शक्ति कम हो गयी और एक नये दल (फासिस्ट दल) ने संसद में पदार्पण किया। इस दल का नेता मुसोलिनी था। उसका अपना एक सैनिक दल भी था जिसे 'काली कुर्तियाँ' कहा जाता था, जिसकी सहायता से मुसोलिनी ने समाजवादियों को भयभीत कर दिया, विभिन्न श्रम-केन्द्रों पर अधिकार कर लिया और विभिन्न स्थानों पर प्रशासन का उत्तरदायित्व सम्भाल लिया। मुसोलिनी यह भलीभाँति समझता था कि समाज का सम्पन्न वर्ग उसका विरोध नहीं करेगा।

रोम पर चढ़ाई—मुसोलिनी ने 28 अक्टूबर, 1922 ई. को अपनी 50,000 काली कुर्तियों को रोम पर चढ़ाई करने का आदेश दिया। वह स्वयं रेल द्वारा रोम पहुँचा। इटली के राजा इमैन्युएल ने फासिस्टों के विरुद्ध मार्शल लॉ लागू करने से मना कर दिया क्योंकि उसे भय था कि ऐसा करने से गृह-युद्ध आरम्भ हो जायगा। सैनिक विरोध न होने के कारण 50,000 फासिस्ट स्वयंसेवक रोम में पहुँच गये। राजा इमैन्युएल ने मुसोलिनी को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया क्योंकि वह समझता था कि मुसोलिनी राजतन्त्र का समर्थक था। इस प्रकार बाहर से देखने में यह एक मन्त्रि-मण्डल का परिवर्तन था लेकिन वास्तव में यह एक मौलिक परिवर्तन अथवा क्रान्ति थी।

फासिस्ट दल के विकास के कारण

फासिस्ट क्रान्ति के कई मौलिक कारण थे :

(1) फासिस्ट आन्दोलन मुख्य रूप से इटली की असन्तुष्ट तथा निराश राष्ट्रीयता की उपज था। 1870 ई. के पश्चात् इटली की विदेश नीति सदा इसी लक्ष्य से प्रभावित थी कि वह अपनी राष्ट्रीय एकता को पूरा कर सके। इसीलिए प्रथम विश्व युद्ध में उसने इंगलैण्ड व फ्रांस का समर्थन किया था क्योंकि उसकी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाएँ आस्ट्रिया विरोधी थीं। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व भी नवयुवकों के मन में राष्ट्रीय असफलताओं के प्रति रोष था। वे उस राजनीतिक व्यवस्था से ऊब चुके थे जिसमें आये दिन मन्त्रिमण्डलों में परिवर्तन होते रहते थे तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार फैला हुआ था।

(2) **युद्ध का प्रभाव**—प्रथम विश्वयुद्ध का इटली पर बहुत अपमानजनक तथा दूषित प्रभाव पड़ा। इटली के सीमित साधनों के लिए युद्ध की क्षति असहनीय सिद्ध हुई। जब पेरिस सम्मेलन में युद्ध की लूट के बँटवारे का प्रश्न तय हुआ तो इटली को बहुत कम भाग प्राप्त हुआ। उन्हें औपनिवेशिक क्षेत्र भी नहीं उपलब्ध हुए बल्कि उन्हें यूरोप में भी बहुत कम क्षेत्रफल मिला। इस सब निराशा का कारण देशवासियों ने अपने नीति-निर्माताओं को ठहराया और राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहा।

(3) आर्थिक अराजकता—इटली की आर्थिक दशा अत्यन्त खराब हो
थी, मुद्रास्फीति बढ़ गयी थी। बेरोजगारी और हड़तालों का परिणाम यह हुआ
पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों को भारी आशंका पैदा हुई और वे समाजवादी
साम्यवादी तत्त्वों के विरुद्ध किसी भी ऐसे दल का समर्थन करने को तैयार हुए
व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन दे सके।

(4) संसदीय प्रजातन्त्र की असफलता—फासिस्ट दल के उत्थान का तत
लीन कारण संसदीय प्रशासन की असफलता था। देश में व्याप्त अराजकता को सम
करने में यह प्रशासन सर्वथा असमर्थ था। इसका प्रभाव यह हुआ कि प्रतिवर्ष करों
होने वाली आय कम हो गयी, घाटे की मात्रा बढ़ती गयी। संसद में कई दल थे अ
एक दल को बहुमत प्राप्त नहीं था। समाचार-पत्र इस बात का सबसे अधिक प्रच
कर रहे थे कि यह संसदीय प्रणाली इटली के राष्ट्रीय हितों के अनुकूल नहीं है, इस
आवश्यक परिवर्तन होने चाहिए।

(5) मुसोलिनी का नेतृत्व—1921-22 ई. की स्थिति में इटली में एक
व्यक्ति के नेतृत्व की आवश्यकता थी जो महत्त्वाकांक्षी हो तथा हर प्रकार से सत्ता
अधिकार करने के योग्य हो। मुसोलिनी ने इटलीवासियों को उनके प्राचीन गौरव
याद दिलायी तथा राष्ट्रीय महानता का नारा दिया। वह अत्यन्त प्रभावशाली व
था और अपने भाषणों से जनता को अत्यधिक प्रभावित कर सकता था।

मुसोलिनी का व्यक्तित्व—मुसोलिनी का जन्म 1883 ई. में एक समाजवा
विचारों वाले लुहार के घर में हुआ था। प्रारम्भिक काल में ही वह समाजवादी विचा
के प्रभाव में आ गया। वह फैक्ट्रियों आदि में हड़ताल कराने में सहायक था, इसलिए उसे इटली से बाहर जाना पड़ा। थोड़े समय पश्चात् वह लौट आया और एक समाजवादी विचार वाले पत्र 'अवन्ति' का सम्पादक बन गया। वह उग्र राष्ट्रवादी विचारों का समर्थक था। उसके विभिन्न विचार तथा कार्य परस्पर विरोधी थे। इससे यह स्पष्ट होता था कि वह एक विद्रोही था। वह पहले साम्राज्यवादी विचारों का विरोधी था, लेकिन बाद में वह उनका पोषक था। 1914 ई. में उसने एक नये समाचार-पत्र की स्थापना की जिसमें वह एक युद्ध का समर्थक था। 1915 ई. में वह इस
युद्ध में लड़ने के लिए मोर्चे पर गया। 1917 ई. में वह घायल होने के कारण स्वदे
भेज दिया गया और उसने पश्चात् उसने फासिस्ट आन्दोलन का गठन किया।

मुसोलिनी

फासिस्टवाद का अर्थ

'फासिज्म' (Fascism) शब्द की उत्पत्ति के दो स्रोत हैं—(1) लेटिन शब्द 'फेसिस' से—जिसका अर्थ था *डण्डों का एक बण्डल जिसके मध्य में एक कुल्हाड़ा होता था।* यह प्राचीन रोमन समय में सत्ता का प्रतीक माना जाता था। (2) इटेलियन भाषा के शब्द 'फेशियो' से—*जिसका अर्थ क्लब अथवा समुदाय होता था।* इन दोनों अर्थों को फासिस्ट दल के नेताओं ने अपनाया। फासिस्ट दल के सदस्य अपने नेता को ड्यूस (नेता) कहकर सम्बोधित करते थे और *प्राचीन रोमन समय की भाँति हाथ फैलाकर सलाम करते थे।*

फासिस्टवाद का उद्देश्य तथा सिद्धान्त

फासिस्टवाद प्रजातन्त्र तथा व्यक्तिवादी विचारधारा का विरोधी था। वह वर्ग संघर्ष तथा शोषण का अन्त करना चाहता था। यह तब ही सम्भव था जब एक दलीय व्यवस्था हो। संख्या की अपेक्षा गुण को अधिक महत्व दिया जाता था।

मुसोलिनी के अनुसार राज्य व्यक्ति के लिए नहीं था अपितु व्यक्ति राज्य के लिए था। कोई भी वस्तु अथवा सत्ता राज्य के विरुद्ध नहीं हो सकती थी इसलिए राजा के अधिकार असीमित थे। इटली में राजतन्त्र प्रचलित तो था, लेकिन राजा के अधिकार अत्यन्त सीमित कर दिये गये थे। अब वह केवल नाममात्र का ही राजा रह गया था।

फासिस्टवादी वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सहयोग पर बल देते थे। उनके अनुसार राष्ट्रीय हित के लिए पूंजीपति, जमींदार, मजदूर आदि सब पर राज्य का समान रूप से नियन्त्रण होना चाहिए तब ही राज्य अच्छी तरह प्रगति कर सकता है।

फासिस्टवादी शान्ति विरोधी थे। वे युद्ध को आगे बढ़ने तथा प्रगति करने के लिए आवश्यक समझते थे। उनके विचार से लड़ाई के अभाव में कोई देश प्रगति नहीं कर सकता और शान्ति में उसकी स्थिति एक तालाब के बन्द पानी की-सी हो जाती है। *वे शान्तिपूर्ण सहजीवन में विश्वास नहीं करते थे और राष्ट्रीयता को ही सबसे* महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते थे। अन्तरराष्ट्रीयता मानव की प्रगति में बाधाजनक थी।

फासिस्ट दल का गठन

मुसोलिनी सत्तारूढ होने के पश्चात् अपने अधिकारों को केवल फासिस्ट दल के आधार पर ही बनाये रख सकता था इसलिए मुसोलिनी ने दल को शक्तिशाली बनाया तथा इस पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखा। दल में नये सदस्यों की भर्ती बहुत छानबीन के पश्चात् होती थी। 1933 ई. में सदस्यता के लिए 6 लाख आवेदन-पत्रों में से 2 लाख मात्र ही स्वीकार किये गये। इसके अतिरिक्त नयी पीढ़ी को अब बाल्यकाल से ही फासिस्ट दल के प्रशिक्षण में ले लिया गया। 8 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों को 'बालिला', 14 से 18 वर्ष की आयु तक के वयस्कों को *'अवानगार्डिती'* का सदस्य बना लिया जाता था और इसके बाद पार्टी का सदस्य बनाया जाता था। 1828 ई. के पश्चात् फासिस्ट दल की *कार्यकारिणी को सरकारी संस्था* बना दिया

सत्ता और प्रशासनिक तथा अन्य कार्य उसको सौंप दिये गये। इस प्रकार दल के नेताओं को राज्य के संचालन में दल के सदस्य होने के नाते अधिकार प्रदान कर दिये गये। इस दल के प्रभाव को दृढ़ करने में यदि कोई व्यक्ति बाधाजनक होता तो उसकी राजनीतिक हत्या अथवा अन्य प्रकार से दण्डित कर दिया जाता था। इस प्रकार भय और आतंक के आधार पर पूरा नियन्त्रण स्थापित किया गया।

मुसोलिनी की आन्तरिक नीति

राजनीतिक परिवर्तन—मुसोलिनी ने देश की आन्तरिक व्यवस्था को फासिस्ट दल के अधीन किया। संसद के सदस्यों के निर्वाचन के लिए उन्हें समाज के विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा मनोनीत किया जाता था और 1938 ई. में संसद को समाप्त करके इसके स्थान पर विभिन्न व्यवसायों के सदस्यों को नियुक्त किया गया। फासिस्ट दल का अधिकार बनाये रखने के लिए विचारों की स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण लगाया गया। शिक्षा-संस्थाओं में पाठ्य-पुस्तकों में आवश्यक परिवर्तन किये गये। स्कूलों को शिक्षा-केन्द्रों के स्थान पर प्रचार-केन्द्र बनाया गया। फासिस्ट प्रचार के लिए सिनेमा फिल्मों का प्रयोग किया गया।

पोप के साथ समझौता—1871 ई. के बाद से पोप अपने आपको इटली के साथ युद्ध की स्थिति में समझता था। उस समय में किसी पोप ने इटली की भूमि पर पाँव नहीं रखा और वह अपने को 'वैटिकन का कैदी' कहता था। मुसोलिनी ने पोप के साथ समझौता अपने हित में समझकर उसके साथ फरवरी 1929 ई. में एक समझौता कर लिया। इसके अनुसार वैटिकन नगर (पोप के निवास स्थान) को एक स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया। कैथोलिक धर्म को राज्य-धर्म मान लिया गया। पोप को 1879 ई. में उसके राज्य छीन लिये जाने के बदले में आर्थिक क्षतिपूर्ति की गयी। पोप चर्च के कर्मचारियों को राज्य की स्वीकृति से नियुक्त करता था। प्रारम्भिक शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी।

यह समझौता मुसोलिनी की एक बड़ी सफलता माना गया, यद्यपि वास्तविक मित्रता इन दोनों पक्षों के मध्य स्थापित नहीं हुई।

आर्थिक स्थिति में सुधार—इटली की आर्थिक स्थिति को सुधारना एक जटिल समस्या थी। इटली में खनिज पदार्थों की कमी थी। वह एक कृषि प्रधान देश था पर वहाँ की 1/3 से अधिक भूमि कृषि योग्य नहीं थी। खाद्य पदार्थों में भी इटली आत्मनिर्भर नहीं था। इस स्थिति में सुधार लाने के लिए निम्नलिखित कार्य किये गये:

1. दलदलों को सुखाकर लाखों एकड़ भूमि कृषि योग्य बनायी गयी। इससे उपज भी बढ़ी और मलेरिया की बीमारी भी कम हो गयी। कृषि में आधुनिक ढंग अपनाया गया। 1939 ई. तक इटली खाद्य पदार्थों में प्रायः आत्मनिर्भर हो गया था।

2. औद्योगिक क्षेत्र में मुसोलिनी देश में खनिज पदार्थ तो पैदा नहीं कर सकता था और कोयला तथा लोहा आयात किया जाता रहा। लेकिन विद्युत उत्पादन

में इटली ने विशेष प्रगति की। उसने हड़तालों की संख्या कम कर दी और इस प्रकार उत्पादन बढ़ा।

3. विदेशी पर्यटकों को इटली भ्रमण के लिए विशेष आकर्षण दिये गये। इससे विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सकी और इटली के निर्यात व्यापार की कमी को कुछ सीमा तक कम कर सकी।

विदेश नीति

नीति के उद्देश्य—मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने के पश्चात् इटली की विदेश नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। उसकी विदेश नीति का सबसे बड़ा लक्ष्य उग्र राष्ट्रीयता की माँगों को पूरा करना था। वह इटली को सम्मानपूर्ण स्थान दिलाना चाहता था तथा उसको वास्तव में महान बनाना चाहता था। वह दक्षिण-पूर्वी यूरोप में इटली का व्यापारिक तथा कूटनीतक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और इटली की आर्थिक कठिनाइयों को उग्र साम्राज्यवाद के आधार पर पूरा करना चाहता था। उसकी सफलता उग्र नीति पर निर्भर करती थी। मुसोलिनी ने कुछ ही वर्षों में इटली की प्रतिष्ठा को काफी बढाया। देश के अन्दर उसने साम्राज्यवादी भावनाओं को अत्यधिक विकसित किया, यहाँ तक कि पर्यवेक्षकों ने भी अनुभव किया कि प्राचीन समय से अब तक इतना अधिक विकास कभी नहीं हो पाया था।

1. **नीति**—1923 ई. मे जब टर्की के साथ अन्तरराष्ट्रीय सन्धि पर विचार हो रहा था तब मुसोलिनी की 'लुसान सन्धि' के अनुसार डोडीकेलीज द्वीपसमूहों पर अधिकार प्राप्त हो गया। मुसोलिनी ने तुरन्त वहाँ पर एक नौसेना का अड्डा बना लिया। इसी वर्ष उसने ग्रीस के कार्फू द्वीप पर बमबारी करके इटली की प्रतिष्ठा को बढाया। यह वह घटना थी जिसमे पहली बार इटली ने राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के अधिकार को अस्वीकार किया। यह उसके लिए बहुत बड़ी सफलता थी।

2. **फ्यूम तथा अल्बानिया पर अधिकार करना**--फ्यूम बन्दरगाह के विषय मे इटली तथा यूगोस्लाविया मे बहुत मतभेद था। 1920 ई मे इसे एक स्वतन्त्र बन्दरगाह के रूप मे रख दिया गया लेकिन यह व्यवस्था अधिक सफल सिद्ध नहीं हुई। 1924 ई. मे एक सन्धि द्वारा फ्यूम इटली को प्राप्त हुआ और फ्यूम के चारो ओर की भूमि यूगोस्लाविया को प्राप्त हो गयी। इसी प्रकार अल्बानिया से इटली कुछ विशेषाधिकार चाहता था। इटली स्वयं इस क्षेत्र पर अधिकार करना चाहता था। मुसोलिनी ने इटली की महत्वाकांक्षा को अधिक भडकाया। इसको पूरा करने के लिए इगलैण्ड ने 1924 ई. मे अफीका मे जुबलैण्ड का क्षेत्र इटली को हस्तान्तरित कर दिया। 1926 ई. मे अल्बानिया के साथ एक सन्धि हुई जिसके अनुसार इटली को अल्बानिया की सुरक्षा का आश्वासन देने के बदले में बहुत-सी आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हो गयी। अल्बानिया ने इटली को आश्वासन दिया कि वह इटली के विशेष हितो को ध्यान मे रखते हुए किसी अन्य देश के साथ ऐसी कोई सन्धि नही करेगा जो इटली के विरुद्ध हो।

3. लन्दन कान्फरेन्स (1930 ई.)—नौसैनिक निरस्त्रीकरण के प्रश्न को लेकर 1930 ई. में लन्दन में एक कान्फरेन्स हुई। इस सम्मेलन में इटली ने फ्रांस के साथ अपनी समानता की बात कही। इटली के उग्र राष्ट्रवाद के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सफलता थी क्योंकि फ्रांस के साथ समानता की माँग एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में प्रस्तुत की गयी थी।

4 पूर्वी यूरोप में प्रभुत्व—हिटलर के जर्मनी में उदय के पश्चात् मुसोलिनी की नीति में एक परिवर्तन आया। वह पूर्वी यूरोप में फ्रांस के प्रभुत्व को समाप्त करना चाहता था। इसलिए इटली ने फ्रांस के मित्रों के विरुद्ध हंगरी तथा बुल्गेरिया का समर्थन करने की नीति अपनायी। इस नीति का परिणाम इटली और जर्मनी में मैत्री सम्बन्धों का विकास हुआ। 1933 ई. में इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी तथा इटली में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता से ही विभिन्न समस्याओं को हल करने का आश्वासन दिया गया। इससे फ्रांस के मित्रों, विशेषकर पोलैण्ड तथा यूगोस्लाविया को बहुत असन्तोष हुआ।

5. एबीसीनिया पर आक्रमण—मुसोलिनी की सबसे बड़ी सफलता एबीसीनिया पर आक्रमण था। एबीसीनिया पूर्वी अफ्रीका में एकमात्र स्वतन्त्र राज्य बना हुआ था। इटली को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने तथा अपनी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए किसी अच्छी सफलता की आवश्यकता थी। औद्योगिक विकास के लिए कच्चे माल की आवश्यकता अधिक थी। साथ ही इटली की जनसंख्या बढ़ रही थी और खाद्य पदार्थों की उपज बहुत कम थी। इसलिए यह आवश्यक था कि कोई बड़ा उपनिवेश प्राप्त किया जाय। इन सब आवश्यकताओं को एबीसीनिया बड़ी सरलता से पूरी कर सकता था।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त मुसोलिनी के आक्रमण करने के लिए एक अन्य कारण यह था कि इटली को 1896 ई. में एबीसीनिया पर आक्रमण में असफलता मिली थी। इस पराजय का बदला लेकर इटली की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाना था। 1935-36 ई. में यूरोपीय परिस्थिति भी आक्रमण के अनुकूल थी क्योंकि मुसोलिनी जानता था कि फ्रांस को नाजी जर्मनी के विरुद्ध एक मित्र की आवश्यकता है, इसलिए इटली के आक्रमण का कोई विशेष अन्तरराष्ट्रीय विरोध नहीं होगा।

एबीसीनिया पर आक्रमण (1935-36 ई.)

एबीसीनिया की सीमा के साथ इटली के उपनिवेश सोमालीलैण्ड की सीमाएँ लगती थीं। 1934 ई. में एबीसीनिया के साथ कई स्थानों पर सीमा विवाद उठ खड़े हुए। इन घटनाओं में महत्त्वपूर्ण घटना दिसम्बर 1934 ई. में वलवल नामक स्थान पर हुई जिसमें इटली के कुछ नागरिक मारे गये। इटली ने क्षतिपूर्ति की माँग की।

लेकिन एबीसीनिया ने झगड़ा राष्ट्रसंघ को सौंप दिया और समस्या यूरोप की में उलझ गयी। इटली ने अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए सेना एकत्र

करना आरम्भ किया। इंगलैण्ड और फ्रांस इटली के कार्यों को अनदेखा करते रहे तथा इटली को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ क्षेत्रफल और भूमि एबीसीनिया के बदले मे इटली को देने का प्रस्ताव किया। इटली ने अक्टूबर में एबीसीनिया पर विधिवत् आक्रमण कर दिया। इगलैण्ड और फ्रास ने मुसोलिनी को कुछ देने का प्रयत्न किया। इटली के शासक विक्टर इमैन्युएल ने इस आक्रमण के मध्य ठीक ही कहा था कि यदि इटली जीत गया तो वह एबीसीनिया का सम्राट बन जायेगा और यदि हार गया तो वह इटली का (वास्तविक) शासक बन जायेगा क्योंकि उस स्थिति में मुसोलिनी की तानाशाही का अन्त हो जायेगा।

1 मई, 1936 ई को एबीसीनिया का राजा वहाँ से भाग गया और उसी दिन इटली के राजा को एबीसीनिया का सम्राट घोषित कर दिया गया।

इस आक्रमण का महत्त्व—एबीसीनिया पर अधिकार मुसोलिनी के लिए बड़ी भारी सफलता थी। इससे उग्र राष्ट्रीयता की भावना को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस आक्रमण ने अपनी प्रतिक्रियाओ की एक शृंखला आरम्भ कर दी। जो कुछ मुसोलिनी कर सकता था वह हिटलर भी कर सकता था। राष्ट्रसघ यदि एक अवसर पर ठीक पाठ पढ़ाने में असफल था तो दूसरे के साथ भी वह सफल नही हो सकेगा। राष्ट्रसघ को जो आघात इटली की सफलता से पहुँचा उससे वह छुटकारा नही पा सका और इससे सब देशों में असुरक्षा का एक वातावरण पैदा हुआ जिसका परिणाम एक व्यापक विश्वयुद्ध हुआ।

रोम-बर्लिन धुरी (1936 ई)—मुसोलिनी के विरुद्ध इगलैण्ड फ्रास ने राष्ट्र संघ के माध्यम से कुछ नियन्त्रण लागू किये थे इसलिए एबीसीनिया अभियान की सफलता के पश्चात् जर्मनी के तानाशाह हिटलर के साथ मित्रता हुई। अक्टूबर 1936 ई मे दोनों नेताओ ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार पारस्परिक हित के सभी विषयों पर दोनो राज्य मिलकर नीति-निर्माण करेंगे। जर्मनी ने इटली की विजय को मान्यता प्रदान की और इसके बदले मे जर्मनी को आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की गयी। दोनो राज्यो ने यूरोप मे साम्यवाद विरोधी नीति का निर्माण किया और स्पेन की राजनीतिक सुरक्षा मे मिलकर कार्य करने की बात भी कही। स्पेन मे प्रजातन्त्रवादियों का समर्थन साम्यवादी कर रहे थे और जनरल फ्रेंको के नियन्त्रण में तानाशाही शक्ति का विकास हो रहा था। यह गृह-युद्ध एक प्रकार से द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठिभूमि था। इस समझौते को रोम-बर्लिन धुरी कहते हैं।

इटली और जर्मनी में मैत्री हो जाने से इगलैण्ड ने इटली को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और अप्रैल 1938 ई. मे इटली के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। जिस प्रकार इगलैण्ड ने जर्मनी के प्रति सन्तुष्टीकरण की नीति अपना रखी थी उसी प्रकार इटली के प्रति भी एक उदार दृष्टिकोण अपनाया गया। लेकिन इससे कोई सफलता नहीं मिली।

समय रेखा
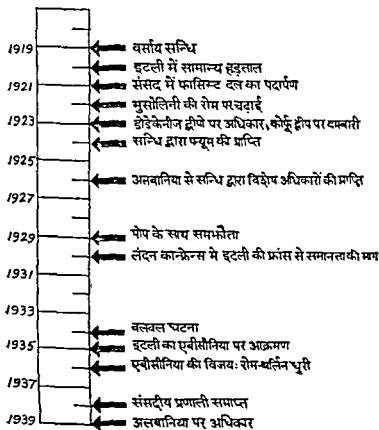
स्केल 1 सेन्टिमीटर = 2 वर्ष

अल्बानिया पर अधिकार (अप्रैल 1939 ई.)—जर्मनी ने फरवरी 1938 ई. में आस्ट्रिया पर तथा मार्च 1939 ई. मे चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लिया और बलपूर्वक इसे अपने अधिकार मे ले लिया। हिटलर से प्रेरणा तथा सहायता लेकर इटली ने अप्रैल 1939 ई. मे अल्बानिया पर आक्रमण कर दिया। अल्बानिया का राजा जोग प्रथम अपने परिवार सहित देश छोडकर भाग निकला। इटली के इस अभियान का एक उद्देश्य जर्मनी के दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में अधिक साम्राज्य विस्तार को रोकना था।

अल्बानिया अन्तिम राज्य था जिसे धुरी राष्ट्रो ने शान्तिपूर्वक अपने साम्राज्यों मे मिलाया था। तानाशाह अपनी सफलता से प्रसन्न थे तथा अपने स्वार्थों को और अधिक पूरा करना चाहते थे। तानाशाहो के उग्र राष्ट्रवाद का परिणाम ही द्वितीय विश्व युद्ध था।

फासिस्ट प्रशासन का मूल्यांकन

मुसोलिनी ने निस्सन्देह कुछ सफलताएँ प्राप्त की थी। इटली में शिक्षा का विस्तार हुआ था। पोप के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर हो गये थे। आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार भी अवश्य हुए थे। समस्त देश में खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ा था। औद्योगिक उत्पादन भी बढ गया था। रेशम, मोटरगाडियों तथा विद्युत उत्पादन में विशेष प्रगति हुई थी। दलदलो को सुखाकर सामान्य स्वास्थ्य की दशा मे प्रगति हुई थी और व्यापार तथा वाणिज्य को 1929-30 ई. की विश्वव्यापी मन्दी के दुष्परिणामों से मुक्ति दिला दी थी।

लेकिन फासिस्टो के बहीखाते मे घाटे की भी कुछ टीपें थी। श्रमिको की स्थिति मे कोई विशेष सुधार नही हुआ था। देश आत्मनिर्भर नही बन पाया था। बजट मे घाटा ही रहता था। वस्तुओं के मूल्यो मे भारी वृद्धि हुई थी। देश में शान्ति तो अवश्य थी लेकिन यह शान्ति बौद्धिक चिन्तन की स्वतन्त्रता खोकर प्राप्त की थी। मुसोलिनी ने उग्र राष्ट्रवाद की भावनाओं को सन्तुष्ट करने के लिए भले ही एबीसीनिया तथा स्पेन के गृह-युद्ध मे भाग लिया हो लेकिन इससे देश की आर्थिक दशा को भारी धक्का लगा।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नो के सही उत्तर का क्रमाक कोष्ठक में लिखिए :

1. *प्रथम विश्वयुद्ध मे इटली ने भाग लिया था—*
   (क) मित्र राष्ट्रो की ओर से
   (ख) केन्द्रीय राज्यों की ओर से
   (ग) धुरी राष्ट्रो की ओर से
   (घ) तटस्थ रहा ( )

2. प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इटली में निराशा का वातावरण था क्योंकि—
   (क) उसको युद्ध में काफी हानि हुई थी
   (ख) हानि की तुलना में उसे उपनिवेश प्राप्त नहीं हुए थे
   (ग) देश में राजनीतिक स्थिरता नहीं थी
   (घ) इटली में राष्ट्रीय अपमान की भावना व्याप्त थी। ( )
3. इमैन्युएल द्वारा मुसोलिनी को प्रधान मन्त्री नियुक्त करने का कारण था—
   (क) इमैन्युएल मुसोलिनी की काली कुर्तियों के रोम पर आक्रमण से घबरा गया
   (ख) मुसोलिनी को प्रजा का समर्थन प्राप्त था
   (ग) इमैन्युएल को साम्यवादी दल से भय था
   (घ) मुसोलिनी राजतन्त्र का समर्थक था ( )
4. समाज के सम्पन्न वर्ग ने मुसोलिनी की 'रोम पर चढ़ाई' का विरोध नहीं किया क्योंकि—
   (क) मुसोलिनी के पास पचास हजार से अधिक काली कुर्ती स्वयंसेवक थे
   (ख) मुसोलिनी ने साम्यवादियों और समाजवादियों को रक्षा का आश्वासन दिया था
   (ग) इमैन्युएल मुसोलिनी को चाहता था
   (घ) मुसोलिनी राजतन्त्र का समर्थक था ( )
5. फासिस्टवाद का मुख्य सिद्धान्त था कि—
   (क) राज्य का उत्पादन और विनिमय के साधनों पर नियन्त्रण हो
   (ख) राज्य युद्ध के लिए तैयार रहे तथा युद्ध करे
   (ग) राज्य में आन्तरिक शान्ति होनी चाहिए
   (घ) मजदूरों और मालिकों में संघर्ष नहीं होना चाहिए ( )
6. फासिस्टवाद में शासन पर नियन्त्रण का आधार था—
   (क) नियम और कानून (ख) भय और आतंक
   (ग) मुसोलिनी के आदेश (घ) दल के नियम ( )
7. इटली और जर्मनी के मध्य समान उद्देश्यों के आधार पर एक सन्धि हुई थी—यह थी—
   (क) रोम-बर्लिन धुरी
   (ख) इटली और जर्मनी की सन्धि
   (ग) रोम की सन्धि
   (घ) बर्लिन की सन्धि ( )
8. मुसोलिनी की विदेश नीति की महानतम उपलब्धि थी—
   (क) एबीसीनिया पर आक्रमण (ख) राइनलैण्ड पर अधिकार
   (ग) यूनान पर आक्रमण (घ) फ्रांस से युद्ध ( )

नात्सीवाद का विकास

1919 ई. के पश्चात् मध्य यूरोप के दो राज्यों में तानाशाहों का उत्थान हुआ। इटली और जर्मनी में अधिनायकवाद का विकास देर से हुआ क्योंकि सैन्यवाद और राष्ट्रीयता के नारे 1914-18 ई. की घटनाओं से कुछ अपमानित थे। इसलिए उनके उत्थान से पहले गणतन्त्रवादी आन्दोलन का असफल होना आवश्यक था। इटली युद्ध में विजेता होते हुए भी राष्ट्रवादियों की दृष्टि में शान्ति सम्मेलन में हार गया था इसलिए राष्ट्रवादी तत्त्व शीघ्रता से अधिनायकवाद के विकास में सहायक हो सके।

वीमर गणतन्त्र की स्थापना—वुड्रो विलसन के प्रयासों के फलस्वरूप जनवरी 1919 ई. में राष्ट्रीय सभा के लिए चुनाव हुए। इस सभा का अधिवेशन वीमर नगर में आरम्भ हुआ। इस सभा ने गणतन्त्रीय संविधान की स्थापना की। इस संविधान के द्वारा संसदात्मक प्रणाली स्थापित की गयी। संसद के दो सदन होते थे। लोकसभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर 4 वर्षों के लिए होता था। लोकसभा में विभिन्न राजनीतिक दलों को प्राप्त मतों के अनुपात में स्थान मिलते थे। संसद के दूसरे सदन (राज्य परिषद) में राज्यों के प्रतिनिधि होते थे। लेकिन 1918 ई. से पूर्व की तुलना में यह सदन कमजोर था। इसका मुख्य कार्य इंगलैण्ड के लार्ड भवन की भाँति लोकसभा की जल्दबाजी को रोकना था। कार्यपालिका का अध्यक्ष एक राष्ट्रपति होता था जिसका निर्वाचन जनमत द्वारा सात वर्ष के लिए होता था। उसको सलाह देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल होता था जो लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होता था। मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष को चान्सलर कहते थे।

गणतन्त्र की कठिनाइयाँ—गणतन्त्र की स्थापना सरल थी लेकिन इसको सुरक्षित रख पाना तथा अन्य कठिनाइयों को हल करना कठिन था। देश के अन्दर साम्यवादियों से तथा राजतन्त्र समर्थकों से भारी भय था। गणतन्त्र की प्रतिष्ठा पहले ही खराब हो गयी थी क्योंकि इसे अपमानजनक वार्साय सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े थे। जर्मनी का काफी भूभाग जर्मनी से अलग कर दिया गया था। क्षतिपूर्ति की बहुत बड़ी धनराशि मित्र राष्ट्रों को देनी थी। जर्मन मुद्रा का अवमूल्यन हो रहा था। आन्तरिक ऋणों को समाप्त करना तथा विदेशों से ऋण लेना इनके मुख्य

कार्य रह गये थे। ऐसे देश मे जहाँ साम्राज्यवादी तथा राजतन्त्रवादी तत्व प्रधान रहे है तथा जहाँ संसदात्मक प्रजातन्त्र का कोई अनुभव न रहा हो, गणतन्त्रीय प्रणाली का सफल होना साधारण परिस्थितियों मे भी कठिन था और 1919 ई. के पश्चात् की परिस्थितियों मे और भी अधिक कठिन हो गया।

गणतन्त्र की आन्तरिक नीति—आन्तरिक क्षेत्र में सबसे कठिन समस्या आर्थिक समस्या थी। युद्ध के पश्चात् जर्मनी के उत्पादन के स्रोत बहुत कम हो गये थे। बहुत-से उद्योग बन्द हो गये थे तथा उपनिवेश छिन गये थे। क्षतिपूर्ति की समस्या भयकर थी। युद्ध के समय का ऋण चुकाना था, बेकारी बढ रही थी, जर्मन जहाजी बेडा समाप्त हो चुका था और व्यापार प्रायः चौपट हो गया था। थोडे समय के लिए अधिक कागजी नोट छापकर काम चलाया गया लेकिन इससे मुद्रा स्फीति अधिक बढ़ी और जर्मनी मे स्थित मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का खर्चा भी अधिक भार के रूप में वहन करना पड़ा। 1923 ई. को जर्मनी को क्षति-पूर्ति का भुगतान भी बन्द करना पडा। जर्मन मार्क का मूल्य अत्यधिक गिर गया। 1914 ई. मे चार मार्कों का मूल्य एक डालर के बराबर था, परन्तु 1919 ई. के आरम्भ मे मार्क का मूल्य आधा हो गया था। इसके पश्चात् भी मार्क का अवमूल्यन बडी तेजी से हुआ। नवम्बर 1922 ई. में सात हजार मार्क का मूल्य एक डालर के बराबर हो गया। एक वर्ष के बाद मार्क का मूल्य शून्य के बराबर रह गया था। मनुष्य के लिए एक जोड़ी जूते का मूल्य 50 लाख मार्क बताया जाता था।

इस अवमूल्यन का प्रभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हुआ। देश मे अराजकता की सी स्थिति पैदा हो गयी। साहूकारों के ऋण तुरन्त कौडियो में चुका दिये गये। इससे मध्यमवर्ग तो पूरी तरह असन्तुष्ट था और इसलिए वह वर्ग एक राजनीतिक क्रान्ति का समर्थक बना। वह किसी भी ऐसे दल अथवा नेता का समर्थन करने को तैयार हुआ जो उनको अधिक आर्थिक प्रगति का विश्वास दिला सके। लेकिन इस प्रकार के राजनीतिक परिवर्तन के लिए अभी समय उपयुक्त नही था।

स्ट्रेसमेन का प्रशासन—1923-29 ई. तक जर्मनी ने वार्साय सधि की शर्तों को पूरा करने का प्रयत्न किया। विभिन्न पश्चिमी राष्ट्रों ने भी यह अनुभव किया कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति को सुधारने मे सहायता देना अधिक लाभदायक होगा। इसलिए जर्मनी की क्षति-पूर्ति की समस्या के लिए अन्तरराष्ट्रीय आयोग नियुक्त किया गया जिसने जर्मनी को आर्थिक ऋण दिलवाकर तथा भुगतान की राशि कम करके, जर्मनी के औद्योगिक तथा आर्थिक विकास मे सहायता दी। स्ट्रेसमैन के समय में जर्मनी मे एक नया मार्क (नयी मुद्रा) चलाया गया और पुराने एक लाख करोड मार्कों के बदले में एक नया मार्क देने की व्यवस्था की।

विदेश नीति के सन्दर्भ में भी स्ट्रेसमैन ने सहयोग की नीति अपनायी। वह पश्चिमी राष्ट्रों को यह आश्वासन देना चाहता था कि जर्मनी वार्साय सन्धि को पूरी तरह अपनाना चाहता है। उसी के नेतृत्व में लोकार्नो की सन्धियाँ हुई जिसमे जर्मनी

ने अपनी पश्चिमी सीमाओं का उल्लंघन न करने का वचन दिया। जर्मनी को राष्ट्रसंघ की कौंसिल का स्थायी सदस्य भी बना दिया गया। इससे जर्मनी को अन्तरराष्ट्रीय ऋण प्राप्त होने में तथा मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को जर्मनी से हटाने मे सुविधा हुई और राइन प्रदेश खाली कर दिया गया।

आर्थिक संकट—जर्मनी मे 1929 ई. तक उपद्रवो का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा। लेकिन यहाँ निराशापूर्ण वातावरण व्यापक रूप से फैला हुआ था। इसके कुछ दार्शनिक तो यहाँ तक निराशा मे डूब गये कि जर्मन दार्शनिक, इतिहासकार ओस्वाल्ड स्पेंगलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिक्लाइन आव द वेस्ट' (पश्चिम का पतन) के दोनो खण्डो मे यह बात कही कि पश्चिम की प्रधानता अब भूतकाल की वस्तु रह गयी थी। इस पुस्तक ने निरुत्साह के वातावरण को और भी अधिक बढावा दिया। लेकिन यह निराशा पुराने तथा वृद्ध लोगों तक सीमित थी। युवक अपने राष्ट्र को पुन. वैभव तक पहुँचाने की आशा रखते थे।

1929 ई. के आर्थिक संकट का परिणाम यह निकला कि जर्मनी को अन्तरराष्ट्रीय ऋण मिलने प्राय बन्द हो गये और विभिन्न देशो मे जर्मनी मे निर्मित वस्तुओं का आयात कम हो गया। वार्षिक घाटे की स्थिति पुन आरम्भ हो गयी। जर्मनी के सैकडो कल-कारखाने बन्द हो गये। लाखो श्रमिक बेकार हो गये और प्रचलित राज्य सरकार के विरुद्ध देशव्यापी विद्रोह की भावना बढी और देश मे नात्सी पार्टी का उत्थान हुआ।

नात्सीवाद के उत्थान के कारण—यह बात सामान्य रूप से मानी जाती है कि नात्सीवाद के उत्थान मे सबसे बडा हाथ हिटलर का था। इतना होते हुए भी कुछ अन्य परिस्थितियाँ भी नात्सी विचारधारा के उत्थान मे सहायक हुई। उनमे से मुख्य निम्न प्रकार मे थी :

1. **वार्साय सन्धि से उत्पन्न असन्तोष**—वह जर्मनी जिसने 1871 ई से 1914 ई. तक आशा से अधिक प्रगति की थी और जिसकी सेनाएँ अजेय मानी जाती थी, किसी भी तरह से 1918 ई की अपमानजनक स्थिति को सहन करने को तैयार न था। जर्मनी का अधिकाश जनमत वार्साय सन्धि को एक महान कलक समझता था। जर्मनी मे शीघ्र ही यह प्रचार किया गया कि जर्मन सेनाओं को धोखा देकर पराजय स्वीकार करनी पडी। ऐसे क्षुब्ध वातावरण मे, हिटलर के वार्साय सन्धि विरोधी भाषणों का जादू का-सा असर होता था। वह 1919 ई के पश्चात् बहुत बार गरजकर आवेश मे कहता था कि जर्मन राष्ट्र वार्साय सन्धि का अन्त करके ही शान्ति से बैठ सकता है। उसने अपनी पुस्तक 'मीन कैम्फ' मे कहा था कि इस सन्धि के विरुद्ध विद्रोह करना आवश्यक है।

2. **साम्यवाद का भय**—1918 ई. के पश्चात् जर्मनी मे साम्यवाद का काफी प्रभाव बढ गया था। जर्मन पूँजीपतियो को साम्यवाद के बढते हुए प्रभाव से काफी भय था। हिटलर को इस पूँजीपति वर्ग से बहुत सहायता मिली। हिटलर

साम्यवाद के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की बातें करके जर्मन जनता को भयभीत कर देता था और इस प्रकार जनसाधारण तथा पूँजीपति वर्ग दोनों को ही वह अपने पक्ष मे कर लेता था। वह साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीयवाद को जर्मन राष्ट्रीयता के लिए सबसे बड़ा खतरा समझता था और इस प्रकार जर्मन राष्ट्रीयता की दुहाई देकर वह अपने नात्सीवाद को लोकप्रिय बनाना चाहता था।

3. **संसदीय प्रणाली के दोष**—जर्मन संसद मे आरम्भ से ही बहुत-से राजनीतिक दल थे। इस कारण किसी एक दल को बहुमत प्राप्त नही होता था। इसलिए इस प्रणाली में शासकीय नीति दृढ नही हो सकती थी। जर्मनी की 1871 से 1914 ई. तक की प्रगति भी ससदीय प्रणाली के आधार पर नही हुई थी, ऐसी स्थिति में तानाशाही का विकास स्वाभाविक ही था।

4. **आर्थिक असन्तोष**—1929-31 ई. की विश्वव्यापी मन्दी का जर्मनी मे नात्सीवाद की प्रगति पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा। यह इस बात से स्पष्ट था कि 1930 ई से पूर्व जितने भी निर्वाचन हुए उनमे नात्सी दल को बहुत कम स्थान प्राप्त हुए थे। लेकिन 1930 ई. के पश्चात् इस दल को असन्तुष्ट किसानों, विश्वविद्यालयों, छात्रों तथा लाखों बेकार लोगों का समर्थन मिला। कृषकों को आशा थी कि वस्तुओं के गिरते हुए मूल्यों को रोकने में नात्सी दल सहायता देगा। नवयुवक नौकरियों की तलाश मे थे, और वे समझते थे कि नात्सी दल इस कार्य मे उनकी सहायता कर सकेगा। 1931-32 ई. मे जर्मन राष्ट्र के अधिकाश नागरिक प्रचलित व्यवस्था से असन्तुष्ट थे। उन्हें किसी भी ऐसे दल अथवा नेता की आवश्यकता थी जो उस गड्ढे से निकलने मे सहायता कर सके।

5. **सैन्यवाद मे विश्वास**—जर्मन जाति सैन्यवाद को राष्ट्रीय महानता का परिचायक समझती थी। 1919 ई. के पश्चात् इस सैन्यवाद तथा जर्मन शक्ति का पतन हो गया था। केवल एक ही दल ऐसा था जो सैन्यवाद को पुनः पहले की भाँति महत्त्व देता था और वह था नात्सी दल। नात्सी दल ने स्वयसेवकों की एक सेना का गठन किया था।

इस सेना के लोग भूरे रंग की कमीज पहनते थे। उनका काम नात्सी दल की बैठकों तथा सभाओं की रक्षा करना तथा विरोधी दल की बैठकों को बलपूर्वक भग कराना था। इस सेना से आगे चलकर नात्सी दल को राजसत्ता प्राप्त करने मे बहुत सहायता मिली।

6. **हिटलर का नेतृत्व**—नात्सी दल की सफलता का रहस्य स्वयं उसका नेता हिटलर था। वह दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति था। उसमें असीम साहस तथा कार्य करने की क्षमता थी। उसे अपने ऊपर बहुत अधिक विश्वास था। नात्सी दल 1933 ई. तक इस स्थिति मे कभी नहीं था कि वह अपने नेता को अधिनायक बना सके। इसके अतिरिक्त 1932-33 ई. मे नात्सी दल का प्रभाव कम होना आरम्भ हो गया था। हिटलर ने दल के विघटन को रोककर उसके स्थान पर उसको बहुत अधिक

दिया। हिटलर की राजनीतिक कुशलता अत्यधिक थी। वह अपनी तीव्र दृष्टि से हर घटना के ठीक अवसर को पहचान सकता था।

हिटलर ने पच्चीस सूत्रीय कार्यक्रम के आधार पर अपने समर्थकों के विभिन्न वर्गों को आश्वासन दिया। वह सम्पत्ति के मालिकों को साम्यवादियों के विरुद्ध, श्रमिकों को आर्थिक पोषण के विरुद्ध, उपभोक्ताओं को उत्पादकों के विरुद्ध, छोटे व्यापारियों को बड़े व्यापारियों के विरुद्ध आश्वासन दे सकता था। इस कार्यक्रम में सामाजिक प्रोग्राम को बहुत कम शामिल किया था, लेकिन इसमें कुछ राजनीतिक प्रोग्राम थे जिन्हें हिटलर ने सत्ता प्राप्त कर लेने के पश्चात् लागू किया। इस प्रोग्राम में वार्साय सन्धि को समाप्त करना, यहूदियों पर अत्याचार तथा जर्मन भाषाई क्षेत्रों को एक सूत्र में बाँधने की बात कही गयी थी। साम्यवाद को राष्ट्र के लिए हानिकारक बताया गया था। हिटलर जैसा व्यक्ति ही परस्पर विरोधी तत्वों का समर्थन प्राप्त कर सकता था।

हिटलर का व्यक्तित्व—एडोल्फ हिटलर का जन्म 1889 ई में आस्ट्रिया के एक गाँव के एक गरीब परिवार में हुआ था। गरीबी के कारण उसको अच्छी शिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी। युवावस्था में उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए शिल्पी तथा पेन्टर का कार्य करना पड़ा। इस समय में जर्मन उग्र राष्ट्रीयता के विचारों से वह बहुत प्रभावित हुआ। वह प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन सेना में भर्ती होकर लड़ा था और उसे 'आइरन क्रॉस' मिला था लेकिन उसको सेना में उच्च पद प्राप्त नहीं हुआ। वह 1918 ई के युद्ध विराम सन्धि के विरुद्ध था और इसे विश्वासघात का परिणाम समझता था।

हिटलर

निराशावश 1919 ई. में उसने नात्सी दल की स्थापना की। हिटलर इस समय तक सब क्षेत्रों में निराश रहा था। इसी समय जब वह अपने दल के प्रोग्राम का प्रचार कर रहा था तब उसे पता चला कि वह एक प्रभावशाली वक्ता है। इसलिए उसने अपनी इस भाषण देने की कला का अत्यधिक लाभ उठाया। प्रजातन्त्रीय शासन के अधिक प्रचलित नहीं होने के कारण जर्मनी में हिटलर के प्रभावशाली भाषण अद्वितीय आकर्षण रखते थे। 1923 ई में उसका बलपूर्वक सत्ता पर अधिकार का प्रयास असफल रहा। उस पर मुकदमा चलाया गया, उसे जेल हुई लेकिन अब वह एक राष्ट्रीय नेता बन चुका था। इस एक वर्ष की जेल अवधि में उसने अपनी आत्मकथा 'मीन कैम्फ' (मेरा संघर्ष) लिखा। इस पुस्तक में सम्पूर्ण जर्मन जाति का एक राष्ट्र मानकर एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने का लक्ष्य प्रस्तुत किया गया था।

इसी पुस्तक में उसने जर्मन जाति के लिए 'लेबेन्स्राम' (रहने का स्थान) की मांग की थी। यह स्थान पूर्व की ओर ही हो सकता था। यह पुस्तक उस समय काफी अधिक सख्या में बिकी और आगे चलकर नात्सीवाद के लिए एक बाइबिल बन गयी। लेकिन उस समय किसी को हिटलर के सत्तारूढ होने की आशा नहीं थी।

नात्सी पार्टी का उत्थान—नात्सी दल को (जिसे नेशनल सोशलिस्ट भी कहते हैं) 1924 ई. में लोकसभा में 32 स्थान प्राप्त हुए थे। 1929 ई. के निर्वाचन में केवल 14 स्थान ही मिले, 1930 ई. में आर्थिक सकट के कारण लोकसभा के स्थान पर प्रशासन कार्यपालिका के अध्यादेशों के आधार पर ही चलने लगा। यह कार्य गणतन्त्रीय प्रणाली का अन्त करने में सहायक हुआ। 1930 ई. के निर्वाचन से नात्सी दल के सदस्यों की सख्या 12 से बढ़कर 107 हो गयी। हिटलर के जर्मनी की विदेश नीति का, *जिसका लक्ष्य पश्चिमी राष्ट्रों से मैत्री था, विरोध किया।* उसने जानबूझकर झूठा प्रचार किया कि जर्मनी ने नवयुवकों को भाड़े पर दूसरे देशों को देने का वचन दिया गया है जिससे जर्मनी क्षतिपूर्ति की धनराशि को पूरा कर सके। झूठे प्रचार में हिटलर अद्वितीय था। जुलाई 1932 ई. में पुन. निर्वाचन हुए और नात्सी दल की संख्या बढकर 230 हो गयी और नवम्बर 1932 ई. के निर्वाचन में घटकर 196 रह गयी। इससे नात्सी दल के नेता निराशावादी होने लगे थे।

नात्सी दल का उत्थान

जर्मनी में निर्वाचन का समय		जर्मनी की लोकसभा के कुल सदस्यों की सख्या (जो मतदाताओं के अनुपात में कम या अधिक होती रहती थी)	नात्सीदल की संख्या	नात्सी सदस्यों की कुल संख्या में प्रतिशत
जनवरी	1919	421	00	0%
जून	1920	466	00	0%
मई	1924	472	32	7% से कम
दिसम्वर	1924	489	14	3% से कम
मई	1928	491	12	$2\frac{1}{2}$% लगभग
सितम्बर	1930	577	407	19% से कम
जुलाई	1932	611	230	38% से कम
नवम्बर	1932	584	196	34% से कम
मार्च	1933	648	288	45% से कम
नवम्बर	1933	661	659	100% से कम

हिटलर की चान्सलर के पद पर नियुक्ति—नवम्बर 1932 ई. के निर्वाचन में कम स्थान प्राप्त होने से हिटलर ने चान्सलर फोनश श्लेशर के विरुद्ध झूठे प्रचार को तेज किया। उसने यह अफवाह फैलायी कि श्लेशर को पद से हटा दिया गया है और उसको चान्सलर नियुक्त किया गया है। यह घटना 30 जनवरी, 1933 ई. की थी। उसी दिन हिटलर ने रेडियो से भाषण देते हुए कहा कि राष्ट्रीय अपमान के दिन समाप्त

हो चुके। हिटलर के मन्त्रिमण्डलों में 2 नात्सी और 9 राष्ट्रवादी थे। राष्ट्रवादी सोचते थे कि उन्होंने हिटलर को बन्दी बना लिया था, पर वास्तव में हिटलर उन राष्ट्रवादियों को बन्दी बनाने की बात सोच रहा था।

हिटलर का अपनी स्थिति दृढ़ करना––उसने बहुमत प्राप्त करने के लिए 5 मार्च, 1933 ई. को नये निर्वाचन की स्वीकृति राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग से ली। इस एक महीने के समय में उसने पुलिस के सहयोग, प्रचार साधनों पर नियन्त्रण और विरोधियों को डरा-धमकाकर बहुमत के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। जब यह भी पर्याप्त होता दिखायी न पड़ा तो 28 फरवरी को लोकसभा के भवन में आग लगाकर उसका दोष साम्यवादियों के सर मढ़ दिया और इन सब साधनों से नात्सी दल को 647 सदस्यों के सदन में 288 स्थान प्राप्त हुए। हिटलर ने राष्ट्रवादियों के समर्थन से एक सम्मिलित मन्त्रिमण्डल बनाया। उसने अन्य सदस्यों को नात्सी दल के स्वयंसेवकों द्वारा डरा-धमकाकर मार्च 1931 ई. में एक अधिनियम पास करवाकर 'वीमर संविधान' को स्थगित करवा लिया। 30 जनवरी 1933 ई. को अपनी सत्ता प्राप्ति की पहली वर्षगांठ पर जर्मनी के समस्त राज्यों के अधिकार केन्द्र को सौंप दिये गये। अगस्त 1934 ई. में राष्ट्रपति की मृत्यु के पश्चात् हिटलर ने वह पदवी 24 घण्टे के अन्दर स्वयं ग्रहण कर ली। नात्सी दल को छोड़कर अन्य सब दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। जून 1934 ई. में नात्सी दल में भी हिटलर ने अपने सब विरोधियों को मरवा दिया। लगभग 1,000 व्यक्तियों को मृत्यु के घाट उतार दिया गया। उन सब व्यक्तियों को, जो हिटलर के प्रतिद्वन्द्वी हो सकते थे, मरवा दिया गया।

अधिनायकवाद की स्थापना––उपरोक्त नीति के फलस्वरूप जर्मनी में एकतन्त्रीय शासन की स्थापना हो चुकी थी। स्थानीय तथा राज्यों के सब अधिकार केन्द्र को तथा हिटलर को प्राप्त हो चुके थे और एक दल को सर्वसत्तावादी बना दिया गया था। नात्सी दल को ही राज्य में सब अधिकार प्राप्त हो चुके थे। इस अधिनायकवाद की स्थापना में गोबेल्स तथा गोरिंग का महत्त्वपूर्ण योगदान था। गोबेल्स सूचना तथा प्रचार मन्त्री था। उसका लक्ष्य था कि 'झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए अधिक बार दोहराना आवश्यक है।' गोरिंग का कार्य नात्सी विरोधी सब दलों को समाप्त करना था।

हिटलर की आन्तरिक नीति––हिटलर के समक्ष देश में फैली हुई बेकारी की समस्या का अन्त करना आवश्यक था। नात्सी दल ने मजदूर संगठनों को समाप्त कर दिया और उनका नेतृत्व स्वयं संभाल लिया। श्रमिकों के काम करने के घण्टे कम कर दिये गये और 1935 ई. के पश्चात् बढ़ती हुई सेना की संख्या में वृद्धि करके इस समस्या को हल किया गया। औद्योगिक क्षेत्र में चारवर्षीय योजनाएँ आरम्भ की गयीं। 1936 ई. में जर्मनी में उत्पादन 1929 ई. के स्तर तक पहुँच गया था। 1936 ई. में हिटलर ने दूसरी चारवर्षीय योजना लागू की जिसका उद्देश्य जर्मनी को युद्ध के लिए तैयार करना था।

शिक्षा तथा धर्म पर नियन्त्रण––एकतन्त्रीय व्यवस्था में शिक्षा पर नियन्त्रण

अत्यन्त आवश्यक था। उच्च शिक्षा संस्थाओं में नात्सी विचारों के विरोधी अध्याप को हटा दिया गया। फरवरी 1936 ई. को एक आदेश प्रसारित किया गया जिस अनुसार सब विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को नात्सी विचारधारा का मानने वाला हो चाहिए। पदोन्नति योग्यता पर नहीं बल्कि नात्सी विचारों के समर्थन पर निर्भ करती थी। उच्च शिक्षा बहुत कम संख्या में उपलब्ध होती थी और यह भी उ विद्यार्थियों को, जिन्हें स्थानीय नेता उपयुक्त समझता था। 1938 ई. में उच्च शिक्ष पाने वालों की संख्या 1933 ई. की अपेक्षा आधी रह गयी थी। विचारों को व्यक्त करने वाली सभी संस्थाओं पर नात्सी नियन्त्रण था। यहाँ तक कि चित्रकारों, शिल्पियों गायकों आदि पर भी नियन्त्रण कर दिया गया।

सबसे भयंकर अत्याचार तथा द्वेषपूर्ण व्यवहार यहूदियों के प्रति किया गया 1919-33 ई. के मध्य यहूदियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि वे किसी भी व्यवसाय को अपना सकें। सामी जाति के विरुद्ध जर्मन जाति में पहले ही मनमुटाव था। अप्रैल 1933 ई. में यहूदियों के विरुद्ध नीति अपनानी आरम्भ हुई। शीघ्र ही यहूदियों को सब लौकिक नौकरियों से वंचित कर दिया गया। विश्वविद्यालय में भर्ती होने के लिए 1·5% स्थान यहूदियों के लिए सीमित थे। 1938 ई. में यहूदियों की सम्पत्ति छीन ली गयी हजारों की संख्या में यहूदियों को बन्दी शिविरों में भेज दिया गया। 1939 ई. तक यहूदियों के सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार समाप्त कर दिया गया था। समस्त नौकरियाँ उनके लिए बन्द थी। वे किसी व्यवसाय को भी नहीं अपना सकते थे।

हिटलर को अपनी निरकुशता की स्थापना में प्रोटेस्टेण्ट तथा रोमन कैथोलिक के विरोध को भी सहना पड़ा। लेकिन उसने निरकुशता के साथ अपना नियन्त्रण स्थापित किया।

हिटलर की विदेश नीति

हिटलर के चान्सलर बनने की प्रतिक्रियाएँ यूरोप के विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न हुई। हिटलर ने अपने उद्देश्य तो पहले ही अपनी आत्मकथा 'मीन कैम्फ' में लिख दिये थे। उनको प्राप्त करना ही उसकी विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य था। कुछ देशों में, विशेषकर फ्रांस तथा उसके मित्र राष्ट्रों में, यह आशंका पैदा हुई कि वार्साय सन्धि का उल्लघन होगा। प्रजातन्त्रीय देशों (इंगलैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमरीका) में हिटलर के रक्तपात के विरुद्ध नैतिक विरोध पैदा हुआ।

हिटलर आरम्भ के दो वर्षों में अत्यधिक शान्तिपूर्ण रहा। उसने 1934 ई. में पोलैण्ड के साथ दस वर्षों के लिए मित्रता स्थापित की। 1935 ई. में सार प्रदेश पर से राष्ट्रसघ का नियन्त्रण समाप्त होने वाला था और जनमत-सग्रह के आधार पर इस प्रदेश का भाग्य निर्णय होने वाला था। हिटलर सार प्रदेश के महत्त्व को समझता था। इसलिए इस प्रदेश का निर्णय होने तक शान्त रहा। जब सार प्रदेश जर्मनी को प्राप्त हो गया तब हिटलर को पश्चिमी राष्ट्रों से कुछ और प्राप्त होने की आशा नहीं रह गयी थी। इसलिए हिटलर ने उग्र नीति अपनायी।

1935 ई. में रूस भी हिटलर विरोधी नीति अपना रहा था। मई 1935 ई. में रूस-फ्रांस में एक रक्षात्मक समझौता हुआ। मार्च 1936 ई. में जब इटली एबीसीनिया की विजय में व्यस्त था, हिटलर ने घोषणा की कि फ्रांस और रूस में मैत्री के कारण समझौता निरर्थक हो गया है इसलिए लोकार्नो समझौता भंग किया गया।

हिटलर द्वारा वार्साय सन्धि का उल्लंघन—जनवरी 1935 ई. में सार क्षेत्र के वापस मिल जाने के पश्चात् हिटलर ने वार्साय सन्धि का उल्लघन आरम्भ किया। मार्च 1935 ई. में जर्मनी में सैनिक भर्ती अनिवार्य कर दी गयी। इंगलैण्ड के साथ जून 1935 ई. में नौसेना सम्बन्धी एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार जर्मनी की नौसेना इंगलैण्ड की नौसैनिक शक्ति का 35% होगी।

मार्च 1936 ई. में जर्मनी ने इटली के एबीसीनिया आक्रमण से लाभ उठाकर राइन प्रदेश में सेना रखना घोषित कर दिया और इस प्रकार वार्साय सन्धि का उल्लघन किया।

यूरोपीय देशों की प्रतिक्रिया—जर्मनी के इन कार्यों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। फ्रांस यह चाहता था कि जर्मनी के विरुद्ध एक कड़ा दृष्टिकोण अपनाया जाय लेकिन इंगलैण्ड जर्मनी के प्रति भिन्न नीति अपनाये हुए था। उसका विचार था कि जर्मनी के साथ कुछ कठोर व्यवहार किया गया है और उसकी कुछ शिकायतें उचित थी। इसलिए यदि कुछ स्थानों पर जर्मनी वार्साय सन्धि का उल्लंघन करे तो इससे स्थायी शान्ति को सुरक्षित रखने में शान्ति मिलेगी। यह विचार ही इंगलैण्ड की तुष्टीकरण की नीति के लिए उत्तरदायी था।

यह तुष्टीकरण की नीति शान्ति बनाये रखने के लक्ष्य को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ थी। इंगलैण्ड के इस दृष्टिकोण से फ्रांस अकेला निष्क्रिय हो गया और जर्मनी यह समझता रहा कि पश्चिमी राष्ट्रों के एकमत न होने से उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने का पर्याप्त अवसर उपलब्ध है। वह तुष्टीकरण की नीति को दुर्बलता का प्रतीक समझता रहा। इंगलैंड में भी कुछ लोग यह समझते थे कि यह नीति इंगलैण्ड की सैन्य दुर्बलता का परिणाम है। लेकिन यह सत्य नहीं है क्योंकि ऐसे अवसर भी आये जबकि युद्ध अथवा शान्ति का प्रश्न इंगलैण्ड के हाथ में नहीं रहा था।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि इस तुष्टीकरण की नीति से सम्बन्धित विचार यह भी रहा है कि हिटलर का उत्थान केवल वार्साय सन्धि की कठोर शर्तों के परिणामस्वरूप हुआ। लेकिन यह मत भी सही नहीं है क्योंकि हिटलर का उत्थान वार्साय सन्धि के पश्चात् नहीं हुआ था। उसके विचारों का (जो उसने 'मीन कैम्फ' में व्यक्त किये थे) जर्मनी की नीति पर उस समय तक कोई प्रभाव नहीं पड़ा जब तक वह स्वयं नीति संचालक नहीं बन गया। हिटलर का उत्थान किसी लोकप्रियता के आधार पर नहीं हुआ जैसा हमने पहले अध्ययन किया है।

आस्ट्रिया पर अधिकार—हिटलर जर्मन जाति को एक राज्य के अधीन संगठित करना चाहता था और जर्मन जाति आस्ट्रिया में भी रहती थी। आस्ट्रिया पर

हिटलर के आधीन
जर्मनी का विस्तार
1935-39
स्वीडन
लिथुएनिया
पूर्वी प्रशा
पोलैन्ड
ज र्म नी
नीदरलैण्ड
बेल्जियम
फ्रां स
चेकोस्लोवेकिया
आ स्ट्रि या
हंगरी
स्विट्जरलैण्ड
इटली
जर्मनी 1933 ई० में
1935 ई० में सैनिक नियंत्रण
जर्मनी का विस्तार 1938 ई०
जर्मनी का विस्तार 1939 ई०
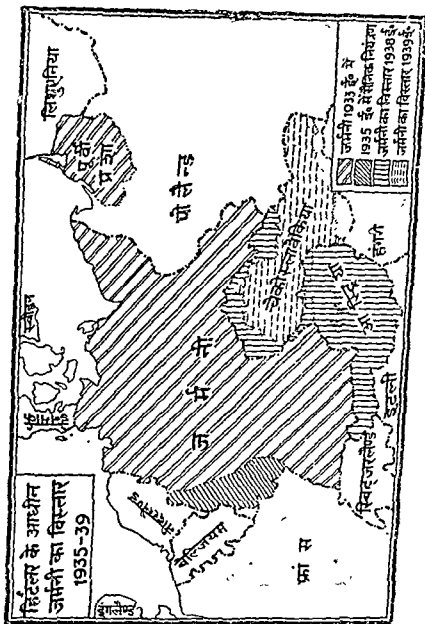
अधिकार करने की चेष्टा उसने 1924 ई. में भी की थी लेकिन 1936 ई. में मुसोलिनी के एबीसीनिया सफलता के पश्चात् इटली ने अनुभव कर लिया था कि जर्मनी की मैत्री अधिक आवश्यक है। इसलिए आस्ट्रिया में जर्मन जाति के हितों को ध्यान में रखते हुए आस्ट्रिया की नीति का सचालन हो, इस विषय का एक समझौता आस्ट्रिया तथा जर्मनी में 1936 ई. में हो गया था और इटली इस समझौते से सहमत था।

12 फरवरी, 1933 ई. को आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री तथा हिटलर में एक वार्ता हुई जिसमें 1936 ई. के समझौते के मार्ग की कुछ कठिनाइयों को दूर करने की समस्या पर विचार-विमर्श हुआ। इसका तुरन्त परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया में नात्सी दल के कार्यों को वैधानिक घोषित किया। वहाँ की पुलिस तथा गृह मन्त्रालय नात्सी नेताओं को दे दिये गये। इससे यह बात सहज ही समझ में आ जाती थी कि हिटलर ने दबाव डालकर यह समझौता कराया था। फरवरी के महीने में विभिन्न ऐसी घटनाएँ हुईं जिनमें नात्सी दल का प्रभाव बढ़ता हुआ स्पष्ट दिखायी दिया।

9 मार्च को आस्ट्रिया के चान्सलर ने अपने देश की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए अपना ब्रह्मास्त्र चलाया और यह प्रश्न कि 'क्या आस्ट्रिया जर्मनी के साथ मिला दिया जाये', जनमत के समक्ष रखने का प्रस्ताव किया। यह निश्चित था कि बहुमत उसके साथ था। इससे हिटलर को अपनी नीति तेज करनी पड़ी। 11 मार्च, 1938 ई. को चेतावनी देकर आस्ट्रिया के जनमत संग्रह को रुकवाया गया। शाम 6 बजे आस्ट्रिया ने जनमत संग्रह रोकने की घोषणा कर दी। लेकिन जर्मन सेनाओं ने 7.30 बजे आस्ट्रिया पर आक्रमण आरम्भ कर दिया। 12 मार्च को प्रात 7 बजे तक जर्मन वायु सेना ने आस्ट्रिया में नात्सी सरकार को बधाई सन्देश वियना में वितरण किये। 12 मार्च की शाम 6 बजे हिटलर आस्ट्रिया पहुँचा और उसने घोषणा की कि आस्ट्रिया को जर्मन राष्ट्र में मिलाना उसकी पुरानी महत्त्वाकांक्षा थी।

आस्ट्रिया के जर्मन साम्राज्य में मिल जाने से हिटलर का बहुत लाभ हुआ। इससे पूर्वी यूरोप के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इससे चेकोस्लोवेकिया की स्वतन्त्रता को भारी खतरा उत्पन्न हो गया। समस्त दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया। खनिज पदार्थों तथा आस्ट्रियन बैंक के सुरक्षित स्वर्ण भण्डार से जर्मनी को अत्यधिक आर्थिक तथा औद्योगिक लाभ हुआ।

तुष्टीकरण की पराकाष्ठा : म्यूनिख समझौता—आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिला देने के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि जर्मनी अन्य राष्ट्रों के साथ सह-जीवन व्यतीत कर सकेगा। लेकिन जर्मनी के लिए यह घटना नये आक्रमण की भूमिका थी। उसने जून-जुलाई 1938 ई. से चेकोस्लोवेकिया के जर्मन बहुमत वाले क्षेत्रों पर अधिकार करने की बात कही। इगलैण्ड तथा फ्रांस में पुन हिटलर के प्रति दृष्टि-कोण पर मतभेद उत्पन्न हुआ। चेकोस्लोवेकिया के सुडेटन प्रदेश में जर्मन जाति का बहुमत था और हिटलर ने उनका पक्ष लेकर उनको चेक जाति के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने की बात कही।

सितम्बर में चेकोस्लोवेकिया सरकार ने अथक प्रयत्न इस बात के लिए किये कि जर्मन जाति की उचित शिकायतों को दूर किया जा सके। लेकिन यह सब व्यर्थ रहा। वाद-विवाद यहाँ तक बढ़ा कि इगलैण्ड के प्रधान मन्त्री चैम्बरलेन को बर्लिन जाना पड़ा और अन्त में लन्दन में तीन राष्ट्रों (इगलैण्ड, फ्रास तथा जर्मनी) के प्रतिनिधियों ने चेकोस्लोवेकिया के जर्मन बहुमत वाले प्रदेशों को जर्मनी को सौंपना तय किया। चेकोस्लोवेकिया की सरकार पर इन प्रस्तावों को मानने के लिए दबाव डाला गया। लेकिन जब चैम्बरलेन ने हिटलर से लन्दन समझौते के आधार पर भेंट की तो हिटलर चेकोस्लोवेकिया का पूरी तरह खण्डन चाहता था और हिटलर ने गोडेसबर्ग से एक प्रकार की चेतावनी प्रसारित की, जिसमें वह कुछ अधिक क्षेत्र चाहता था।

इससे क्षुब्ध होकर इगलैण्ड ने युद्ध की तैयारी कर दी। सम्भवत: मुसोलिनी के समझाने पर हिटलर पुन: एक चतुर्देशीय सम्मेलन के लिए तैयार हुआ और यह सम्मेलन म्यूनिख में 29 सितम्बर को हुआ। यहाँ पर चेकोस्लोवेकिया के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार निम्न बातें तय हुई :

(1) चेक लोग 1 से 10 अक्टूबर तक सुडेटनलैण्ड खाली कर दें। (2) एक अन्तरराष्ट्रीय आयोग सीमा निर्धारण करे। इसमें पाँचों देशों के सदस्य सम्मिलित हों। (3) इगलैण्ड और फ्रास ने चेकोस्लोवेकिया की नयी सीमाओं की गारण्टी कर दी।

म्यूनिख का महत्व—चैम्बरलेन अपनी इस सफलता पर बहुत खुश था कि उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप युद्ध का खतरा समाप्त हो गया। उसने घोषणा की कि वह बर्लिन से प्रतिष्ठा युक्त शान्ति लेकर लौटा है, लेकिन यह वास्तव में ऐसा कुछ नहीं था। म्यूनिख तुष्टीकरण की नीति की चरम सीमा थी और यह नीति सफल नहीं हो सकती थी।

हिटलर ने मार्च 1939 ई. में चेकोस्लोवेकिया के राष्ट्रपति को जर्मनी बुलाया और उसे शेष चेकोस्लोवेकिया भी जर्मनी के अधिकार में देने के लिए कहा और चेकोस्लोवेकिया के राष्ट्रपति को यह करना ही पड़ा।

द्वितीय विश्व युद्ध की ओर

म्यूनिख समझौते को तोड़कर चेकोस्लोवेकिया के जर्मन साम्राज्य में मिल जाने से अब युद्ध का आरम्भ होना केवल कुछ महीनों का प्रश्न रह गया था। 21 मार्च, 1939 ई. को हिटलर ने लिथुएनिया के शासक को डरा-धमकाकर मेमेल जर्मनी में मिला लिया।

पोलैण्ड पर अधिकार का प्रयत्न

चेकोस्लोवेकिया पर अधिकार कर लेने के पश्चात् पोलैण्ड की बारी आयी। हिटलर ने वही पुराना अस्त्र अपनाया कि अल्पसंख्यक जर्मन पोलैण्ड के अत्याचार में रह रहे हैं। उधर इंगलैण्ड भी तुष्टीकरण की नीति मार्च 1939 ई. के पश्चात् छोड़ चुका था। उसने 31 मार्च को पोलैण्ड की स्वतन्त्रता की गारन्टी देने की घोषणा की और इस सन्धि पर 6 अप्रैल, 1939 ई. को हस्ताक्षर हो गये।

समय रेखा

स्केल : 1 सेंटिमीटर = 2 वर्ष

8. देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए हिटलर ने—
   (क) कारखाने स्थापित करवाये (ख) चार वर्षीय योजनाएँ तैयार की
   (ग) विदेशों से ऋण लिया (घ) नयी मुद्रा चालू की ( )
9. हिटलर आरम्भ के दो वर्षों में शान्त रहा क्योंकि—
   (क) 1935 में सारे प्रदेश में राष्ट्रसंघ का नियन्त्रण समाप्त होने पर जनमत संग्रह होने वाला था
   (ख) वह अपनी शक्ति संचय कर रहा था
   (ग) विश्व राजनीति का अध्ययन कर रहा था
   (घ) आन्तरिक व्यवस्था को मजबूत बनाने में लगा हुआ था ( )
10. हिटलर की आक्रमणात्मक विदेशी नीति में तीव्रता आती गयी क्योंकि—
   (क) फ्रांस का जर्मनी के प्रति कठोर रुख था
   (ख) इंगलैण्ड की जर्मनी के प्रति उदार नीति थी
   (ग) यूरोप के राष्ट्र जर्मनी के विरुद्ध सैनिक युद्ध के लिए तैयार नहीं थे
   (घ) हिटलर वार्साय सन्धि का उल्लंघन करना चाहता था ( )
11. द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ—
   (क) हिटलर के पोलैण्ड पर आक्रमण से (ख) आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने से
   (ग) हिटलर के द्वारा चेकोस्लोवेकिया के हड़पने से
   (घ) इटली के एबीसीनिया पर आक्रमण से ( )

संक्षेप में उत्तर दीजिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों से अधिक न हो।

1. वीमर गणतन्त्र की संसद का संगठन किस प्रकार होता था ?
2. वीमर गणतन्त्र के समक्ष किन्हीं तीन कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए।
3. 1923 ई. में जर्मनी की आर्थिक स्थिति खराब होने के कोई तीन कारण बताओ।
4. नात्सी स्वयंसेवकों के मुख्य कार्य क्या थे ?
5. गोरिंग और गोबेल्स के क्या कार्य थे ?
6. नात्सी जर्मनी में यहूदियों पर किये गये अत्याचारों का वर्णन कीजिए।
7. आस्ट्रिया पर अधिकार से किन-किन देशों को जर्मनी के विस्तारवाद से खतरा उत्पन्न हो गया ?
8. म्यूनिख समझौते का महत्त्व बताओ।
9. चेकोस्लोवेकिया को हिटलर ने किस प्रकार हड़पा ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. हिटलर की सफलता के क्या कारण थे ?
2. हिटलर के 1936 ई. से 1939 ई. तक विदेशी नीति के क्षेत्र में किये कार्यों पर प्रकाश डालिए।

15

द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1945 ई.)

1919 ई. मे जब प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुआ, उस समय यह आशा की जाती थी कि विश्व मे शान्ति बनी रहेगी। इसी आशा को लेकर राष्ट्रसंघ द्वारा शान्ति स्थापना के लिए सामूहिक प्रयत्न किये गये। लेकिन 1919 ई. की वार्साय सन्धि बीस वर्षों के लिए युद्ध विराम सिद्ध हुई। यद्यपि यह सामान्य बात है कि इतनी महत्त्वपूर्ण घटना के कारणो की खोज की जाये, लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि क्या 1919 ई. मे अथवा उसके पश्चात् यूरोप में एक ऐसा वातावरण पैदा हुआ था जिसे यह कहा जा सके कि यह शान्ति के लिए आशा बँधाता था।

जर्मनी मे 1919 ई. में वार्साय सन्धि के विषय मे बहुत स्पष्ट प्रतिक्रिया दिखायी देती थी। जब जर्मन शिष्ट-मण्डल के अध्यक्ष ने पेरिस सम्मेलन के सन्धि प्रस्तावो को प्राप्त किया तो उसने नम्रता के व्यवहार का आग्रह किया। अस्वीकार होने पर उसने बडे सम्मान के साथ कहा था—'6 करोड जनसंख्या वाला राष्ट्र कष्ट सहता है, मरता नही है।' जर्मनी के विदेश सचिव ने कहा था कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले का हाथ ही कट जायेगा। हिटलर ने अपनी आत्मकथा 'मीन कैम्फ' में लिखा था कि वह इस समाचार को सहन नही कर सका। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया और वह अपने कमरे मे जाकर फूट-फूटकर रोया। वह सदा इसी विचार से ग्रस्त रहा कि इस पराजय का किस प्रकार प्रतिशोध लिया जाय। इस दृष्टि से प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति से ही दूसरे युद्ध की शुरुआत हो जाती है। भले ही जर्मनी मे कुछ वर्षों तक वार्साय सन्धि की शर्तों को माना गया हो लेकिन सामान्य विचार सन्धि विरोधी ही थे।

फ्रांस के विजयी होने के कारण यह आशा की जा सकती थी कि सन्तोष तथा सुरक्षा का वातावरण होगा लेकिन वहाँ भी दूसरा ही वातावरण था। पोइनकारे का (जो किसी समय मे फ्रास का राष्ट्रपति रह चुका था) विश्वास था कि जर्मन सेनाएँ पुनः आक्रमण करने आयेंगी। क्लीमेन्स्यू (जो पेरिस सन्धि निर्माताओं में से एक था) समझता था कि जर्मन सेनाएँ पुनः आक्रमण करेंगी। फ्रांसीसियों का यह अविश्वास यूरोप में सुरक्षा तथा सन्तोष का वातावरण तैयार नहीं कर सकता था।

यह दोनों विचारधाराएँ इसलिए बतायी गयी हैं कि यह समझा जा सके कि 1919 ई. की सन्धि स्थापना से यूरोप में वह वातावरण पैदा हुआ जो शान्ति की

स्थापना प्रयत्न उसे प्रदर्शित करने में असफल हो गये । कुछ प्रेक्षकों को तो यह स्पष्ट ही अनुमान था कि 1919 ई. की सन्धि केवल बीस वर्ष का युद्ध विराम है और यह बात सही सिद्ध हुई । इतना होते हुए भी 1939 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने के लिए कुछ तत्व उत्तरदायी कहे जा सकते हैं ।

मौलिक कारण

1. **वार्साय सन्धि**—जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के लिए जर्मनी द्वारा स्थापित फ्रैंकफर्ट सन्धि को दोषी ठहराया जाता है उसी प्रकार वार्साय सन्धि को द्वितीय विश्व युद्ध के लिए दोषी ठहराया जाता है । यह कहना भी ठीक होगा कि वार्साय सन्धि बड़ी अधिक तीव्र प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करा सकी । जर्मनी को पेरिस सम्मेलन में न बुलाकर और अपमानित अपराधियों की भाँति उससे सन्धि पर हस्ताक्षर करवाकर मित्र राष्ट्रों ने इस बात की पक्की गारन्टी कर ली थी कि जर्मनी अवसर मिलने पर इसका विरोध करे ।

वार्साय सन्धि का इतना ही दोष नहीं था कि उसने जर्मनी को अपमानित करके सन्धि स्वीकार की थी । इससे भी अधिक भयानक स्थिति यह थी कि इस सन्धि द्वारा कई एल्सेस लारेन स्थापित कर दिये गये थे । जैसे प्रथम विश्वयुद्ध के लिए हम एल्सेस लारेन का जर्मनी द्वारा छीना जाना एक मुख्य कारण मानते हैं उसी प्रकार डेंजिग, सुडेटनलैण्ड, पोलिश गलियारा आदि विभिन्न ऐसे केन्द्र स्थापित कर दिये गये थे जो एक युद्ध के आरम्भ का कारण बना सकते थे । इन दोनों दृष्टिकोणों से वार्साय सन्धि को बहुत अंशों में द्वितीय विश्व युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण मानते हैं ।

2. **राष्ट्रसंघ की खामियाँ**—राष्ट्रसंघ की स्थापना से यह आशा की जाती थी कि विभिन्न राष्ट्र अपने झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल कर सकेंगे, लेकिन यह आशा भी साकार नहीं हो सकी । कुछ तो इसलिए कि यह संघ वार्साय सन्धि के साथ जुड़ा हुआ था तथा उस व्यवस्था को स्थापित रखना चाहता था । इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ व्यावहारिक रूप में कुछ सरकारों का संघ हो गया तथा इसके सदस्य देश इसकी नीतियों को न मानने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे । राष्ट्रसंघ की असफलता का एक कारण यह भी था कि यह उन सुविधाओं को उपलब्ध कराने में असमर्थ रहा तथा उन कार्यों को पूरा करने में असफल रहा जो इसे सौंपे गये थे तथा जो शान्ति बनाये रखने में सहायक हो सकते थे, जैसे निरस्त्रीकरण की समस्या, क्षतिपूर्ति का हल खोजना और बड़े राष्ट्रों की महत्वाकांक्षा को रोकना । ये समस्याएँ ही विश्व शान्ति के लिए हानिकारक सिद्ध हुईं ।

3. **यूरोप के दो दल**—1914 ई. के पूर्व की भाँति 1939 ई. से पूर्व भी यूरोप दो दलों में विभक्त हो गया था यद्यपि उनका रूप तथा आकार भिन्न था । अब राजनीतिक गुटों के स्थान पर धनी तथा निर्धन राष्ट्रों के दो पृथक-पृथक समुदाय से दिखायी पड़ते थे । एक ओर थे इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस तथा संयुक्त राज्य अमरीका, जिनके साधन प्रायः असीमित थे । इन चारों राज्यों में आपस में कुछ मतभेद आदि हो सकते

थे, लेकिन अन्य यूरोपीय राज्यों अथवा विश्व के अन्य राज्यों की अपेक्षा ये देश कहीं अधिक धनी थे। इनके विपरीत जर्मनी (जिसका समस्त साम्राज्य छिन चुका था), इटली और जापान थे। जर्मनी के प्रत्येक व्यक्ति के पास 0.005 वर्ग किलोमीटर भूमि थी जबकि इंगलैण्ड के प्रत्येक निवासी के पास प्रायः 5.00 वर्ग किलोमीटर भूमि उपलब्ध थी जिसके साधनों तथा उपज से वह लाभ उठाता था। जर्मनी, इटली और जापान के दृष्टिकोण से कई दोष थे लेकिन अपने देश में तथा विश्व में वे ये प्रचार ही कर सकते थे कि उनके साथ अन्याय हो रहा था।

4. *बीसवीं शताब्दी के औद्योगिक परिवर्तन*—*18वीं तथा 19वीं शताब्दी के* औद्योगिक परिवर्तनों की अपेक्षा 20वीं शताब्दी के औद्योगिक परिवर्तनों के अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम हुए। इस दूसरी औद्योगिक क्रान्ति में बड़े पैमाने पर उत्पादन हुआ। उद्योगों का स्वतः चालित होना आरम्भ हुआ तथा पूंजीवाद के विकास में और अधिक सहयोग मिला। पूंजीपति अब इतने बड़े पूंजीपति होने लगे कि प्रायः सभी औद्योगिक देशों में दो या तीन व्यक्ति किसी एक समूचे उद्योग पर नियन्त्रण स्थापित किये हुए थे। इनसे विस्तृत पैमाने पर कच्चे माल की आवश्यकता होने लगी तथा सुरक्षित बाजारों की व्यवस्था आवश्यक हुई और मुक्त व्यापार के स्थान पर अब प्रत्येक देश ने आयात और निर्यात पर नियन्त्रण रखना आरम्भ किया। इससे आपसी मनमुटाव बढ़ने लगा तथा देशों में तनावपूर्ण स्थिति पैदा होती रही।

5. **विश्व मन्दी का प्रभाव**—*आर्थिक दृष्टि से 1929-31 ई. की विश्व-व्यापी मन्दी द्वितीय विश्व युद्ध को पैदा करने में सबसे अधिक सहायक हुई।* बेकारी, व्यापार तथा वाणिज्य की समस्याओं को सुलझाने में प्रत्येक राष्ट्र ने आर्थिक राष्ट्रीयता को अपनाया। *इससे उग्र राष्ट्रीयता की भावना को अधिक बल मिला।* इसने शस्त्रीकरण में सहायता मिली। अधिकांश स्थानों पर शस्त्रीकरण बेकारी तथा व्यापार की शिथिलता को हल करने का एक उपाय मात्र था। दूसरी ओर मन्दी से पड़ोसी देशों पर अधिकार करके आर्थिक संकट को दूर करने की भावना पैदा हुई। जापान के मचूरिया पर आक्रमण का एक मुख्य कारण बना और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि इस मन्दी के अभाव में जर्मनी में नात्सीवाद का विकास नहीं हो सकता था।

6. **उग्र राष्ट्रीयता तथा सत्तार्थक राजनीति**—आधुनिक युग में राजनीति *सत्तार्थक हो गयी है। शक्तिपूर्ण स्थिति प्राप्त करना तथा अन्य देशों की अपेक्षा* महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना ही देशों की नीति का मुख्य लक्ष्य माना गया है। इगलैण्ड ने अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाया था। यह लक्ष्य अपने में विभिन्न देशों के भेदभाव को स्पष्ट करने में पर्याप्त है। अन्य सब कारण गौण हैं। 17वीं शताब्दी में फ्रांस और आस्ट्रिया में संघर्ष हुआ। 18वीं शताब्दी में इगलैण्ड और फ्रांस में संघर्ष हुआ और 19वीं शताब्दी के आरम्भ में इगलैण्ड प्रमुख राज्य के रूप में विकसित हुआ। 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जर्मनी ने इगलैण्ड की इस स्थिति के लिए एक खतरा पैदा कर दिया और 20वीं

[illegible] जर्मनी के साथ हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भी राज-नीति प्रमुख स्थान प्राप्त करने के लिए स्पर्धा कर रही है।

अन्य कारण

1. तुष्टीकरण की नीति—इंग्लैण्ड की तुष्टीकरण की नीति युद्ध आरम्भ कराने में बहुत सहायक हुई। इस नीति का उद्देश्य जर्मनी की उचित माँगों को पूरा करना कम था और यूरोप में साम्यवादी रूस के प्रभाव को रोकना अधिक था। इंग्लैण्ड की नीति का संचालन कुछ पूँजीपतियों तथा प्रतिक्रियावादियों के हाथ में था। साम्यवादी देश के विरुद्ध हिटलर था, यह तो उसने 'मीन कैम्फ' में पहले ही लिख दिया था। इससे इंग्लैण्ड को यह विश्वास था कि जर्मनी रूस विरोधी नीति अपनाकर रूस से संघर्ष में उलझ जायेगा और इंग्लैण्ड शान्तिपूर्वक अपने विश्वव्यापी व्यापार को सुरक्षित रख सकेगा। इसीलिए स्पेन के गृह-युद्ध में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस ने प्रजातन्त्री तथा साम्यवादी तत्त्वों का समर्थन नहीं किया था। इस तुष्टीकरण की नीति का एक परिणाम और भी निकला। इससे हिटलर तथा मुसोलिनी की उग्र राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिला तथा उन्हें यह विश्वास हुआ कि यूरोप के अधिकांश देश संघर्ष के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। चेम्बरलेन (इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री) तो पोलैण्ड की समस्या पर भी तुष्टीकरण की नीति के लिए तैयार था लेकिन हिटलर ने ही उसकी बात नहीं मानी व चेम्बरलेन ने भले ही यह दिखाना चाहा हो कि प्रजातन्त्रीय देशों ने वह सब कुछ किया जो शान्ति स्थापित रखने के लिए आवश्यक था लेकिन वास्तव में यह नीति गलत थी और इसके दुष्परिणाम समस्त यूरोप तथा विश्व को भुगतने पड़े।

2. समझौतों का उल्लंघन—वार्साय सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले तथा राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों ने इस बात का आश्वासन दिया था कि वे अन्य सदस्य देशों की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखेंगे तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा करेंगे। लेकिन जापान और इटली के जो विजेता थे उन्होंने सबसे पहले इनका उल्लंघन आरम्भ किया। म्यूनिख समझौते के बाद इंग्लैण्ड और फ्रांस ने चेकोस्लोवेकिया की सीमाओं की सुरक्षा की गारन्टी दी थी लेकिन मार्च 1939 ई. में हिटलर के चेकोस्लोवेकिया निगल जाने तक चूं तक नहीं की। इसके अतिरिक्त जिन देशों ने दूसरों पर आक्रमण किया उनको कोई दण्ड नहीं मिला। जापान मंचूरिया निगल गया इटली एबीसीनिया को हड़प गया, हिटलर ने चेकोस्लोवेकिया अपहरण कर लिया तथा आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया, लेकिन किसी का प्रभावशाली विरोध न हुआ।

3. रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी—जैसा कि पहले पढ़ चुके हो, अक्टूबर 1936 ई. में रोम-बर्लिन धुरी स्थापित हुई। इसका लक्ष्य स्पेन में हो रहे गृह-युद्ध में साम्यवादी तथा प्रजातन्त्रवादी तत्त्वों का विरोध था। इसके अतिरिक्त मुसोलिनी तथा हिटलर ने एक-दूसरे के निकट आना अधिक उचित समझा। इटली की इंगलैण्ड तथा फ्रांस से मैत्री थी, तथा उसे उनसे कुछ आशाएँ भी थीं। लेकिन एबीसीनिया के प्रश्न पर उसे उनसे शिकायत थी। उधर जापान भी मंचूरिया पर अधिकार कर चुका था तथा चीन

तट पर स्थित छोटे राज्यों के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की और दोनों देशों ने पोलैण्ड को प्रभाव क्षेत्रों में बाँट लिया। इस समझौते से रूस ने अपने ऊपर आक्रमण को स्थगित करवा दिया तथा हिटलर को भी पूर्वी मोर्चे पर सुरक्षा प्राप्त हो गयी।

इस समझौते के दो दिन बाद खुले रूप में इसकी घोषणा कर दी गयी। इससे इगलैण्ड तथा फ्रांस को भारी धक्का लगा क्योंकि रूस तथा नात्सी जर्मनी दोनों एक-दूसरे का भरपूर विरोध कर रहे थे। जर्मनी ने अब पोलैण्ड की समस्या को हल करने का निश्चय किया। हिटलर ने 24 अगस्त, 1939 ई. को डेंजिग के प्रशासन का उत्तरदायित्व स्थानीय नात्सी दल को देने के लिए कहा। इसी प्रकार हिटलर ने पश्चिमी राष्ट्रों से डेंजिग तथा पोलैण्ड के गलियारे की समस्या को हल करने के लिए कहा। 29 अगस्त को जर्मनी ने इगलैण्ड से अनुरोध किया कि पोलैण्ड का एक अधिकारी समझौता करने के लिए बर्लिन भेज दिया जाय जिसे पूरे अधिकार प्राप्त हों।

31 अगस्त को जर्मनी ने 16 सूत्रीय माँगों को रेडियो से प्रसारित कर दिया। पोलैण्ड के राजदूत ने जब अपने देश में सम्पर्क स्थापित करना चाहा तो उसे पता चला कि जर्मन सरकार ने उसकी संचार व्यवस्था काट दी थी और नात्सी सरकार ने 1 सितम्बर, 1939 ई. को प्रात 5 बजे पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया क्योंकि पोलैण्ड सरकार ने उस चेतावनी का कोई जवाब नहीं दिया था जो 'उसे कभी दी ही नहीं गयी थी'। हिटलर ने पूर्ण रूप से किसी भी समझौते को असम्भव कर दिया था।

1 सितम्बर, 1939 ई. को बिना युद्ध-घोषणा किये हुए हिटलर ने पोलैण्ड पर बमबारी आरम्भ कर दी। इगलैण्ड ने जर्मनी को चेतावनी दी कि वह अधिकृत क्षेत्र से अपनी सेनाएँ हटा ले। हिटलर के ऐसा न करने पर 3 सितम्बर को इगलैण्ड ने युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार 25 वर्ष 1 महीने बाद द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया।

प्रथम विश्व युद्ध से तुलना—सितम्बर 1939 ई. में जो युद्ध आरम्भ हुआ वह शुरू से ही द्वितीय विश्व युद्ध समझा गया तथा कुछ विद्वानों ने 1919-39 ई. के काल को 20 वर्षीय युद्ध विराम अथवा 1914-45 ई. के काल को तीस वर्षीय युद्ध के नाम से सम्बोधित किया। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में इतनी अधिक समानता थी कि सहज ही यह कहा जा सकता था कि मानो प्रथम विश्व युद्ध ही दूसरी बार शुरू किया गया हो। दोनों विश्व युद्ध पूर्वी यूरोप में आरम्भ हुए। दोनों ही छोटे राज्यों को सुरक्षित रखने के लिए आरम्भ हुए। दोनों युद्धों में दोनों दल प्राय: समान थे। पहले युद्ध में भी जर्मनी आस्ट्रिया एक साथ थे और इगलैण्ड फ्रांस इनके विरोधी थे। दोनों युद्ध समय व्यतीत होने के साथ-साथ अधिक व्यापक होते गये।

लेकिन इतना होते हुए भी दोनों में असमानताएँ भी काफी थीं। दूसरा विश्व युद्ध पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा सच्चे अर्थों में विश्व युद्ध था। यह प्रशान्त तथा अटलांटिक महासागरों में काफी समय तक चलता रहा। युद्ध एशिया, अफ्रीका में भी व्यापक हुआ। दोनों युद्धों का क्या अन्तिम परिणाम होगा इसकी कल्पना भी आरम्भ होते समय नहीं की जा सकती थी। पहले विश्व युद्ध की और-

जर्मनी की हवाई सेना पर भारी आघात किया। 15 सितम्बर, 1940 ई. को एक ही दिन में जर्मनी के 56 हवाई जहाज मार गिराये गये। 17 सितम्बर को यह हवाई आक्रमण बन्द कर देना पड़ा।

अफ्रीका, भूमध्यसागर तथा अटलांटिक में युद्ध—इटली की सेनाएँ यद्यपि हिटलर के साथ थीं लेकिन युद्ध में अभी तक कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सके थे। फ्रांस के विरुद्ध अवश्य कुछ सफलता मिली थी लेकिन वह भी उस समय जब जर्मनी फ्रांस की शक्ति प्राय समाप्त कर चुका था। अफ्रीका में इटली की सेनाओं ने सितम्बर 1940 ई में मिस्र पर आक्रमण किया लेकिन शीघ्र ही उसे भारी असफलता का सामना करना पड़ा। अक्टूबर 1940 ई में इटली ने ग्रीस पर आक्रमण किया लेकिन वहाँ भी उसे असफलता मिली। जर्मनी के सहयोग के पश्चात् ही इटली को कुछ सफलता मिल सकी लेकिन फरवरी 1941 ई तक इटली का समस्त अफ्रीकी साम्राज्य उसके हाथ से निकल चुका था।

इसी समय (सितम्बर 1940 से मार्च 1941 तक) अमरीका ने मित्र राष्ट्रो को सहायता देना आरम्भ कर दिया और इंगलैण्ड को सैनिक सामान उधार मिलता रहा।

रूस पर आक्रमण—1941 ई के मध्य तक जर्मनी की स्थिति पूर्वी भूमध्यसागर तथा बल्कान प्रायद्वीप में दृढ़ हो चुकी थी इसलिए वह अब रूस पर आक्रमण करने के लिए मुक्त था। 22 जून, 1941 ई. को बिना पूर्व सूचना के हिटलर ने रूस पर आक्रमण कर दिया। हिटलर का वर्षगांठों पर एक प्रकार का अन्धविश्वास था। उसके अधिकाश कार्य किसी न किसी घटना की बरसी पर ही होते थे। जर्मनी के आक्रमण तीव्र गति से हुए। इस बार भी रूस की नीति नेपोलियन बोनापार्ट के आक्रमण के समय की-सी थी—सब कुछ नष्ट करते हुए पीछे हटना, जिससे शत्रु की सेना को रसद मिलना मुश्किल हो जाय। 8 दिसम्बर, 1941 ई. तक हिटलर रूस में 1000 किलोमीटर तक बढ़ चुका था। लेकिन जाड़े ने फिर रूस की रक्षा की। एक दिन पूर्व (7 दिसम्बर, 1941 ई) जापान की हवाई सेना ने पर्ल हार्बर के टापू पर सयुक्त राज्य अमरीका के लड़ाकू जहाजों पर बमबारी करके भारी क्षति पहुँचायी। युद्ध का अब विस्तार बहुत अधिक हो चुका था। इस प्रकार यूरोपीय युद्ध एक विश्व युद्ध बन गया।

विश्व युद्ध 1941–45 ई. तक

इस समय युद्ध के तीन प्रमुख केन्द्र रहे :

1. अटलांटिक तथा भूमध्य सागर
2. पूर्वी यूरोपीय सीमा
3. प्रशान्त महासागर

इन तीनों मोर्चों पर युद्ध की घटनाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित होती थीं लेकिन फिर भी उनका अलग-अलग वर्णन उचित होगा।

1. अटलाण्टिक तथा भूमध्य सागर (1941-45 ई.)—अगस्त 1941 ई. में इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री चर्चिल और सयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट की

भेंट अटलांटिक महासागर में एक जहाज पर हुई और यहाँ दोनों देशों ने आपसी समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसे 'अटलांटिक चार्टर' कहते हैं। 1942 ई. के आरम्भ में जर्मन सेनाध्यक्ष रोमेल ने उत्तरी अफ्रीका में भारी सफलता प्राप्त की और अंग्रेजों की आठवीं सेना को हरा दिया लेकिन अक्टूबर 1942 ई. में एल एलामीन की लड़ाई में जर्मन सेनाओं को बुरी तरह पराजित कर दिया गया। नवम्बर 1942 ई. में इंगलैण्ड और अमरीका की सेनाएँ मोरक्को तथा अल्जीरिया में पहुँच गयीं। इससे धुरी राष्ट्रों को बड़ा आश्चर्य हुआ और भूमध्य सागर की ओर उन्हें ध्यान देना पड़ा।
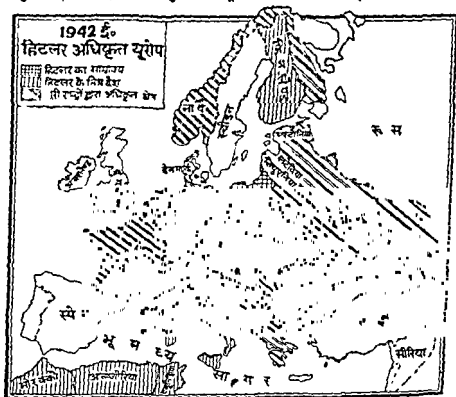
जर्मनी ने ट्यूनिशिया में डेढ़ लाख से अधिक सेनाएँ भेजी जिन्हें दो ओर से आक्रमण सहना पड़ा। मार्च-अप्रैल 1932 ई. तक जर्मन सेनाएँ पूरी तरह नष्ट हो चुकी थीं।

अब जर्मनी पर दो ओर से आक्रमण हो सकता था—इटली पर आक्रमण कर अथवा फ्रांस में दूसरा मोर्चा खोलकर। जर्मनी अपने को अत्यन्त सुरक्षित अनुभव करता था। लेकिन मित्र राष्ट्रों की हवाई सेना की श्रेष्ठता निस्सन्देह जर्मनी की इस सुरक्षा की भावना को समाप्त करने में सहायक हुई। 1943 ई. में जर्मनी पर हवाई हमले बहुत तेज कर दिये गये। इस आक्रमण का जर्मनी के पास कोई उत्तर नहीं था। जुलाई 1943 ई. में इटली पर आक्रमण कर दिये गये। 25 जुलाई, 1943 ई..

ई. को मुसोलिनी को हटा दिया गया। सितम्बर के आरम्भ में इटली ने मित्र राष्ट्रों के प्रति समर्पण कर दिया और जून 1944 ई. में रोम ने समर्पण कर दिया। यह विलम्ब इसलिए हुआ कि इटली में अधिकांश सेनाएँ जर्मनी की थीं। जून-जुलाई 1944 ई में फ्रांस में अमरीकी तथा अंग्रेजी सेनाएँ उतारी गयीं। जर्मनी उनका मुकाबला नहीं कर सका। 1945 ई का आरम्भ होते-होते यह स्पष्ट दिखायी देने लगा था कि जर्मनी की हार निश्चित है। उधर पूर्वी मोर्चे पर रूस तेजी से आगे बढ़ रहा था। चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन की क्रीमिया प्रदेश में याल्टा के स्थान पर फरवरी 1945 ई में एक बैठक हुई। 28 अप्रैल, 1945 ई को मुसोलिनी को

चर्चिल

इटली के किसी नागरिक ने मार दिया। 30 अप्रैल को हिटलर ने पैट्रोल छिड़ककर आत्महत्या कर ली क्योंकि अब वह मित्र राष्ट्रों की बढ़ती हुई सेनाओं का विरोध नहीं कर सकता था। 7 मई, 1945 ई को जर्मनी ने समर्पण कर दिया।

2 **पूर्वी मोर्चा (1941-45 ई)**—दिसम्बर 1941 ई. तक हिटलर रूस में सबसे आगे बढ़ चुका था। हिटलर ने अपनी अधिक सेनाएँ रूस के विरुद्ध भेजी थीं। 1942 ई की गर्मियों में हिटलर की सेनाएँ दक्षिणी रूस में और आगे बढ़ सकीं। जुलाई में सेवस्टापूल जीत लिया गया और सितम्बर में स्टालिनग्राड की लड़ाई आरम्भ हुई। जर्मनी ने तीन लाख से अधिक सेना स्टालिनग्राड के घेरे में लगा दी। हिटलर ने जाड़ों में भी लड़ाई जारी रखी, परिणामस्वरूप जर्मनी की समस्त सेना समाप्त हो गई। 1943 ई के आरम्भ में ही उत्तरी अफ्रीका तथा इंगलैण्ड में जर्मनी की पराजय आरम्भ हो गयी थी। इसका जर्मनी पर नैतिक प्रभाव बड़ा हानिकारक हुआ। 1943 ई में रूस ने जर्मन सेनाओं को पीछे हटाना तथा रूसी भूमि को स्वतन्त्र कराना आरम्भ किया। जुलाई 1943 ई में वे पूर्वी प्रशा तक बढ़ आये थे और 1944 ई के आरम्भ में पोलैण्ड, रूमानिया, यूगोस्लाविया आदि देश रूस के प्रभाव में आ चुके थे। हिटलर के पास मानव शक्ति कम हो रही थी। जर्मनी का औद्योगिक उत्पादन बहुत कम हो गया था। अप्रैल 1945 ई. में वियना तक रूसी फौज बढ़ आयी थी और इस प्रकार जर्मनी के समर्पण से पहले पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, रूमानिया, बल्गारिया, यूगोस्लाविया, आस्ट्रिया पर रूस की सेनाओं का अधिकार हो गया था। रूसी जनरल जूकोव पूर्वी बर्लिन तक पहुँच गया। युद्ध पश्चात् कोई भी समझौता हो, वह इन दो तथ्यों से प्रभावित होना निश्चित था—पहला, जर्मन की नवीन स्थिति और दूसरा, रूस तथा पश्चिमी राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध।

3. प्रशान्त महासागर में युद्ध (1942-45 ई.)—यूरोपीय दृष्टि से प्रशान्त महासागर का युद्ध उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना संयुक्त राज्य अमरीका तथा अंग्रेजी साम्राज्य की दृष्टि से था। पूर्वी क्षेत्र मे जापान की बढती हुई शक्ति इन दोनो के लिए हानिकारक थी। आरम्भ मे जापान अत्यधिक सफल हुआ था। मई 1942 ई. तक मलाया प्रायद्वीप, सिंगापुर, वर्मा आदि पर जापान का नियन्त्रण हो गया था। समस्त पूर्वी द्वीपसमूह जापान के अधिकार मे आ गया था। जापान की शक्ति को रोकना बहुत कठिन दिखायी पडता था। इसी समय इगलैंण्ड ने भारत में सर स्ट्रेफर्ड क्रिप्स को भेजा था ताकि भारत का पूर्ण सहयोग जापान के विरुद्ध लड़ाई में प्राप्त कर लिया जाय।

लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका की सफलता मई 1942 ई. मे आरम्भ हो गयी। प्रशान्त महासागर के युद्ध का यूरोपीय युद्ध प्रयत्नों पर यह प्रभाव पड़ा कि 1943 ई. मे भी यूरोप में आक्रमणात्मक नीति नही अपनायी जा सकी और यह कार्य 1944 ई. तक रोकना पडा। 1943 ई. के अन्त तक आस्ट्रेलिया की सुरक्षा का प्रबन्ध हो चुका था। अक्टूबर 1944 मे फिलीपाइन द्वीप पर आक्रमण कर दिया गया और जुलाई 1945 ई. तक समस्त द्वीप पर अधिकार कर लिया गया। मई 1945 ई. में जर्मनी के समर्पण से समस्त ध्यान पूर्वी क्षेत्र पर लगाया जा सका। इस समय तक रगून पर पुन. अंग्रेजो ने अधिकार कर लिया था। जापान के साथ सघर्ष कुछ अधिक समय तक चलता लेकिन 6 अगस्त को हिरोशिमा नगर पर और 9 अगस्त को नागासाकी के समुद्री अड्डे पर अणुवम गिराये गये। इतने भयानक बम इससे पहले कभी नही गिराये गये थे। इनका परिणाम यह हुआ कि 14 अगस्त को जापान ने समर्पण कर दिया और 2 सितम्बर, 1945 ई. को मिसूरी जहाज पर जापानी प्रतिनिधियो ने इस समर्पण पर हस्ताक्षर कर दिये।

द्वितीय विश्व युद्ध में जनसंख्या की हानि

देश	मृतकों और खोये व्यक्तियों की अनुमानित संख्या	मृतको और खोये हुए व्यक्तियो का उस देश की कुल जनसंख्या में अनुपात
रूस	75,00,000	प्रति 22 व्यक्तियो मे से 1
सयुक्त राज्य अमरीका	2,95,000	,, 500 ,, ,, 1
इगलैण्ड	3,05,000	,, 150 ,, ,, 1
इंगलैण्ड के आधीन राज्य	4,53,000	,, 1,250 ,, ,, 1
फ्रास	2,00,000	,, 200 ,, ,, 1
चीन	22,00,000	,, 200 ,, ,, 1
जर्मनी	28,50,000	,, 25 ,, ,, 1
इटली	3,00,000	,, 150 ,, ,, 1
जापान	15,06,000	,, 26 ,, ,, 1
कुल सख्या	1,56,09,000	

द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम

1945 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो गया। यह युद्ध अपने परिणामों की दृष्टि से पहले युद्ध से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसके कुछ विशेष उल्लेखनीय परिणाम निम्नलिखित थे :

(1) **महाशक्तियों का उदय**—1939 ई तक विश्व राजनीति में कई बड़ी शक्तियाँ थी लेकिन अणुबमो के आविष्कार से महाशक्तियो का विकास हुआ। यह महाशक्तियाँ रूस और संयुक्त राज्य अमरीका हैं। अणुबम की विनाश क्षमता को देखते हुए तथा इसकी लागत को देखते हुए अणुबमों का प्रयोग प्रत्येक राज्य के साधनो के बाहर था। 1939 ई तक इंगलैण्ड का साम्राज्य एशिया और अफ्रीकी महाद्वीपो मे फैला हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इसका विघटन आरम्भ हुआ और इंगलैण्ड के पतन मे रूस और अमरीका के विकास में सहायता मिली।

(2) **एशिया और अफ्रीका का विकास**—द्वितीय विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम एशिया तथा अफ्रीका देशो का विकास रहा है। 1947 ई. मे भारत की स्वतंत्रता, 1949 ई. में साम्यवादी दल का चीन पर नियन्त्रण इस नये परिवर्तन के द्योतक थे। यह सही है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में पाच स्थायी देशों में से चार पश्चिमी देशों के हैं लेकिन राष्ट्र सभा मे अब इन देशो का प्रभाव स्पष्ट है। जिस प्रकार 20वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे पूर्वी यूरोप शक्ति सन्तुलन और यूरोपीय देशों का संघर्ष केन्द्र रहा था उसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व की राजनीति का गुरुत्व केन्द्र एशिया तथा अफ्रीका बन गये। पिछले 25 वर्षों की राजनीतिक घटनाए इस बात का प्रमाण हैं कि विश्व की विभिन्न शक्तियो का ध्यान प्रशान्त महासागर, पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया पर केन्द्रित रहा है।

(3) **शीत युद्ध**—1945 ई के पश्चात् दोनों महाशक्तियो का दृष्टिकोण भिन्न था। दोनो देश भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते थे। पूंजीवादी अमरीका को साम्यवादी रूस से भय था और रूस को पूंजीवादी विचारों से। इसलिए दोनों राष्ट्रो को एक दूसरे पर सन्देह बना रहा। इनमें से कोई भी शक्ति दूसरी को नष्ट करने की स्थिति में नही थी इसलिए तनाव अधिकाधिक बढ़ता रहा। अणुबम के आविष्कार के पश्चात् युद्ध अत्यन्त विनाशकारी हो सकता था। इसलिए दोनो महाशक्तियों में परस्पर युद्ध की सम्भावना भी कम थी। इस तनावपूर्ण वातावरण को शीत युद्ध का वातावरण कहा जाता है।

(4) **अमरीका की विदेश नीति मे परिवर्तन**—प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अमरीका विश्व राजनीति से अलग हट गया था लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमरीका विश्व राजनीति से अलग नही रह सका। वास्तव में अमरीका ही अकेला ऐसा देश था जहाँ युद्ध का प्रत्यक्ष विनाशकारी प्रभाव नहीं पड़ा था। जिस प्रकार की बमबारी इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस, जर्मनी, इटली आदि देशो पर हुई थी उस प्रकार का कोई प्रहार अमरीका पर नही हुआ था। इसलिए अमरीका के उद्योग 1945 ई.

समय रेखा

1938
म्यूनिख समझौता
1939
पोलैण्ड पर आक्रमण और विश्व युद्ध आरम्भ
1940
पश्चिमी मोर्चे पर युद्ध आरम्भ
नीदरलैण्ड्स, बेलजियम, फ्रांस पर जर्मनी का अधिकार
इंगलैण्ड पर बमबारी
मिस्र पर जर्मनी द्वारा आक्रमण
1941
रूस पर जर्मनी का आक्रमण
अटलांटिक चार्टर
1942
जापान का मलाया, सिंगापुर बर्मा आदि पर अधिकार
1943
जर्मनी तथा इटली पर हवाई आक्रमण
रूस में जर्मनी की सेनाओं का पीछे हटना
1944
रूस का पोलैण्ड, रूमानिया पर अधिकार
1945
मुसोलिनी की हत्या तथा हिटलर द्वारा आत्महत्या
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 1/3 वर्ष
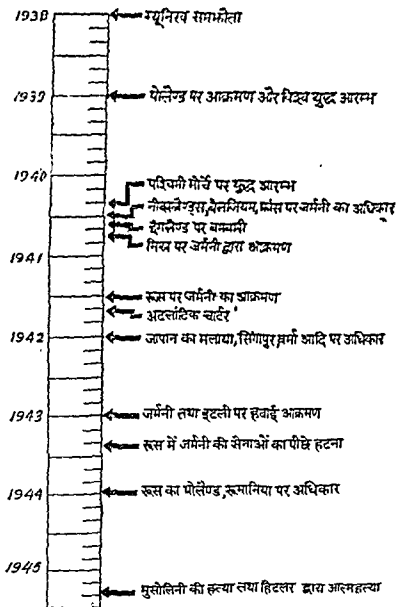
के पश्चात् अमरीका वस्तुओं के उत्पादन में लग गये। इन उद्योगों के विकास के लिए अमरीका के लिए यूरोप के देशों की आर्थिक स्थिति को सुधारना आवश्यक हुआ तथा इस प्रकार अमरीका यूरोप की राजनीति में उलझ गया और यूरोप के राज्यों से घटते हुए प्रभाव की कमी को पूरा करने का प्रयत्न करने लगा। इसलिए अफ्रीका और एशिया में अमरीका की नीति का लक्ष्य साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना था।

(5) **अधिनायकवाद का अन्त**—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जर्मनी, इटली, स्पेन में तानाशाहों का उत्थान हुआ। हिटलर ने जर्मनी में, मुसोलिनी ने इटली में और जनरल फ्रैंको ने स्पेन में निरंकुश शासन की स्थापना की। 1933 ई. के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता था कि यूरोप में प्रजातन्त्रीय प्रणाली भारी खतरे में थी। प्रत्येक स्थान पर तानाशाहों की सफलता होती दिखाई दी। इस सफलता की पराकाष्ठा 1938-39 ई. में थी। द्वितीय विश्व युद्ध में ये तीनों तानाशाह पराजित हो गये और इस प्रकार प्रजातन्त्र को अधिनायकवाद से उत्पन्न भय समाप्त हुआ और प्रजातन्त्रीय प्रणाली 1945 ई. के पश्चात् एशिया व अफ्रीका के देशों में विकसित हुई।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों में सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए

1. वार्साय सन्धि का सबसे बड़ा दोष था कि—
   (क) जर्मनी के टुकड़े कर दिये गये
   (ख) एल्सेस लॉरेन के प्रदेश जर्मनी से छीन लिये गये
   (ग) पेरिस सम्मेलन में जर्मनी को नहीं बुलाया गया और बाद में उसे हस्ताक्षर के लिए मजबूर किया गया
   (घ) जर्मनी में गणतन्त्र की स्थापना की गयी ( )
2. 'एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट' जर्मनी और जापान के मध्य इसलिए हुआ था कि मुख्य रूप से—
   (क) दोनों एक-दूसरे की सहायता करेंगे
   (ख) दोनों एक-दूसरे की विदेशी आक्रमण से रक्षा करेंगे
   (ग) दोनों एक-दूसरे को साम्यवाद फैलाने वाली संस्था के बारे में सूचना देंगे
   (घ) दोनों मिलकर साम्राज्यवादी नीति अपनायेंगे ( )
3. जापान के आत्म-समर्पण का कारण था—
   (क) जर्मनी ने हथियार डाल दिये थे
   (ख) जापान अकेला रह गया था
   (ग) अमरीका युद्ध में शामिल हो गया था
   (घ) जापान के दो नगरों पर अणुबम गिराये गये थे। ( )

16

शान्ति स्थापना तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ

द्वितीय विश्वयुद्ध प्रथम विश्वयुद्ध की अपेक्षा अधिक लम्बे समय तक चला तथा अधिक हानिकारक हुआ। परिणाम तथा प्रभाव की दृष्टि से यह युद्ध एशिया तथा अफ्रीका के एक नये युग की शुरूआत के लिए उत्तरदायी हुआ। यूरोप में भी इसके परिणाम बहुत दूरगामी हुए। युद्ध की आवश्यकताओं से अणुबमों का आविष्कार हुआ तथा वैज्ञानिक प्रगति में आधारभूत परिवर्तन हुए। शान्ति स्थापना का कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण था क्योंकि प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् वार्साय सन्धि ही दूसरे विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी हुई थी।

शान्ति सुधार के आधार : चार स्वतन्त्रताएँ—इस विश्व युद्ध के समय में ही उन आधारों की व्याख्या कर दी गयी थी जिन पर भविष्य में शान्ति स्थापना की गयी थी। संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जनवरी 1941 ई. में चार स्वतन्त्रताओं की व्याख्या की थी। ये स्वतन्त्रताएँ थी (1) विचार तथा भाषण की स्वतन्त्रता, (2) धार्मिक स्वतन्त्रता, (3) अभाव से मुक्ति, तथा (4) भय से मुक्ति। इस समय अमरीका ने युद्ध में भाग नहीं लिया था तथा वह तटस्थ देश की स्थिति में था।

अटलांटिक चार्टर

14 अगस्त, 1941 ई. को रूजवेल्ट तथा चर्चिल ने भविष्य के लिए कुछ मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये जो इस प्रकार से थे.

1. युद्ध से किसी देश को आर्थिक लाभ नहीं होना चाहिए।
2. राजनीतिक परिवर्तन ऐसे होने चाहिए जो वहाँ के निवासियों की इच्छा के अनुकूल हो।
3. उन लोगों को जिनकी स्वतन्त्रता छीन ली गयी थी उन्हें स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त होनी चाहिए तथा प्रत्येक देश की सरकार वहाँ के निवासियों की इच्छा के अनुकूल होनी चाहिए।
4. शान्ति के पश्चात् सब राष्ट्रों को आक्रमण से सुरक्षा उपलब्ध होनी चाहिए और उनके नागरिकों को भय तथा भूख से मुक्ति होनी चाहिए।
5. सामान्य सुरक्षा के लिए किसी एक संगठन की स्थापना होनी चाहिए।

6 सब राष्ट्रों को विभिन्न देशों से कच्चे माल प्राप्त करने तथा उनके बाजारों में सामान बेचने का समान रूप से अवसर उपलब्ध होना चाहिए।

इस समय भी संयुक्त राज्य अमरीका तटस्थ था। यह चार्टर सैद्धान्तिक रूप से पश्चिमी देशों के पक्ष को न्यायोचित बताने का प्रयास था। 1943 ई. के मित्र राष्ट्रों के कई सम्मेलनों ने यह स्पष्ट किया कि धुरी राष्ट्रों को पूर्ण समर्पण करना पड़ेगा तथा बलकान प्रायद्वीप में रूस का प्रभार क्षेत्र काफी विस्तृत स्वीकार कर लिया गया।

याल्टा सम्मेलन—फरवरी 1945 ई. में क्रीमिया प्रदेश में याल्टा स्थान पर रूजवेल्ट स्टालिन तथा चर्चिल ने जर्मनी के भविष्य के सम्बन्ध में योजनाएँ बनायीं तथा जर्मनी को विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया। इस सम्मेलन में बलकान प्रायद्वीप के विभिन्न देशों की राजनीतिक सीमाओं पर विचार किया गया लेकिन कोई निर्णय न लिया जा सका। पूर्वी क्षेत्र के सम्बन्ध में अवश्य कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये। मंचूरिया में रूस के अधिकारों को स्वीकार कर लिया गया जो उसे 1904 ई. से पूर्व उपलब्ध थे। रूस को पोर्ट आर्थर का बन्दरगाह भी दे दिया गया। चीन की कुछ रेलवे लाइनें रूस को वापस लौटा दी गयीं।

पोट्सडम सम्मेलन (जुलाई-अगस्त 1945 ई.)—इस सम्मेलन में तीनों राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों ने एक कौंसिल स्थापित की जिसका काम शान्ति सन्धि स्थापना में विचार कार्य करना था। इस सम्मेलन में तय किया गया कि जर्मनी का अधिकांश पनडुब्बी बेड़ा नष्ट कर दिया जाय। केवल तीन पनडुब्बियों को तीनों राष्ट्रों में बराबर बाँट दिया जाय और इसी प्रकार जर्मनी का व्यापारिक बेड़ा भी बाँट दिया जाय।

शान्ति स्थापना—युद्ध के समय मित्र राष्ट्रों के विभिन्न सम्मेलनों से तथा प्रेस विज्ञप्तियों से ऐसा ज्ञात पड़ता था कि मित्र देशों में मतैक्य है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था। सन्धि स्थापना में तीन महान राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों बिर्न्स (अमरीका), अर्नेस्ट बेविन (इंगलैंड) तथा मोलोटोव (रूस) ने मुख्य भाग लिया। विभिन्न देशों के साथ सन्धि की फरवरी 1946 ई. [illegible] तैयार हो गयी थी परन्तु धुरी राष्ट्रों की सन्धि निर्माण के समय [illegible] किया गया था। [illegible] देशों की अपेक्षा रूसियों को सबसे अधिक लाभ हुई। [illegible] समाप्त हो गया। [illegible] [illegible] संयुक्त राष्ट्रसंघ के [illegible] कर दिया गया।

पूर्वी यूरोप के सम्बन्ध में यद्यपि रूस के हितों की [illegible] [illegible] [illegible]

शान्ति स्थापना और युद्ध के आरम्भ हो जाने के पश्चात् अत्यन्त जटिल हो गयी। जर्मनी को 1945 ई. में चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था तथा प्रत्येक पर सैनिक नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया था और प्रत्येक राष्ट्र भी अपने-अपने क्षेत्रों से क्षतिपूर्ति की धनराशि वसूल करती थी। 1946 ई. के अन्त तक तीनो पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने-अपने क्षेत्रों का एकीकरण करके पश्चिमी जर्मनी की स्थापना की। बर्लिन यद्यपि चार क्षेत्रों मे बँटा हुआ था लेकिन वह पूर्वी जर्मनी मे स्थित था। जून 1948 ई. में रूस ने बर्लिन की नाकाबन्दी घोषित कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि हवाई बेड़े से सब खाद्य-सामग्री बर्लिन पहुँचाई गयी। इससे रूस को यह स्पष्ट हो गया कि पश्चिमी राष्ट्रों की नीति रूस के प्रभाव को सीमित रखने की थी।

द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव

1 **दो सुपर शक्तियों का विकास**—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् पांच महान शक्तियाँ थीं। यद्यपि औपचारिक रूप से संयुक्त राष्ट्रसंघ में अब भी पांच महान राष्ट्रों की गिनती थी, लेकिन वास्तविक रूप में दो ही शक्तियां महान थीं—रूस तथा संयुक्त राज्य अमरीका। इगलैण्ड की महानता अब केवल संयुक्त राज्य अमरीका पर निर्भर थी और शेष दो देश—चीन तथा फ्रांस—नाममात्र के महान थे। राष्ट्रीय चीन जिसे महान राज्य का स्थान दिया गया था, 1950 ई. तक स्वयं में ही पतनोन्मुख था।

2 **शीत युद्ध का आरम्भ**—दूसरे विश्व युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव शीत युद्ध को पैदा करना था। वैसे तो विभिन्न देशों में इतने लम्बे समय तक युद्ध चलते रहने के कारण तनाव बाद में भी चलता रहता लेकिन 1945 ई. के पश्चात् यह तनावपूर्ण स्थिति कुछ अधिक भयकर थी और यह आशा की जाती थी कि शायद तीसरा विश्व युद्ध छिड़ जाये।

शीत युद्ध का अर्थ—पश्चिमी जगत दो गुटों में विभक्त था और ये दोनों गुट सदा ही सैनिक सचालकों की भाँति निरन्तर चालें चलते रहते थे तथा किसी न किसी लाभ की कल्पना रहती थी। दोनों गुटों में विरोध तथा वैमनस्य की भावना बनी रहती थी। दोनों गुटों के निश्चित उद्देश्य थे और तरह-तरह की कूटनीतिक चालों और प्रतिचालों में लगे रहते थे। इस प्रकार के तनाव किन्हीं स्थानों पर छोटे युद्धों में भी परिवर्तित हो जाते थे। 1946 ई. की शान्ति सन्धियों में 1919 ई. की अपेक्षा कहीं अधिक शत्रुता निहित थी। यूनान का गृहयुद्ध, कोरिया युद्ध आदि इसकी सैनिक अभिव्यक्ति थे।

शीत युद्ध के कारण—(1) पश्चिमी राष्ट्रों तथा रूस मे द्वितीय युद्ध से पहले भी तनावपूर्ण स्थिति थी, लेकिन युद्ध की आवश्यकताओं से प्रभावित होकर दोनों पक्ष मिलकर नात्सी शक्तियों को कम करना चाहते थे। नात्सियों के पतन के पश्चात् समस्या पहले जैसी ही पुनः हो गयी और सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ता गया। पश्चिमी राष्ट्र पूँजीवाद थे और वे साम्यवादी शक्ति कम करना चाहते थे।

(2) याल्टा सम्मेलन में रूस को प्रशान्त महासागर स्थित चीन के समुद्री

तट तथा मंचूरिया में बहुत-से अधिकार प्रदान कर दिये गये। ऐसा इस आशा से किया गया था कि पूर्वी यूरोप में रूस अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की अपेक्षा अपना प्रभाव क्षेत्र अधिक न बढ़ा सके। वस्तुतः पश्चिमी देश रूस को पूर्वी क्षेत्र में उलझाना चाहते थे। रूस ने अपने सहयोग का अधिकतम मूल्य भी तो वसूल किया था।

वास्तव में जापान को पराजित करने में अणुबमों ने (जिनकी विनाशकारी शक्ति का सही अन्दाज नहीं था) अत्यधिक सहयोग दिया। इसलिए पश्चिमी राष्ट्रों को इस बात का बहुत खेद रहा कि रूस का समर्थन बहुत महँगा पड़ा। दूसरी ओर रूस अणुबमों के प्रयोग से भयभीत हो उठा और उसे अपनी सुरक्षा की अत्यधिक चिन्ता हुई और पूर्वी यूरोप में रूस अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने की चिन्ता में लगा रहा। दोनों ही पक्षों में एक-दूसरे के प्रति द्वेषभाव पनपने रहे।

3. शक्ति सन्तुलन में रिक्त स्थान—मध्य यूरोप में जर्मनी के पतन के पश्चात् यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया था कि मध्यपूर्वी यूरोप में उसका स्थान कौन ग्रहण करे। जर्मनी एक प्रकार से पश्चिम यूरोपीय राज्यों (इंगलैण्ड तथा फ्रांस) और रूस के मध्य शक्ति सन्तुलन बनाये हुए था। इसी प्रकार जापान की शक्ति कम हो जाने से सुदूरपूर्व में विशेषकर कोरिया, मंचूरिया तथा उत्तरी चीन और इंगलैण्ड की दुर्बलता के फलस्वरूप उसका नियन्त्रण विभिन्न उपनिवेशों से समाप्त सा हो गया था और उन स्थानों पर प्रभाव किस देश का बना रहे यह विवाद का प्रश्न बन गया। रूस का प्रभाव मध्यपूर्व, मलाया प्रायद्वीप तथा यूनान में बढ़ रहा था। पूर्वी यूरोप के देशों पर प्रभाव स्थापित करने के प्रश्न पर भी मनमुटाव काफी बढ़ा।

4. उपनिवेशों का स्वतन्त्र होना—पूँजीवादी पश्चिमी राष्ट्रों ने साम्यवाद के रोकने का एक साधन उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान कर देना समझा, क्योंकि साम्यवादी प्रचार उपनिवेशों में बड़ी तेजी से फैल रहा था और पश्चिमी राष्ट्रों ने साम्यवाद के प्रचार को रोकने के लिए शस्त्रों पर धन व्यय करने की अपेक्षा उपनिवेशों को स्वतन्त्र करना ही अधिक लाभदायक समझा। उपनिवेशों के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् उनकी आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति के लिए दोनों शक्तियाँ सहायता देने के लिए तैयार थीं। इस प्रकार अर्द्धविकसित तथा विकासशील देशों पर प्रभाव जमाना -शीत युद्ध को बढ़ावा देने का एक कारण बना।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना

ऐतिहासिक दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ का आरम्भ धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध के उचित संचालन की आवश्यकता से हुआ। अगस्त 1941 ई. के 'अटलांटिक चार्टर' का समर्थन जनवरी 1942 ई. को 26 मित्र राष्ट्रों ने किया था, और इस घोषणा का नाम रखा था 'संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा'। इस घोषणा में सामूहिक रूप से धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध के संचालन की बात कही थी। इसके पश्चात् विभिन्न प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र के संगठन के बारे में आये। अक्टूबर 1943 ई. में मास्को में चार महान राष्ट्रों ने एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। एक वर्ष पश्चात्

वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स में सितम्बर-अक्टूबर 1944 ई. में चार बड़े राष्ट्रों (इंग्लैण्ड, रूस, संयुक्त राज्य अमरीका तथा चीन) ने एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन के लिए एक रूपरेखा तैयार की। अन्तिम चार्टर तथा ओक्स प्रस्तावों में काफी समानता थी। फरवरी 1945 ई में याल्टा सम्मेलन में 'वीटो' पर भी सहमति हो गयी और यह तय किया गया कि 25 अप्रैल, 1945 ई. सैनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन बुलाया जाये।

सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन का निर्णय—50 राष्ट्रों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में उपस्थित थे। लेकिन इस सम्मेलन में कुछ अनिश्चितता थी। राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख समर्थक राष्ट्रपति रूजवेल्ट दो सप्ताह पहले मर चुका था। उधर जर्मनी ने आत्म-समर्पण इस सम्मेलन के अधिवेशन के मध्य ही किया। दूसरी ओर प्रशान्त महासागर में जापान के साथ युद्ध चल रहा था। फिर भी इस सम्मेलन में एक चार्टर पर सहमति हो गयी और 51 राष्ट्रों ने इसे स्वीकार कर लिया और 24 अक्टूबर, 1945 ई को संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना घोषित कर दी गयी। इस संघ की एसेम्बली की प्रथम बैठक लन्दन में 10 जनवरी, 1946 ई को आरम्भ हुई। इसका स्थायी संगठन न्यूयार्क अमरीका में हुआ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की राष्ट्रसंघ से तुलना

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पुराने राष्ट्रसंघ के आधार पर ही स्थापित था। कुछ थोड़े-बहुत फेर-बदल अवश्य हुए थे, लेकिन दोनों में कुछ अन्तर थे। पहली बात तो यह थी कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना किसी सन्धि सम्मेलन के साथ नहीं हुई थी। यह युद्ध के समय में ही शुरू हो गयी थी। सर्वसम्मति के स्थान पर बड़े राष्ट्रों में एकमत होना आवश्यक कर दिया गया। तीसरा मुख्य अन्तर यह था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का ढांचा संघीय आधार पर था। इन कुछ बातों को छोड़कर अधिकांश व्यवस्था राष्ट्रसंघ जैसी ही थी। राष्ट्रसंघ को क्यों पुनर्जीवित नहीं किया गया? इस प्रश्न का उत्तर दो बातों से स्पष्ट हो सकता है—(1) राष्ट्रसंघ के साथ असफलताओं का लम्बा इतिहास जुड़ा हुआ था और नये प्रयत्नों के लिए पुरानी कुप्रतिष्ठा वाली संस्था सहायक नहीं हो सकती थी। (2) दूसरा कारण यह था कि राष्ट्रसंघ ने रूस को सदस्यता से अलग कर दिया था तथा संयुक्त राज्य अमरीका इसका सदस्य कभी नहीं था। ऐसी स्थिति में ऐसी संस्था को, जिसमें सुपर शक्तियाँ न हों, पुनर्जीवन प्रदान करना निरर्थक था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर उसके उद्देश्य तथा सामान्य रूपरेखा को स्पष्ट करता है। इस चार्टर में 111 धाराएँ हैं। इस चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार उद्देश्य हैं: (1) अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखना, (2) राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ावा देना, (3) अन्तरराष्ट्रीय सहयोग के आधार पर संसार की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याओं को हल करना तथा मानव

अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को प्रोत्साहित करना, और (4) विभिन्न राष्ट्रों के इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक समन्वय केन्द्र के रूप में विकसित करना।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग

संयुक्त राष्ट्रसंघ के 6 मुख्य अंग हैं :

(1) साधारण सभा, (2) सुरक्षा परिषद, (3) आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, (4) सचिवालय, (5) अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय, (6) संरक्षण परिषद।

संयुक्त राष्ट्र संघ
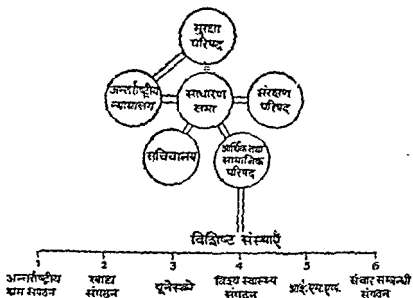
(1) साधारण सभा—संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी संस्था साधारण सभा है। इस संघ का प्रत्येक सदस्य इस सभा का सदस्य होता है। प्रत्येक सदस्य को एक मत का अधिकार प्राप्त होता है, यद्यपि वह अपने पाँच प्रतिनिधि भेज सकता है। प्रतिवर्ष सितम्बर में इसका वार्षिक अधिवेशन आरम्भ होता है, आवश्यकता पड़ने पर इसके विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं। सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन इस सभा द्वारा ही होता है। इस सभा को ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट पास करने का अधिकार है। यह सभा उन विषयों तथा समस्याओं पर विचार नहीं कर सकती जो सुरक्षा परिषद के अधीन हो। साधारण निर्णय बहुमत के आधार पर हैं लेकिन महत्त्वपूर्ण विषयों पर दो-तिहाई बहुमत से निर्णय होते हैं।

(2) सुरक्षा परिषद—संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे शक्तिशाली संस्था सुरक्षा परिषद है। इसके पाँच सदस्य स्थायी होते थे लेकिन 1965 ई. के पश्चात् 11 स्थायी सदस्य होने लगे हैं। आरम्भ में अस्थायी सदस्य केवल 6 होते थे। स्थायी सदस्यों के नाम हैं :

संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस तथा चीन। अन्य 6 सदस्यों का प्रतिनिधि दो वर्ष बाद साधारण सभा द्वारा निर्वाचित होता है। इस परिषद की बैठक पखवाड़े में एक बार आवश्यक रूप से होती है।

इस परिषद का मुख्य कार्य अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना है। इस परिषद को सैनिक कार्य करने का भी अधिकार दिया गया है जो आवश्यकता पड़ने पर काम में लाये जा सकते हैं। सब सदस्य आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता देने के लिए वचनबद्ध हैं। अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिपूर्ण निबटारे तथा अन्तरराष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने के विषय में किसी भी समस्या के हल, तथा आक्रमण करने वाले देश को किसी भी समय रोकने का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद पर है।

सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को वीटो (निषेधाधिकार) का अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार अत्यधिक चर्चा और विवाद का विषय रहा है। इसका अर्थ था कि सुरक्षा परिषद कोई भी महत्वपूर्ण कार्य बिना सब महान राष्ट्रों की सहमति के नहीं कर सकती थी। सुरक्षा परिषद के कार्यक्रम को दो भागों में बाँट दिया गया है—(1) साधारणत जिसमें परिषद के कार्यक्रम से सम्बन्धित बातें आती हैं। इनमें किन्हीं भी 9 सदस्यों के समर्थन से विषय पास हो जायेगा। (2) महत्वपूर्ण विषय जिनके लिए भी 9 सदस्यों का बहुमत आवश्यक है लेकिन इन 9 में पाँचों स्थायी सदस्यों का होना आवश्यक है। पुराने राष्ट्रसंघ में सभी राज्यों को वीटो का अधिकार प्राप्त था क्योंकि प्रत्येक निर्णय सर्वैक्य के आधार पर होना था।

वीटो के अधिकार की आलोचना बहुत की गयी है। एक ओर इसने विश्व में बड़े राष्ट्रों का प्रभुत्व स्थापित किया है और सुरक्षा परिषद के बहुमत को निरर्थक बना दिया है। दूसरी ओर रूस तथा उसके समर्थकों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाये रखने में यह वीटो अधिकार ही सहायक हुआ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ को पश्चिमी पूँजीवादी देशों के हाथ में कठपुतली बनने से रोकने के लिए यह वीटो ही सहायक रहा है तथा विभिन्न परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करने में वीटो का अधिकार सहायक रहा है। जैसे, भारत-पाकिस्तान के कश्मीर सम्बन्धी विवाद। इस विवाद में इंगलैण्ड और अमरीका ने खुले रूप से पाकिस्तान का समर्थन किया था, केवल रूस के वीटो अधिकार के प्रयोग से ही भारत के पक्ष की पुष्टि हो सकी थी।

वीटो से उत्पन्न कठिनाइयों को कम करने के लिए 1950 ई. में एक विशेष संशोधन द्वारा यह तय किया गया कि जब सुरक्षा परिषद में वीटो के कारण गतिरोध उत्पन्न हो जाय तो विषय संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा को भेज दिया जाये और वहाँ दो-तिहाई बहुमत से निर्णय लिया जा सकता है। इस प्रकार वीटो के महत्व को कुछ कम करने का प्रयत्न किया गया है और विश्व शान्ति के सम्बन्ध में अब साधारण सभा को अत्यन्त विस्तृत अधिकार प्राप्त हो गये हैं।

(3) **आर्थिक तथा सामाजिक परिषद**—इस परिषद के सदस्यों का चुनाव संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा द्वारा होता है। पहले इनकी संख्या 18 थी लेकिन

)65 ई. के संशोधन के पश्चात् यह बढ़ाकर 27 कर दी गयी है। साधारणतया के एक वर्ष में तीन अधिवेशन होते हैं लेकिन आवश्यकता पड़ने पर अधिक भी हो ते हैं। इस परिषद का उद्देश्य है 'अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों की आर्थिक, माजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना तथा बिना सी भेदभाव के मनुष्य जाति के आधारभूत अधिकारों की रक्षा करना।' यह परिषद् तरराष्ट्रीय शान्ति के पूरक कार्य को करती है क्योंकि यह गरीबी, बीमारी, दरिद्रता मानव जाति की रक्षा करती है। इससे युद्ध के मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक कारणों उन्मूलन होता है। यह परिषद अपनी रिपोर्ट साधारण सभा के समक्ष रखती है ा सदस्य देशों से उस पर कार्य करने के लिए कहती है।

(4) अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय—इसका कार्य स्थान हेग (नीदरलैण्ड्स) है। में 15 न्यायाधीश होते हैं। इनकी नियुक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा तथा क्षा परिषद् करती है। इनका कार्यकाल साधारणतया एक वर्ष है लेकिन इनकी पुनः ुक्ति भी हो सकती है। नरसिंह राव (जो साधारण सभा में भारत के प्रतिनिधि इस अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हैं। आजकल भारतीय न्याय ा डा. नगेन्द्रसिंह इस न्यायालय के सदस्य हैं। इस न्यायालय के समक्ष अन्तरराष्ट्रीय डे ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस न्यायालय का प्रयोग वे देश भी कर सकते हैं संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं। वास्तव में इस अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय का ं तथा गठन बहुत कुछ वही है जो राष्ट्रसंघ के आधीन स्थायी न्यायालय का था। ल शब्दों का कुछ हेरफेर हुआ है।

(5) संरक्षण परिषद्—इस परिषद् की स्थापना का मूल उद्देश्य यह है कि र के जो प्रदेश पिछड़े हुए है, उनके विकास का भार किसी विकसित देश को देना क वे प्रदेश भी प्रगति कर सकें। अतः कुछ प्रगतिशील देशों को ऐसे पिछड़े हुए प्रदेशो प्रशासन भार सौंप दिया जाता है और वे देश एक कौंसिल द्वारा कार्य करते है। संरक्षण षद् अपने कार्य की वार्षिक रिपोर्ट साधारण सभा के समक्ष प्रस्तुत करती है।

संरक्षण परिषद के अधीन तीन प्रकार के राज्य आते है: (1) वे देश जो ्ट्रसंघ के अधीन थे, (2) वे प्रदेश जो द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् शत्रु राज्यों से लिये गये थे, (3) वे राज्य जिन्हें उपनिवेशी राज्यों ने स्वयं संयुक्त राष्ट्रसंघ सौंप दिया हो, राष्ट्रसंघ की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र के अधीन संरक्षित क्षेत्रों के सियों के अधिकारों तथा हितो की अच्छी देखभाल हो सकती है। एक नियमित संघीय प्रतिनिधिमण्डल हर वर्ष संरक्षित प्रदेशों के दौरे पर भेजा जाता है। इन क्षत प्रदेशों को स्वतन्त्रता दिलाने में संरक्षण परिषद् काफी सहायक रही है।

(6) सचिवालय—संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के संचालन के लिए एक वालय का गठन किया गया है। इसका प्रधान अधिकारी महासचिव कहलाता है। क राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति पाँच वर्षों के लिए की जाती है। इसका मुख्य राष्ट्रसंघ के विभिन्न अंगों द्वारा सौंपा गया काम पूरा करना है। महासचिव

सुरक्षा परिषद् का ध्यान किसी भी अन्तरराष्ट्रीय समस्या की ओर आकर्षित कर सकता है और संघ के कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट साधारण सभा के समक्ष प्रस्तुत करता है। राजनीतिक क्षेत्र में महासचिव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है। महासचिव के अधीन 9 सहायक महासचिव होते हैं। इनमें से 8 सहायक अलग-अलग विभागों की देखभाल करते हैं तथा 9वाँ सहायक सचिव एक से अधिक विभागों से सम्बन्धित विषयों की देखभाल करता है। वे आठ विभाग निम्नलिखित हैं :

(1) सुरक्षा परिषद विभाग (2) आर्थिक विभाग (3) सामाजिक विभाग (4) संरक्षण विभाग (5) अधिवेशन विभाग (6) सार्वजनिक सूचना विभाग (7) कानून विभाग तथा (8) प्रशासन तथा बजट सम्बन्धी विभाग। वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ को सुचारु रूप से चलाने के लिए सचिवालय ही मुख्य रूप से उत्तरदायी है। इसी की योग्यता पर संघ की कार्यकुशलता निर्भर करती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य

पिछले 25-26 वर्षों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के राजनीतिक तथा गैर राजनीतिक कार्य काफी महत्त्वपूर्ण रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने पूर्वज राष्ट्रसंघ की भाँति ही रहा है। इसके समक्ष कुछ विभिन्न राजनीतिक प्रश्न प्रस्तुत हुए जो एक व्यापक युद्ध को भड़काने में सहायक हो सकते थे। उनमें से अधिकांश में संयुक्त राष्ट्रसंघ असफल ही रहा है। इस संघ का कार्य प्रारम्भ से ही दो गुटों के विरोधी दृष्टिकोण के फलस्वरूप, ही हुआ। ईरान ने रूस पर जनवरी 1946 ई में आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का आरोप लगाया, रूस ने यूनान से अंग्रेजी सेनाओं के निकाले जाने की बात कही। 'वीटो' का प्रयोग आरम्भ हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ वास्तव में पूर्व और पश्चिम की दो महाशक्तियों के बीच एक अखाड़ा बन गया। परन्तु इसकी कुछ सफलताएँ भी हैं ·

(1) कश्मीर समस्या को यद्यपि यह संघ हल करने में असमर्थ रहा लेकिन फिर भी *युद्ध विराम करने में तथा दोनों देशों के मध्य शान्ति बनाये रखने में कुछ सफलता मिली* है। 1965 ई में भारत-पाकिस्तान युद्ध को बन्द कराने में इसे काफी सफलता मिली थी।

(2) इण्डोनेशिया को स्वतन्त्र कराने में तथा उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया के मध्य युद्ध को सीमित रखने में इसने सहायता दी।

(3) मिस्र पर इगलैण्ड, फ्रांस और इजराइल के आक्रमण को रोकने में सफलता मिली।

इसके अतिरिक्त साइप्रस के प्रश्न पर यूनान और तुर्की के झगड़े को रोकने का प्रयत्न किया। बर्लिन के प्रश्न को लेकर अन्तरराष्ट्रीय तनाव को कम किया।

गैर राजनीतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य

इस क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ को अत्यधिक सफलताएँ मिली है। राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त मानव के भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में कल्याण के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ काफी सफल रहा है। विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने के लिए कुछ विशिष्ट

एजेन्सियों एव आयोगों की सहायता से कार्य किया गया। इन विशिष्ट सस्थाओं को हम चार भागो मे बाँट सकते हैं—वे है आर्थिक, सचार सम्बन्धी, संस्कृति सम्बन्धी तथा स्वास्थ्य और कल्याण सम्बन्धी।

आर्थिक कार्य—इस क्षेत्र मे अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन, खाद्य कृषि सगठन तथा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोप मुख्य हैं। श्रम सगठन का मुख्य लक्ष्य अन्तरराष्ट्रीय सहयोग द्वारा मजदूरो की दशा को उन्नत करना है। इसके अन्तर्गत विभिन्न समझौतों तथा सिफारिशो की व्यवस्था की गयी है। खाद्य और कृषि संगठन का मुख्य उद्देश्य पौष्टिक खुराक की व्यवस्था करना, फार्मों, जगलों, और मछली उद्योग वाले क्षेत्र मे खाने-पीने की चीजों और अनाज आदि के उत्पादन बढ़ाने मे सहयोग करना है। विभिन्न देशों में कृषि के उन्नत तरीको का प्रयास करना है। यह संगठन खाद्य और कृषि की प्रत्येक समस्या पर विभिन्न देशों को तकनीकी सहायता तथा परामर्श देता है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोप का उद्देश्य अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को पारस्परिक सहयोग के आधार पर विस्तृत एव दृढ करना, व्यापारिक भुगतान की रुकावटें दूर करना और अन्तरराष्ट्रीय विनिमय को दृढ़ करना है। यह विभिन्न राज्यो को उनकी आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध मे परामर्श भी देता है।

संचार सम्बन्धी संगठन—इसके अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय सिविल एविएशन संगठन, विश्व डाक सघ, अन्तरराष्ट्रीय दूर सचार सघ, विश्व ऋतु विज्ञान सगठन आदि है। ये सस्थाएँ सचार की विभिन्न प्रणालियों मे अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर समन्वय करती हैं।

संस्कृति सम्बन्धी—इस क्षेत्र मे प्रमुख सस्था सयुक्त राष्ट्र शिक्षा विज्ञान तथा सास्कृतिक सस्था है। यह एक विशेषज्ञो की संस्था है। इस सस्था के सविधान की प्रस्तावना मे कहा गया है कि युद्ध मनुष्य के दिमाग मे पैदा होता है इसलिए शान्ति को सुरक्षित रखने की आधारशिलाएँ भी मनुष्य के दिमाग मे बनायी जानी चाहिए। इसका उद्देश्य है कि मनुष्य के दिमाग से युद्ध की सम्भावना समाप्त कर दी जाये। इस सगठन के 120 से भी अधिक सदस्य हैं और यह विश्व भर मे बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी कार्य—इस क्षेत्र में विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा अन्तरराष्ट्रीय बाल आपत्कालीन कोप मुख्य हैं। विश्व स्वास्थ्य सगठन का उद्देश्य ससार को बीमारी से मुक्त करना है। खाद्य पदार्थों, दवाइयो तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध मे अन्तरराष्ट्रीय मापक निश्चित करना इसका उद्देश्य है। इस सगठन ने यूनान तथा भारत मे मलेरिया की रोकथाम के लिए, भारत में क्षयरोग के लिए बी. सी. जी. वैक्सीन तथा विभिन्न देशो के स्वास्थ्य के लिए कार्य किये। अन्तरराष्ट्रीय बाल आपत्कालीन कोप के द्वारा प्रसूतिका गृहो एव शिशु कल्याण केन्द्रो की स्थापना, शिशु आहार की व्यवस्था, दुग्ध सरक्षण और वितरण आदि कार्य किये जाते हैं।

इस प्रकार गैर राजनीतिक क्षेत्र मेंस युक्त राष्ट्रसंघ ने सराहनीय कार्य किया है। इस क्षेत्र के कार्यों द्वारा यह राष्ट्रसघ विश्व के लोकतन्त्र का एक प्रभावशाली रगमच बन गया है और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर नैतिक दबाव का एक शक्तिशाली

साधन है। इसी क्षेत्र में अन्तरराष्ट्रीय सहयोग सबसे अधिक रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलताएँ

राजनीतिक क्षेत्र को ही यदि हम ध्यान में रखें तो यह सरलता से कहा जा सकता है कि राष्ट्रसंघ काफी असफल रहा है। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ यह अत्यधिक असफल रहा है—निरस्त्रीकरण तथा अणुबमों के परीक्षण पर रोकथाम लगाने में संघ कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद तथा जातीय दुर्व्यवहार की नीति को नहीं बदलवा सका है। वियतनाम, जर्मनी, कश्मीर की समस्याएँ बिना सुलझाई हुई पड़ी हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ दो गुटों के मतभेदों के कारण विभिन्न कार्यों में असफल रहा है। ये दो गुट बहुत स्पष्ट हैं, एक ओर पूँजीवादी देश इंगलैण्ड, अमरीका तथा दूसरी ओर साम्यवादी देश जिनका नेतृत्व साम्यवादी रूस ने लिया है। पिछले कुछ वर्षों में यह मतभेद अपेक्षाकृत कम हुआ है लेकिन मौलिक अर्थों में मतभेद अभी भी बना हुआ है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की दुर्बलताएँ तथा इसकी असफलताएँ मुख्यतया आधुनिक राष्ट्रीय राजनीतिक संगठनों के कारण हैं। जब तक प्रत्येक राज्य की सार्वभौमिकता का सिद्धान्त प्रचलित है, किसी भी अन्तरराष्ट्रीय संगठन को अन्य बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ एक ऐसा स्थान अवश्य है जहाँ दोनों पक्ष अपनी बात कह सकते हैं। यह एक प्रकार का सुरक्षा वाल्व अवश्य हो गया है क्योंकि प्रत्येक देश को विश्व जनमत के समक्ष अपने पक्ष को न्यायोचित बनाने के लिए तर्क प्रस्तुत करने पड़ते हैं। इस कारण कुछ सीमाओं तक उसकी नीति पर नियन्त्रण लग गया है। भविष्य के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ही विश्व में शान्ति बनाये रखने के लिए एकमात्र आशा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का भविष्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ को स्थापित हुए 27 वर्ष हो चुके हैं और इस संस्था की कार्य-प्रणाली पर काफी आलोचना भी हुई है। इसकी दुर्बलताएँ उस समय तक रहेंगी जब तक विश्व में प्रत्येक राज्य स्वतन्त्र तथा प्रभुत्व सम्पन्न है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के मार्ग में मुख्य बाधा राज्यों की स्वेच्छाचारिता ही है। लेकिन यह कठिनाई इतनी जटिल नहीं है जितनी प्रतीत होती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का भविष्य बहुत आशाजनक हो सकता है यदि सुरक्षा परिषद् में एशिया और अफ्रीका के राज्यों को उचित प्रतिनिधित्व मिल सके। इस परिषद् की स्थायी सदस्यता में पश्चिमी राष्ट्रों का बहुमत है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर निर्माताओं ने एशियाई और अफ्रीकी देशों के महत्त्व को बहुत कम स्वीकार किया है। 1971 ई. में पहली बार साम्यवादी चीन को उसका उचित स्थान मिला है। आवश्यकता इस बात की है कि एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों का अधिक प्रतिनिधित्व हो।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता राजनीतिक स्तर पर न होकर आर्थिक सामाजिक और मानवीय क्षेत्र में अधिक सरलता से हो सकती है। इस क्षेत्र में सफलता ही एक ऐसा वातावरण तैयार कर सकती है जो राजनीतिक क्षेत्र में अधिक दबाव डाल सके।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास सैनिक दबाव ही मुख्य साधन है। विश्व जनमत ही इसको अधिक शक्तिशाली बना सकता है।

यदि संघ में एशियाई और अफ्रीकी देशों को प्रभावशाली स्थान प्राप्त हो जाता है तब चार्टर में वे अधिकार जो चार्टर द्वारा संघ की सुरक्षा परिषद में निहित हैं क्रियान्वित किये जा सकते हैं अर्थात् अन्तरराष्ट्रीय सेना या सैनिक शक्तियों का प्रयोग। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल दो महाशक्तियों के मध्य एक अखाड़ा बनकर नहीं रह जायेगा और यह वास्तव में अन्तरराष्ट्रीय संस्था बन सकेगी।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हुए शीतयुद्ध का अर्थ है—
   (क) बर्फ पर युद्ध करना
   (ख) ऐसा युद्ध जिसमें आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग न हो
   (ग) ऐसा युद्ध जिसमें हथियारों को छोड़कर वार्ता-प्रतिवार्ताओं की स्थिति रहे
   (घ) ऐसा युद्ध जिसमें ठहर-ठहर कर लड़ा जाय ( )
2. आरम्भ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना का उद्देश्य था—
   (क) धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध का संचालन करना (ख) विश्व युद्धों को रोकना
   (ग) विश्व में शान्ति स्थापित करना (घ) पिछड़े देशों की सहायता करना ( )
3. संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई—
   (क) 24 अक्टूबर, 1945 ई. को (ख) 4 फरवरी, 1945 ई. को
   (ग) 10 अक्टूबर, 1945 ई. को (घ) 15 जुलाई, 1945 ई. को ( )
4. संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना राष्ट्रसंघ से भिन्न थी क्योंकि—
   (क) संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना किसी सन्धि सम्मेलन का अंग नहीं है
   (ख) संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना में अधिक संख्या में राष्ट्रों ने भाग लिया
   (ग) संयुक्त राष्ट्रसंघ के बड़े उद्देश्य हैं
   (घ) संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास अपनी सेना है ( )
5. संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे प्रमुख अंग है—
   (क) साधारण सभा (ख) आर्थिक सामाजिक परिषद्
   (ग) सुरक्षा परिषद् (घ) संरक्षण परिषद् ( )
6. सुरक्षा परिषद् के गठन में 1945 ई. के पश्चात् मुख्य परिवर्तन क्या हुआ ?
   (क) सब सदस्यों की सर्वसम्मति से कार्य होने लगा
   (ख) अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ गयी
   (ग) समस्त सदस्यों के बहुमत के आधार पर कार्य होने लगा
   (घ) इनमें से कोई नहीं ( )

7. सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को अस्थायी सदस्यों की तुलना में एक विशेष अधिकार प्राप्त है, वह है—
   (क) कोई भी महत्वपूर्ण कार्य स्थायी सदस्यों की सहमति के बिना नहीं किया जा सकता
   (ख) उनको संयुक्त राष्ट्रसंघ के खर्च का अधिक भाग नहीं वहन करना पड़ता
   (ग) कोई राष्ट्र दूसरे को गलत कार्य करने के लिए बाध्य न कर सके
   (घ) उन्हें साधारण सभा में एक से अधिक मत उपलब्ध हैं ( )

8. आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् की स्थापना का मुख्य ध्येय था—
   (क) विभिन्न देशों की आर्थिक, सामाजिक आदि समस्याओं पर विचार करना
   (ख) विश्व के पिछड़े देशों से गरीबी, बीमारी, अशिक्षा दूर करना
   (ग) विश्व युद्धों की सम्भावनाओं को रोकना
   (घ) संयुक्त राष्ट्रसंघ का बजट तैयार करना ( )

9. संयुक्त राष्ट्रसंघ के सचिवालय के महासचिव की नियुक्ति की जाती है—
   (क) पाँच वर्षों के लिए (ख) तीन वर्षों के लिए
   (ग) एक वर्ष के लिए (घ) चार वर्ष के लिए ( )

संक्षेप में उत्तर दीजिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों से अधिक न हो।

1. प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के समय जिस प्रकार वुडरो विल्सन ने 14 सूत्रीय घोषणा शान्ति स्थापना के लिए की थी उसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध के दौरान भी अमरीका के एक प्रेसीडेण्ट ने घोषणा की। बताइए वह कौन था ? तथा उसकी शान्ति योजना के चार सूत्र क्या थे ?
2. अटलांटिक चार्टर के तीन सिद्धान्त बताइए।
3. संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य बताइए।
4. साधारण सभा में निर्णय करने का क्या आधार है ?
5. साधारण सभा के तीन मुख्य कार्य बताओ।
6. 'वीटो' अधिकार से क्या हानि है ?
7. 1950 ई. में वीटो के सम्बन्ध में क्या संशोधन किया गया है ?
8. संरक्षण परिषद् की स्थापना का उद्देश्य बताइए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. शीत युद्ध के क्या कारण थे ?
2. संयुक्त राष्ट्रसंघ के कौन-कौनसे अंग हैं तथा साधारण सभा और सुरक्षा परिषद् का संगठन और कार्य बताइए।
3. संयुक्त राष्ट्रसंघ के गैर राजनीतिक क्षेत्रों में कार्य बताइए।
4. संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक क्षेत्र में प्रमुख सफलताओं और असफलताओं का उल्लेख कीजिए।

रूस में साम्यवादी क्रान्ति

1917 ई. मे रूस मे दो क्रान्तियाँ हुईं और इन क्रान्तियों के फलस्वरूप रूस-वासियों ने अपने जार (सम्राट) को गद्दी से हटा दिया, राजकीय चर्च को विस्थापित कर दिया और अपने कुलीन घरानों को समाप्त कर दिया। इस परिस्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक ही हो जाता है कि ऐसे क्या कारण थे जो रूस में इन क्रान्तियों के लिए 1917 ई मे उत्तरदायी हुए। हम पहले यह भी पढ चुके हैं कि इंगलैण्ड मे 18वी शताब्दी में और फ्रान्स मे 18वीं शताब्दी के अन्त मे इसी प्रकार की क्रान्तियां तथा परिवर्तन हो चुके थे। इसलिए यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है कि रूस मे ये क्रान्तियाँ इतनी देर से क्यों हुईं। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर सम्मिलित-सा ही है। रूस में वे व्यापारिक तथा औद्योगिक परिवर्तन बहुत देर से हुए जो इंगलैण्ड तथा फ्रांस में पहले हो चुके थे, इसलिए रूस मे कुलीन वर्गों तथा निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध देर से क्रान्ति हुई और वह असन्तोष जो रूस की प्रचलित राजनीतिक तथा आर्थिक सामाजिक स्थिति से था, 1917 ई मे संगठित होकर एक क्रान्ति द्वारा व्यक्त किया जा सका।

रूस की क्रान्ति के कारण

रूस की क्रान्ति के कुछ कारण ऐसे भी थे जो 19वी शताब्दी से चले आ रहे थे। रूस के नागरिक कष्ट सहते रहे लेकिन प्रथम विश्व युद्ध से उनको ऐसा अवसर उपलब्ध हुआ जिससे वे विद्रोह कर सके। रूस की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति ही उस वातावरण को पैदा करने के लिए उत्तरदायी हुई जिसके फलस्वरूप यह क्रान्ति हो सकी।

सामाजिक असमानता—तत्कालीन रूसी समाज दो वर्गों मे विभाजित था—कुलीन वर्ग तथा गरीब वर्ग। रूस की भूमि के बहुत बड़े भाग पर कुलीनों का अधिकार था तथा समस्त सरकारी पदों पर भी कुलीन वर्ग के लोगों का ही अधिकार था। रूस मे कुलीन अपने किसानों से उतने ही दूर थे जितने 18वी शताब्दी में फ्रांस में थे। कुलीनों मे से अधिकांश राजधानी में रहते थे और उनकी जागीरों का प्रबन्ध उनके प्रतिनिधि करते थे जो कृषकों पर मनमाना अत्याचार करते थे। समस्त राज-[illegible] तथा सैनिक पद कुलीनों के लिए सुरक्षित थे। कुलीनों का कृषकों पर पूरा

अधिकार था। उनमें से किसी को भी वे दण्ड देकर साइबेरिया भेज देते थे। यह कुलीन समाज इतने संकीर्ण विचारों का था कि यह पश्चिमी देशों से सम्पर्क नहीं के बराबर रखता था इसीलिए रूस, यूरोप के अन्य सब देशों से वैज्ञानिक प्रगति में पीछे था।

कृषक तथा खेतिहर मजदूर—कृषकों तथा खेतिहर मजदूरों की दशा बड़ी खराब थी। वे पूर्णतया जमीन के साथ बँधे हुए थे। जमीन की बिक्री के साथ-साथ वे भी बिक जाते थे। वे लोग संयुक्त खेती प्रथा के अधीन खेती करते थे। इसमें प्रत्येक किसान को भूमि का कुछ टुकड़ा खेती करने के लिए प्रतिवर्ष दे दिया जाता था। यह आवश्यक नहीं था कि अगले वर्ष उसको वही भूमि प्राप्त हो जो इस साल मिली थी। इसलिए वह भूमि की उपज को बढ़ाने पर कोई विशेष प्रयत्न नहीं करता था। जनसंख्या की वृद्धि के कारण उसको हर वर्ष कम भूमि उपलब्ध होती थी। खेती करने के साधन भी पुराने थे, इससे भी उपज कम होती थी।

विभिन्न जातियों में असन्तोष—रूस के अधीन कई प्रदेश ऐसे थे जहाँ विभिन्न जातियाँ रहती थी, जैसे पोलैण्ड में पोल्स, फिनलैण्ड में फिन्स तथा यहूदी। रूसी शासक इन अल्पसंख्यक जातियों के पृथक अस्तित्व को समाप्त करना चाहते थे। उनकी संस्कृति, भाषा आदि को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता था। यहूदियों के विरुद्ध अधिक कठोर नियम लागू किये जाते थे। इन जातियों के असन्तोष से रूस के भीतर भी असन्तोष अधिक बढ़ा था।

औद्योगिक विकास—19वी शताब्दी के अन्तिम दशक में फ्रांस की सहायता से रूस में कुछ उद्योगों की स्थापना हुई, बैंकों की स्थापना की गयी। रूस में खनिज पदार्थों के बड़े भण्डारों का पता लगाया गया। इस औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप रूस में मध्यम वर्ग का विकास आरम्भ हुआ तथा मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। ये दोनों वर्ग ही भूमि व्यवस्था पर आधारित कुलीनों के विशेष अधिकारों के विरुद्ध थे।

पश्चिम सम्पर्क—इस औद्योगिक प्रगति के कारण पश्चिमी देशों से रूस का सम्पर्क स्थापित हुआ। इस सम्पर्क के फलस्वरूप वहाँ की प्रजातान्त्रिक विचारधारा तथा मनुष्यों के मौलिक अधिकारों की बात का प्रभाव रूसी जनता पर भी पड़ा। ऐसी विचारधारा के सामने निरंकुश राजतन्त्र की भावनाएँ सफल नहीं हो सकती थी। पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित बुद्धिजीवियों का एक वर्ग विशेष पैदा हो रहा था, जो निरंकुशता का विरोधी था। इसी समय में टॉलस्टॉय, तुर्गनेव, दॉस्तोवोस्की, आदि लेखकों ने उपन्यास पश्चिमी आधार पर राजनीतिक अधिकारों की बात जनता के समक्ष रखते थे। कुछ उग्र विचारों वाले लेखक अराजकतावादी तथा समाजवादी विचार का समर्थन करते थे। अराजकता वादियों को रूस में 'निहिलिस्ट' कहते हैं। ये वे लोग थे जो क्रान्ति के लिए आतंकवाद का समर्थन करते थे तथा समस्त संस्थाओं को समाप्त कर, अराजकता की स्थिति पैदा कर देते थे। उनका अभिप्राय क्रान्ति तथा परिवर्तनों की आवश्यकता पर बल देना होता था। इस विचार के समर्थकों की संख्या अधिक नहीं थी इसलिए इस आन्दोलन को रूस के जार सरलता से दबा सके।

राजनीतिक दलों का गठन—रूस में 19वीं शताब्दी में मजदूरों ने 'स्पेशल डेमोक्रेटिक पार्टी' का संगठन किया। ये लोग आतंकवादियों के विरुद्ध तथा मार्क्स के सिद्धान्तों के समर्थक थे और मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार मजदूरों की स्थिति में परिवर्तन चाहते थे। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में यह दल दो भागों में विभक्त हो गया था। एक दल बोलशेविक (बहुमत) और दूसरा मेनशेविक (अल्पमत) कहलाया। इन दोनों दलों में कुछ सैद्धान्तिक मतभेद था। मेनशेविक चाहते थे कि क्रान्ति का नेतृत्व मध्यम वर्ग के हाथों में हो, उनका नेता ट्राटस्की था, लेकिन बोलशेविक इस सिद्धान्त के समर्थक नहीं थे। उनका नेता था ब्लादीमीर इलोनोव जो बाद में लेनिन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लेनिन का विचार था कि मध्यम वर्ग तथा व्यावसायिक हित जार के प्रशासन पर निर्भर है। इसलिए वह मजदूरों के नेतृत्व में रूस में क्रान्ति करना चाहता था। थोड़े ही दिनों बाद ट्राटस्की भी लेनिन के साथ मिल गया।

रूस के जार निकोलस द्वितीय की अयोग्यता

किसी भी निरंकुश राजतन्त्र की सफलता राजा के व्यक्तित्व पर बहुत कुछ निर्भर करती है। रूस का अन्तिम जार निकोलस द्वितीय अयोग्य तथा मूर्ख था। वह कभी यह नहीं सोचता था कि रूसी प्रशासन में सुधार की आवश्यकता है। सुधारों के प्रस्तावों को वह बकवास समझता था। रूस के दुर्भाग्य से वह निरंकुश था और उसमें दृढ़ संकल्प का अभाव था। उसमें आत्मविश्वास बिलकुल नहीं था। जार बनने के समय भी उसने अपने भाई से कहा कि वह प्रशासन कैसे करेगा क्योंकि वह तो मंत्रियों से बात करना नहीं जानता। इसी कमजोरी के कारण वह अपनी स्त्री एलेक्जांड्रा की हर बात मानता था। एलेक्जाड्रा को रूस की जनता से कोई सहानुभूति नहीं थी और वह साधारण बुद्धि की स्त्री थी। वह सदा निकोलस को निरंकुश होने के लिए उकसाती रहती थी। उसका कहना था कि जनता डंडे से ही सीधी हो सकती थी। रूस के राजतन्त्र के लिए इससे भी खराब बात यह हुई कि जार की यह पत्नी, रासपुटिन नामक तथाकथित साधू के प्रभाव में थी जिसका जीवन अत्यन्त पतित था। वह स्वयं रिश्वत लेकर नियुक्तियाँ करवाता था क्योंकि बिना उसकी सहमति के कोई नियुक्ति नहीं हो सकती थी। उसके प्रभाव के फलस्वरूप अच्छे तथा ईमानदार व्यक्तियों को राज-दरबार से घृणा हो गयी थी।

प्रथम विश्वयुद्ध की असफलता

निरंकुश शासन को सुरक्षित रखने के लिए सफल विदेश नीति आवश्यक होती है। रूस के साथ यह बात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। 19वीं शताब्दी के मध्य में, रूस क्रीमिया युद्ध में पराजित हुआ तो उसे दास प्रथा को समाप्त करना पड़ा। 1904-5 ई. में जापान से हार जाने के पश्चात् सीमित स्वायत्त शासन की स्थापना करनी पड़ी और 1914-18 ई. के प्रथम विश्व युद्ध में असफलता मिलने से उसे राजतंत्र को ही गवाना पडा। इस विश्वयुद्ध की असफलता से जार के प्रशासन के विरुद्ध व्याप्त समस्त असन्तोष एकदम उबल पड़ा। लोग ऐसे भ्रष्ट प्रशासन को

क्रान्ति का आरम्भ

भोजन, हथियार, योग्य नेतृत्व, सफलता आदि के अभाव में रूसी सेना तथा जनता ने जार के भ्रष्ट प्रशासन का अन्त करने का निश्चय किया। यह कार्य दो चरणों में पूरा हुआ। पहले मध्यम वर्ग ने जारशाही का अन्त किया और फिर उसकी गलतियों के फलस्वरूप मजदूरों तथा कृषकों के हितों को ध्यान में रखते हुए दूसरी क्रान्ति हुई। इस दूसरी क्रान्ति को ही बोल्शेविक क्रान्ति कहते हैं। इसका नेतृत्व लेनिन ने किया था।

मार्च 1917 ई. की क्रान्ति

1916-17 ई. में सर्दियों में रूस में एक ओर खाद्यान्न की कमी हो रही थी क्योंकि जार ने एक करोड़ से अधिक कृषकों को खेती के काम से हटाकर फौज में भर्ती कर लिया था और अनाज उत्पादन में भारी कमी आ गयी थी, दूसरी ओर आर्थिक संकट बढ़ रहा था और राजकीय ऋण भी अत्यधिक था। फरवरी 1917 ई. में कुलीन वर्ग के नेताओं ने जार से कुछ प्रशासनिक तथा आर्थिक सुधार करने को कहा, लेकिन कोई प्रभाव नहीं हुआ।

11 मार्च, 1971 ई को पेट्रोग्राड में 80,000 श्रमिकों ने रोटी के नारों के साथ हड़ताल आरम्भ कर दी। निकोलस ने 25,000 सैनिकों को श्रमिकों पर गोली चलाने का आदेश दिया लेकिन सैनिकों ने आज्ञा का उल्लघन किया और श्रमिकों के साथ मिल गये। फलस्वरूप राजधानी में एक सोवियत (काउंसिल) का अधिकार स्थापित हो गया। 14 मार्च, 1971 ई को एक उत्तरदायी अस्थायी सरकार की स्थापना की गयी। इसका अध्यक्ष जार्ज ल्वाव था। यह सरकार मध्यम वर्गीय सरकार थी। इसमें केरेन्सकी (जो एक उग्र वामपन्थी था) भी सम्मिलित था। इस सरकार ने क्रान्तिकारी परिवर्तनों का विरोध किया था तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा का यत्न किया और इसने सब राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया तथा उन सब लोगों को रूस आने का निमन्त्रण दिया जो रूस से बाहर चले गये थे।

इस सरकार ने निकोलस को गद्दी त्यागने पर बाध्य किया और 15 मार्च को उसने सिंहासन त्याग दिया। इस अस्थायी सरकार को संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैण्ड और फ्रांस ने तुरन्त मान्यता प्रदान कर दी। लेकिन इस सरकार ने दो गलतियाँ कीं। पहली तो यह कि युद्ध जारी रखा तथा दूसरी यह कि इसने कृषकों तथा मजदूरों की मुख्य समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया। उस समय यहाँ मुख्य समस्या थी रोटी और भूमि की। यह शायद हल भी हो जाती यदि युद्ध तुरन्त समाप्त कर दिया गया होता। युद्ध के प्रति सैनिकों में भी कोई उत्साह नहीं था। थोड़े ही समय पश्चात् केरेन्सकी प्रधान मन्त्री बना, लेकिन वह भी युद्ध संचालन में असफल रहा।

बोलशेविक नेताओं का वापस रूस पहुँचना—मार्च की क्रान्ति के समय बोलशेविक दल के प्रमुख नेता रूस में क्रान्ति स्थल पर नहीं थे। लेनिन उस समय स्विट्जरलैण्ड में था। ट्राटस्की न्यूयार्क में था और स्टालिन साइबेरिया में एक अपराधी

[illegible] । लेनिन को जर्मनी ने एक बन्द गाड़ी में रूस पहुँचवाया जिससे रूस के युद्ध प्रयत्नों [illegible] हो और जर्मनी युद्ध जीत सके। ट्रॉटस्की ने न्यूयार्क से [illegible] ने उसे रोक लिया और अन्त में कैरेन्स्की [illegible] किया। राजनीतिक तथा धार्मिक अपराधियों को क्षमा कर [illegible] साइबेरिया से रूस पहुँचा।

[illegible]—लेनिन के रूस पहुँचने से पहले ही मध्यम वर्ग तथा मजदूर [illegible] हो चुका था। मजदूर वर्गों की सोवियत (सभा) का साधारण [illegible] थी। इसके अतिरिक्त साधारण जनता अब [illegible] कि सोवियतों अथवा दलों में एक संविधान बनाकर तैयार हो फिर [illegible] किया जावे। [illegible] की भूमि की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई थी और इससे महत्त्वपूर्ण कारण था लेनिन का नेतृत्व जिसने साम्यवादी आन्दोलन एवं क्रान्ति को सफल बनाया।

लेनिन का नेतृत्व

व्लादीमीर इलीच 1870 ई. में एक साधारण मध्यमवर्गीय परिवार में पैदा हुआ था। वह आरम्भ से ही क्रान्तिकारी विचारों वाला नवयुवक था। मार्क्स के विचारों का उसने गहराई से अध्ययन किया था। इसलिए उसे वह स्थान रूस में प्राप्त नहीं हुआ था जिसके वह योग्य था। उसके साम्यवादी विचारों के कारण उसे तीन साल के लिए साइबेरिया भेज दिया गया था। 1900 ई. से 1917 ई. तक वह प्रायः रूस के बाहर स्विट्ज़रलैण्ड में रहा। इस समय में उसने समाजवादी प्रजातान्त्रिक दल के पत्र 'इस्क्रा' का सम्पादन किया। जर्मनी और स्विट्ज़रलैण्ड से उसका गुप्त रूप से रूस भिजवा दिया जाता था। लेनिन एक संगठित क्रान्ति के पक्ष में था। वह साधना को निरपेक्ष समझता था।

लेनिन

लेनिन का व्यक्तिगत महत्व ही रूस में साम्यवादी क्रान्ति लाने में सफल हो सका। वह दृढ़ निश्चय का व्यक्ति था और अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में वह मतान्ध था। उसमें राजनीति कूटनीतिज्ञता पर्याप्त मात्रा में थी। अन्य सफल नेताओं की भाँति यह जनता की भावनाओं को अच्छी तरह समझता था और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता था। वह अत्यन्त कुशल वक्ता था लेकिन अपने भाषणों में वह तार्किक अधिक होता था भावुक कम।

ट्रॉटस्की तथा स्टालिन—लेनिन के दो सहयोगी विशेष उल्लेखनीय हैं—ट्रॉटस्की तथा स्टालिन। ट्रॉटस्की एक यहूदी था। वह आरम्भ में मेनशेविकों से सहमत था लेकिन 1902 ई. लेनिन से उसकी भेंट हुई और वह उसका समर्थक हो गया। अपने

क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे दो बार साइबेरिया भेजा गया लेकिन वह दोनों बार बचकर भाग निकला। उसने लेनिन के समान क्रान्ति के आगमन में योगदान दिया। स्टालिन ट्रॉटस्की के विपरीत मनोवृत्ति वाला व्यक्ति था और 1896 से 1917 ई.

ट्रॉटस्की

स्टालिन

तक रूस के निरकुश राजतन्त्र के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। उसे काफी समय तक साइबेरिया मे रहना पडा। स्टालिन और ट्रॉटस्की दोनों मे परस्पर विरोध था। लेकिन लेनिन के साथ दोनो ने समान रूप से सहयोग दिया।

लेनिन द्वारा सत्ता प्राप्त करना—अप्रैल 1917 ई. मे लेनिन रूस पहुँचा और उसने सोवियतो के इस दृष्टिकोण का समर्थन किया कि युद्ध तुरन्त बन्द किया जाये। उसने उदारवादियो के साथ सहयोग तथा समर्थन का विरोध किया। मई 1917 ई. मे उदारवादी सरकार ने युद्ध जारी रखने का निर्णय प्रकाशित किया। इस निर्णय के विरुद्ध प्रदर्शन हुए, लेनिन ने इस वक्त कुछ अत्यन्त लोकप्रिय नारे लगाये जैसे—'लूटने वालो को लूटो', 'समस्त अधिकार सोवियतो को प्राप्त हों', 'बिना क्षति तथा लाभ के युद्ध समाप्त हो' आदि। उधर केरेन्सकी (प्रधान मंत्री) तथा कौर्निलोव (सेनाध्यक्ष) के मध्य एक संघर्ष आरम्भ हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि केरेन्सकी को अपनी सहायता के लिए बोलशेविक सेना को बुलाना पडा। इससे बोलशेविको को शासन मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया और लेनिन के नेतृत्व मे सत्ता प्राप्त कर ली।

लेनिन की नीति—लेनिन ने सत्ता पर अधिकार करने के लिए पाँच सूत्रीय कार्यक्रम बनाया। उसके मुख्य उद्देश्य थे—1. युद्ध की तुरन्त समाप्ति, 2. भूमि का कृषकों मे वितरण, 3 श्रमिकों का फैक्ट्रियों पर अधिकार, 4 नगरो में खाद्य सामग्री की राशन व्यवस्था, 5 व्यक्तिगत पूंजी तथा बैंकों का राष्ट्रीयकरण। इस प्रोग्राम मे लेनिन की लोकप्रियता अधिक बढ गयी। अक्टूबर 1917 ई. में पेट्रोग्राड सोवियत में लेनिन के समर्थको का बहुमत हो गया और इसके पश्चात् सेना पर उसका नियन्त्रण

आक्रमण कर दिया फलस्वरूप इसके विभिन्न क्षेत्रों पर फ्रांस, इगलैण्ड और अमरीका तथा पोलैण्ड का अधिकार हो गया।

आन्तरिक व्यवस्था—इसी समय बोलशेविको के विरुद्ध जार प्रशासन के समर्थक भी लेनिन को चुनौती दे रहे थे तथा उन्होने एक गृहयुद्ध आरम्भ कर दिया। ट्रॉटस्की ने तुरन्त एक **लाल सेना** का सगठन किया और प्रतिक्रियावादी तथा विदेशियों के विरुद्ध सघर्ष प्रारम्भ कर दिया। बोलशेविकों ने आक्रमणो के विरुद्ध शीघ्र सफलता प्राप्त की क्योंकि रूसी जनता का समर्थन उन्हें प्राप्त था। रूसी प्रतिक्रियावादियो की सेनाओ को **श्वेत सेना** कहा जाता था। शीघ्र ही विदेशियो ने यह अनुभव किया कि साम्यवादी सफलताओ से कही उनके सैनिको पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव न पड जाये इसलिए उन्होने साम्यवादियो की सफलता के साथ अपने सैनिकों को वापस बुला लिया और जनवरी 1920 ई. मे उन्होने नाकाबन्दी भी समाप्त कर दी। इधर बोलशेविको ने आन्तरिक क्षेत्रो मे आतकवादी प्रशासन स्थापित किया। सन्देह मात्र पर हजारो व्यक्तियो को मृत्यु के घाट उतार दिया गया। यह कार्य 'चेका' के द्वारा किया गया। इसने साम्यवादियो के लिए सुरक्षा और अन्य सबके लिए असुरक्षा का वातावरण पैदा कर दिया था। बोलशेविको के ये कारनामे 'लाल आतंक' के नाम से प्रसिद्ध है। इस आधार पर साम्यवादियो ने आन्तरिक शान्ति स्थापित की। इस कार्य में लगभग तीन वर्ष लग गये।

लेनिन की सफलता के कारण

अत्यन्त कठिन परिस्थितियो मे लेनिन सफलता प्राप्त कर सका, यह उसके लिए भी तथा विश्व के अन्य देशो के लिए भी आश्चर्यजनक घटना थी। उसकी सफलता के निम्न कारण थे :

1. अन्य सब कारणो की अपेक्षा लेनिन का व्यक्तिगत नेतृत्व अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वह अकेला ही क्रान्ति को आरम्भ कराने मे तथा उसको सफल बनाने में सहायक हुआ। यद्यपि लेनिन मध्यमवर्ग मे बड़ा हुआ था लेकिन वह साधारण रूसी नागरिक के बहुत निकट था। लेनिन ने समाजवाद लाने के लिए साधारण कृषक तथा श्रमिको को प्रजातन्त्र का अनुभव करवाया था। उसने राज्य का उद्देश्य गरीब लोगों की सहायता करना रखा। उसके विरोधी भी उसकी इस विशेषता को मानते थे कि लेनिन को रूस की भूमि तथा यहाँ के निवासियो से कुछ अधिक घनिष्ठता थी। लेनिन मे अन्य क्रान्तिकारियों की अपेक्षा अधिक सूझबूझ थी। वह अत्यन्त परिश्रमी था। उसका जीवन अत्यन्त सादा था। शक्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी वह उसी सादगी से रहता था।

2. लेनिन की क्रान्ति कृषकों तथा श्रमिकों मे अत्यधिक लोकप्रिय थी। यह आन्दोलन गरीब तथा दरिद्र लोगों का आन्दोलन था। साधारण कृषक जिसे पहले 8 एकड भूमि प्राप्त थी अब वह 80 एकड भूमि का स्वामी था। उस पर अत्याचार तथा शोषण करने वाला वर्ग अब प्रायः समाप्त हो चुका था।

3. मित्र राष्ट्रों का आक्रमण भी सफल नहीं हो सका क्योंकि इस क्रान्ति के आदर्शों का प्रभाव उन देशों के मजदूरों तथा कृषकों ने अनुभव किया अतः मित्र राष्ट्रों की सरकारें रूसी क्रान्ति के विरुद्ध युद्ध को लोकप्रिय नहीं बना सकती थीं।

4. ट्रॉटस्की के नेतृत्व में जिस सेना का संगठन किया गया था, उसमें अत्यधिक आत्मविश्वास तथा उत्साह था। जिस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति के फलस्वरूप फ्रांस की नयी सेनाओं में जोश तथा उत्साह था और वे आस्ट्रिया तथा प्रशा की प्रशिक्षित सेनाओं को सरलता से हरा सके थे, उसी प्रकार रूस की लाल सेना ने आन्तरिक प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को हराने में सफलता प्राप्त की।

लेनिन की आर्थिक नीति

कृषकों के प्रति—लेनिन ने सत्ता पर अधिकार करने के पश्चात् मार्क्सवादी सिद्धान्त पर आर्थिक ढाँचे का गठन किया था। 8 नवम्बर, 1917 ई. को उसने भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को समाप्त कर दिया। इससे चर्च तथा कुलीन वर्गों की सम्पत्ति कृषकों को दे दी गयी। लेनिन भूमि स्वामित्व का अधिकार राज्य के पास ही रखना चाहता था और भूमि की उपज किसानों को उनकी आवश्यकता अनुसार दे देना चाहता था। कृषक उसके ये सिद्धान्त नहीं समझता था इसीलिए आगे चलकर लेनिन को कृषकों से संघर्ष करना पड़ा। कृषकों से उनकी आवश्यकता से अधिक उपज बिना मूल्य दिये ले ली जाती थी इसलिए कृषकों ने अपनी आवश्यकता से अधिक खेती करना बन्द कर दिया। परिणामस्वरूप 1921 ई. में भयंकर अकाल पड़ा और खाद्यान्न की उपज 1914 ई. की उपज का केवल 40 प्रतिशत ही हुई। लगभग 50 लाख व्यक्ति भूख से मर गये।

उद्योगों के प्रति—इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को पूरी तरह लागू किया। उद्योगों का नियन्त्रण श्रमिकों को दे दिया गया लेकिन स्वामियों तथा श्रमिकों के सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हो पाये, क्योंकि वे इस प्रकार की व्यवस्था के अभ्यस्त नहीं थे। मतभेद से उत्पादन पर प्रभाव पड़ा, विवश होकर सरकार को स्वयं उद्योगों का नियन्त्रण सम्भालना पड़ा। विदेशी युद्धों में व्यस्त रहने, आन्तरिक उपद्रवों को कुचलने तथा प्रशासकीय समस्याओं में उलझे रहने के कारण किसी भी प्रचलित पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन कम होता, और एक पूर्णतया नयी पद्धति विकसित कर पाना सरकार के लिए ऐसे समय में असम्भव-सा ही था। नयी सरकार के लिए नयी पद्धति विकसित करने का प्रभाव उत्पादन की कमी होना स्वाभाविक ही था। 1921 ई. में साम्यवादी रूस में औद्योगिक उत्पादन 1914 ई. के उत्पादन का केवल 13 प्रतिशत था।

लेनिन की नयी आर्थिक नीति—लेनिन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यावहारिक कुशलता थी। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रति आस्था होते हुए भी वह कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की कमी को दूर करना चाहता था, इसके लिए चाहे उसे सिद्धान्तों में कुछ फेर-बदल भी करना पड़े। वह यथार्थवादी था इसलिए उसने एक

नयी आर्थिक नीति अपनायी। अंग्रेजी भाषा के तीनों पहले शब्दों को लेकर इस नीति को नेप (New Economic Policy=NEP) के नाम से पुकारते हैं। इस नीति का संक्षेप में अर्थ था पूँजीवाद तथा सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को वापस लौटाना।

कृषि के क्षेत्र में यह परिवर्तन किया गया कि कृपकों को अपने उत्पादन की एक निश्चित मात्रा राज्य को टैक्स के रूप में देनी होती थी और अधिक उपज वे स्वतन्त्र रूप से बेच सकते थे। थोड़े समय पश्चात् इस टैक्स को भी धन के रूप में निश्चित कर दिया गया। इसका परिणाम आश्चर्यजनक हुआ, 1927 ई. मे 1921 ई की अपेक्षा पाँच गुना अधिक उत्पादन हो गया।

उद्योग के क्षेत्र मे भी पूँजीवाद को आशिक रूप से पुनः स्थापित कर दिया गया। उन उद्योगो को जिनमे 20 से कम श्रमिक काम करते थे, व्यक्तिगत अधिकार मे दे दिया गया। उनके स्वामी अपने लिए कच्चा माल तथा अपने उद्योगो मे निर्मित वस्तुओ को खुले बाजार मे खरीद अथवा बेच सकते थे। बड़े उद्योगो को राज्य के अधीन रखा गया लेकिन उनका प्रशासन संचालको के एक बोर्ड को सौंप दिया गया जो खुले बाजार मे कच्चा माल खरीद तथा उत्पादित वस्तुओ को बेच सकते थे। विदेशी व्यापार पूर्णतया राज्य के अधिकार मे रहा। विदेशी पूँजीपतियों को भी र मे पूँजी लगाने के लिए आमन्त्रित किया गया। फलस्वरूप 1927 ई तक उत्पा 1921 ई. की अपेक्षा 6 गुना अधिक हो चुका था।

'नेप' का मूल्यांकन

'नेप' वास्तव मे समाजवादी तथा साम्यवादी विचारों से कुछ पीछे हटने क प्रतीक थी। इस नीति के परिणामस्वरूप कुछ धनी कृपको का विकास हुआ जि 'कुलक' (Kulaks) कहते है। नगरो मे भी कुछ व्यापारियों तथा उत्पादको के साथ अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक हो गये। व्यावहारिक रूप में नेप के परिणामस्वरू मार्क्स के वर्गहीन समाज का ढाँचा खडा नही हो सका। लेनिन की दृष्टि मे 'नेप एक अल्पकालीन व्यवस्था थी जिसके आधार पर क्रान्ति को सुरक्षित रखा जा सकत था। उसका कहना था कि प्रगति तीन कदम आगे बढ़ाने से तथा दो कदम पीछे हटा से सम्भव है।

साम्यवादी दल

लेनिन ने राज्य का गठन साम्यवादी दल के आधार पर किया था। सैद्धान्तिक रूप मे साम्यवादी दल प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तो पर आधारित था। लेकिन व्यवहार मे यह दल पूरी तरह नियन्त्रित था। रूस में अन्य किसी भी राजनीतिक दल को जीवित रहने का अधिकार नही है। साम्यवादी दल के प्रत्येक सदस्य को काफी लम्बे प्रशिक्षण के पश्चात् दल में सम्मिलित किया जाता था। इस कारण संख्या के हिसाब से इस दल के सदस्यो की संख्या बहुत कम थी। 1939 ई. में भी 17 करोड़ जनसंख्या में इस दल के सदस्यों की संख्या केवल 15 लाख थी तथा प्रशिक्षणार्थियों की संख्या 10

साथ थी। इस प्रकार सत्ता पर अधिकार करने के 22 वर्ष पश्चात् भी केवल डेढ़ प्रतिशत व्यक्तियों को दल की सदस्यता का अधिकार प्राप्त था।

प्रचार साधनों पर पूरा नियन्त्रण स्थापित करके साम्यवाद को राज्य धर्म की संज्ञा दी गयी। साम्यवादियों का कहना था कि धर्म का प्रयोग जनता को नशे में रखने के लिए किया जाता है। इसलिए शिक्षा संस्थाओं मे धार्मिक शिक्षा बन्द कर दी गयी और धर्म का स्थान साम्यवादी दर्शन को प्राप्त हुआ। साम्यवाद केवल एक राजनीतिक तथा आर्थिक दर्शन ही नही था, बल्कि यह धर्म की भाँति एक ऐसे सतयुग की कल्पना भी कराता था जिसमे लोग खुशहाल हो।

साम्यवादी क्रान्ति का महत्त्व

विश्व के इतिहास मे यदि किसी घटना से इस क्रान्ति की तुलना की जा सकती है तो वह है फ्रांस की क्रान्ति। फ्रांस की क्रान्ति यूरोप को पूरी 19वी शताब्दी भर प्रभावित करती रही और राष्ट्रीयता तथा प्रजातन्त्र की जन्मदाता रही लेकिन साम्यवादी क्रान्ति कुछ अर्थों मे फ्रांस की क्रान्ति से भी अधिक प्रभावशाली रही है। इसके कुछ विशेष महत्त्व निम्नलिखित हैं

1. साम्यवादी क्रान्ति को सबसे अधिक लोकप्रियता विकासशील तथा अर्द्ध-विकसित देशो मे मिली। रूस 20वी शताब्दी के आरम्भ मे अन्य पश्चिमी राज्यों से पिछड़ा हुआ था किन्तु लगभग 30-40 वर्षों मे ही वह प्रगति करके किसी भी पश्चिमी राष्ट्र के समान बन गया था। इसलिए साम्यवादी विचारधारा तथा संगठन के आधार पर शीघ्र प्रगति की जा सकती है, यह अपने आप मे साम्यवादी आकर्षण का बड़ा कारण है।

2. साम्यवादी रूस ने यह स्पष्ट कर दिया कि समाजवादी व्यवस्था किसी भी परिस्थिति मे सफल हो सकती है। यह आवश्यक नही था कि साम्यवादी क्रान्ति केवल पूर्ण विकसित तथा औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशो मे ही हो जैसा मार्क्स का कथन था। लेनिन के प्रयत्नो से यह साम्यवादी विचारधारा विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के लिए आकर्षक बन गयी।

3 साम्यवादी क्रान्ति से यह स्पष्ट हो गया कि व्यक्तिवादी विचारधारा के अन्तर्गत प्रगति तथा स्वतन्त्रता केवल एक धोखा है। उदारवादी आधार पर व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक थी क्योंकि उसे आवश्यकता तथा भय से मुक्ति नही मिल पाती थी। भविष्य के लिए भय तथा जीवन की आर्थिक आवश्यकता हमेशा उसकी स्वतन्त्रता मे रोड़ा अटकाते रहते हैं। साम्यवादी रूस ने योजनाबद्ध विकास करके समस्त जनता के लिए रोजगार उपलब्ध कराके और सबके लिए आर्थिक सुरक्षा का प्रबन्ध करके अपने प्रयोग को आकर्षक बना दिया। इसका प्रभाव उन प्रगतिशील तथा औद्योगिक पूँजीवादी देशो पर भी आंशिक रूप से पड़ा जो इसकी राजनीतिक विचारधारा से सहमत नही हैं।

4. इस साम्यवादी क्रान्ति का सबसे बड़ा और गहरा प्रभाव यह रहा है कि

इसने साधारण नागरिक तथा साधारण कृषक का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा उठाया है। प्रत्येक कार्य तथा वस्तु में उनका महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। इसमें देश-प्रेम तथा राष्ट्र-प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण देखने को मिला है। द्वितीय विश्व युद्ध में जो बलिदान रूस के नागरिकों ने किये हैं वे अद्वितीय हैं। और उन बलिदानों का रहस्य था प्रत्येक नागरिक का स्वामित्व का अधिकार तथा भूमि पर नियन्त्रण।

इन सब बातों से यह स्पष्ट हो सकता है कि साम्यवादी क्रान्ति कितनी महत्वपूर्ण थी। यह क्रान्ति 20वीं शताब्दी की सबसे प्रभावशाली घटनाओं में एक है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. इंगलैण्ड और फ्रांस की तुलना में रूस में देर से क्रान्ति होने का कारण था—
   (क) रूस में सामन्तवाद अधिक कठोर था
   (ख) क्रान्तिकारी संगठित नहीं थे
   (ग) रूस में देर से व्यापारिक और औद्योगिक परिवर्तन हुआ
   (घ) रूस की हालत अधिक अच्छी थी ( )
2. रूस की जनता में अपने मौलिक अधिकारों को समझने की तथा प्रजातान्त्रिक विचारधारा पनपी—
   (क) औद्योगिक विकास के कारण
   (ख) बुद्धिजीवियों के प्रचार के कारण
   (ग) प्रथम विश्व युद्ध की असफलता के कारण
   (घ) मजदूर और कृषकों पर अत्यधिक अत्याचारों के कारण ( )
3. रूस में उन क्रान्तिकारियों को, जो उद्देश्य प्राप्ति के लिए आतंकवाद का समर्थन करते थे, कहा गया—
   (क) निहिलिस्ट (ख) कम्युनिस्ट
   (ग) सोशलिस्ट (घ) अराजकतावादी ( )
4. सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के दो टुकड़े हो गये थे, वह थे—
   (क) प्रजा सोशलिस्ट और सोशलिस्ट
   (ख) बोलशेविक और मेनशेविक
   (ग) मेनशेविक और सोशलिस्ट
   (घ) बोलशेविक और सोशलिस्ट ( )
5. बोलशेविक दल का शाब्दिक अर्थ है—
   (क) बहुमत वाला दल (ख) अल्पमत वाला दल
   (ग) मध्यमवर्ग वाला दल (घ) बोलशेविक प्रान्त का दल ( )

6. बोनशेविक क्रान्ति का प्रथम नेता था—
   (क) लेनिन (ख) ट्रॉटस्की
   (ग) केरेन्सकी (घ) स्टालिन ( )
7. 1916-17 की सर्दियों में अनाज की कमी का कारण था—
   (क) समय पर वर्षा नहीं हुई
   (ख) खेती आन्तरिक अशान्ति के कारण नष्ट हो गयी
   (ग) कृषकों के सेना मे भर्ती के कारण खेतो पर काम करने के लिए आदमी न रहे
   (घ) कृषको ने अलाभकर होने के कारण खेती छोड दी ( )
8. क्रान्तिकारियो को राजतन्त्र विरोधी कार्य करने पर प्राय जो सजा दी जाती थी, वह थी—
   (क) पुराने किलों मे कैद करने की
   (ख) राजकीय कार्यों मे बेगार करने की
   (ग) देश से निर्वासन की
   (घ) साइबेरिया मे निर्वासन की ( )
9. लेनिन ने सत्ता पर अधिकार किया—
   (क) संवैधानिक उपाय से (ख) सोवियतों पर अधिकार करके
   (ग) सेना के द्वारा (घ) बोलशेविको की सहायता से ( )
10 लेनिन द्वारा ब्रस्टलिटोस्क की सन्धि करने का उद्देश्य था—
   (क) प्रथम महायुद्ध से रूस को अलग करना
   (ख) जर्मनी को प्रसन्न करना
   (ग) विदेश नीति में सफलता प्राप्त करना
   (घ) मित्र राष्ट्रो से असन्तोष प्रकट करना ( )
11 रूस मे साम्यवादी शासन की जड़ें मजबूत करने मे तथा आन्तरिक शान्ति स्थापित करने मे सबसे अधिक हाथ था—
   (क) चैका का (ख) ट्रॉटस्की का
   (ग) लाल सेना का (घ) स्टालिन का ( )
12. पश्चिमी देशो ने साम्यवादियों से अधिक समय युद्ध न कर अपनी सेनाओ को वापस बुला लिया इसका कारण यह था कि—
   (क) पश्चिमी सेनाएँ पराजित हो रही थी
   (ख) लाल सेनाओ को विजय प्राप्त हो रही थी
   (ग) पश्चिमी सैनिको पर साम्यवाद का प्रभाव पडने का डर था
   (घ) हिटलर के उत्थान का भय था ( )

एक शब्द में उत्तर दो

1. मेनशेविक का शाब्दिक अर्थ——है ।

2. लाल सेना का संगठक था——।
3. जार की पत्नी पर——का बहुत अधिक प्रभाव था।
4. मार्च 1917 ई. की क्रान्ति के समय लेनिन——(देश) में था।
5. निकोलस ने——मार्च——को सिंहासन त्याग दिया।

संक्षेप में उत्तर दीजिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों से अधिक न हो।

1. बोलशेविक और मेनशेविकों मे सैद्धान्तिक अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. रूस का जार अपनी पत्नी एलेक्जांड्रा की हर बात क्यो मानता था ?
3. 'निरंकुश शासन की सफलता के लिए विदेश नीति मे सफलता आवश्यक होती है।' रूस की विदेश नीति की असफलता का कोई एक उदाहरण देते हुए बताइए कि इसका गृह नीति पर क्या प्रभाव पड़ा।
4. रूस की 1917 ई. की क्रान्ति किन दो चरणो में हुई ? पहले चरण के पश्चात् दूसरे चरण की क्यों आवश्यकता पड़ी ? स्पष्ट करो।
5. लेनिन ने सत्ता मे आने से पूर्व कौनसा पांच सूत्रीय कार्यक्रम प्रकाशित किया ? उसकी कोई दो धाराएँ बताइए।
6. पश्चिमी देशों ने लेनिन की साम्यवादी सरकार का क्यो विरोध किया ?
7. 'नेप' का क्या अर्थ है ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रूस की क्रान्ति के कारण बताइए।
2. लेनिन के जीवन और सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।
3. साम्यवादी क्रान्ति का महत्त्व बताओ।

18

तुर्की, मध्य पूर्व अफ्रीका तथा इण्डोनेशिया में राष्ट्रीयता का विकास

तुर्की 1920 ई. के पूर्व—19वी शताब्दी के मध्य से तुर्की यूरोप का 'बीमार पुरुष' कहा जाता था। 20वी शताब्दी के आरम्भ से जर्मनी का प्रभाव तुर्की में बहुत अधिक बढने लगा था। जर्मनी की नि स्वार्थ मैत्री भावना से तुर्की का सुलतान प्रभावित था तथा इगलैण्ड और रूस पर सन्देह की दृष्टि रखता था। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध मे तुर्की जर्मनी और आस्ट्रिया के पक्ष मे लडा था। अक्टूबर 1918 ई में तुर्की ने समर्पण कर दिया था और अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी। तुर्की से सम्बन्धित रूस और इगलैण्ड के बीच गुप्त सधियाँ थी जिनमे रूस का प्रभाव क्षेत्र तथा नियंत्रण बढाने की बात थी। 1918 ई मे रूस मे साम्यवादी क्रान्ति हो जाने से तथा जर्मनी के साथ रूस द्वारा सन्धि किये जाने से रूस को वह सब क्षेत्र नही दिये जा सकते थे। इसलिए मित्र राष्ट्रो मे कुछ मतभेद पैदा हुए जो तुर्की के भविष्य से सम्बन्धित थे। इतना अवश्य निश्चित था कि तुर्की के आधीन विभिन्न राष्ट्रवादियो को तुर्की के नियत्रण से मुक्त कर दिया जायेगा।

सेव्र की सन्धि

अगस्त, 1920 ई मे तुर्की के साथ सेव्र की सन्धि की गयी, यद्यपि यह सन्धि कभी लागू नही हो सकी क्योकि तुर्की ने इसको नही माना। इस सन्धि के अनुसार सेव्र तथा स्मर्ना के प्रदेश और ईजियन सागर मे तुर्की के अधीन द्वीपो को यूनान को दे दिया गया। कुछ अन्य प्रदेशो को इटली को दे दिया गया। डार्डेनलीज के जलडमरू-मध्य को एक अन्तरराष्ट्रीय आयोग के नियत्रण मे कर दिया गया। मध्य पूर्व के प्रदेशो पर से तुर्की का नियत्रण समाप्त कर दिया गया और ये सब प्रदेश इगलैण्ड तथा फ्रास के प्रशासन के लिए राष्ट्रसघ की देखभाल मे रख दिये गये।

सेव्र की सन्धि का विरोध—सेव्र की सन्धि से तुर्की का नियन्त्रण उन सब प्रदेशो पर से समाप्त हो गया जहाँ तुर्क जाति का बहुमत नही था। तुर्की मे सुलतान के अयोग्य प्रशासन तथा विदेशियो के विशेषाधिकारो के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ हो गया था। अक्टूबर 1918 ई. मे युद्ध समाप्ति के पश्चात् मित्र राष्ट्रो ने यूनान को स्मर्ना के प्रदेश पर अधिकार करने के लिए उकसाया था लेकिन तुर्की की सेनाओं ने

मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में यूनानी सेनाओं को हरा दिया। लेकिन इसमें मित्र राष्ट्रों की तुर्की के प्रति नीति से तुर्की में बहुत असन्तोष पैदा हुआ। कमालपाशा ने प्रतिष्ठित व्यक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया और इस्ताम्बुल में इसका अधिवेशन आरम्भ हुआ।

राष्ट्रीय समझौता

इस्ताम्बुल के इस सम्मेलन में एक "राष्ट्रीय पैक्ट" हुआ जिसके अनुसार विदेशियों के विशेषाधिकारों को समाप्त करने तथा राष्ट्रीय हितों तथा इस्ताम्बुल की सुरक्षा और जलडमरूमध्य में व्यापारिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने का निश्चय किया गया। सुलतान को तार भेजकर राज्य के क्षेत्र मित्र राष्ट्रों को देने से मना किया। अंग्रेजों ने इस राष्ट्रीय सभा के सदस्यों को बन्दी बनाना चाहा अतः कमाल-पाशा ने अपने कार्यों का केन्द्र इस्ताम्बुल से हटाकर अंकारा को बनाया। अप्रैल 1920 ई में एक राष्ट्रीय संसद का अधिवेशन अंकारा में आरम्भ हो गया।

कमालपाशा की नयी सरकार का गठन

अंकारा संसद ने कमालपाशा की अध्यक्षता में एक नयी सरकार का गठन किया और इस प्रकार तुर्की में अब दो सरकारें स्थापित हो गयी। कमालपाशा ने सेव्र की सन्धि को क्रियान्वित होने से रोकने का प्रयत्न किया। रूस की साम्यवादी सरकार भी उसकी इस नीति को प्रोत्साहित करती रही। आरम्भ में कमाल ने इटली की सेनाओं को पराजित कर दिया और फ्रांस को सिलिशिया प्रदेश पर नियंत्रण स्थापित न करने दिया, लेकिन बाद में इटली और फ्रांस की सहानुभूति कमालपाशा ने अर्जित कर ली और जब इंगलैण्ड ने कमाल को दबाने का प्रयत्न किया तो उन्होंने कमाल को अपने देशों में सैनिक सामग्री भी खरीदने की अनुमति दे दी। 1921-22 ई. में कमाल ने पर्याप्त सैनिक सफलता प्राप्त की और यूनान की सेनाओं को स्मर्ना से बाहर निकाल दिया। यूनान के इस युद्ध में इटली और फ्रांस तटस्थ रहे। इंगलैण्ड यूनान का समर्थक रहा लेकिन कोई सैनिक सहायता न दे सका। कमालपाशा पूरी तरह सफल हो गया। राष्ट्रीय संसद ने सुलतान महमूद छठे को नवम्बर 1922 ई. में गद्दी से हटा दिया।

लुसान सन्धि सम्मेलन—1923 ई.

तुर्की के संबंध में बदली हुई स्थिति के कारण स्विट्जरलैण्ड में लुसान के स्थान पर सन्धि सम्मेलन आरम्भ हुआ। तुर्की का प्रतिनिधि इस्मतपाशा था। इस सन्धि के अनुसार विदेशियों के विशेषाधिकार समाप्त हो गये। इसके अनुसार थ्रेसका प्रदेश तुर्की को प्राप्त हो गया और मित्र राष्ट्रों ने क्षति के प्रतिबन्ध भी नही लगाये। मित्र राष्ट्रों के आपसी मतभेद तथा युद्ध में पुनः न लड़ने की इच्छा के फलस्वरूप तुर्की सेव्र की सन्धि में संशोधन करवाने में सफल हो सका। लुसान की सन्धि युद्ध के पश्चात् की अन्य सब सन्धियों की तुलना में वास्तव में समानता के आधार पर की गयी थी। तुर्की को इस सन्धि से प्राय. वह सब कुछ प्राप्त हो गया था जो वह राष्ट्रीय समझौता के अनु-सार चाहता था। अन्य सन्धियों की अपेक्षा इसका बलपूर्वक उल्लंघन नही किया गया था।

तुर्की मे सुधार आन्दोलन

राष्ट्रीयता के आधार पर कमालपाशा के नेतृत्व मे तुर्की मे एक नया जीवन पैदा हुआ । उसको शताब्दियो पश्चात् पहली बार सैनिक सफलता मिली थी । वहाँ

विदेशियो के विशेषाधिकार भी समाप्त कर दिये गये थे । इस प्रकार वहाँ के विशाल बहुजातीय साम्राज्य का अन्त हो गया, पुराने भ्रष्ट राजतन्त्र को समाप्त घोषित करके

तुर्की को एक गणतन्त्र घोषित कर दिया गया था, जिसका नेतृत्व कमालपाशा को प्राप्त था। यह उपर्युक्त पृष्ठभूमि थी तुर्की के पुनर्जागरण की।

कमालपाशा का नेतृत्व—तुर्की के पुनरुत्थान में कमालपाशा का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान था। उसका बचपन का नाम मुस्तफापाशा था। वह स्कूल में पढ़ाई में गणित में अन्य सब विद्यार्थियों से होशियार था, इसलिए उसे 'कमाल' की उपाधि दी गयी। तुर्की में अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद उसने अतातुर्क की उपाधि ले ली। अतातुर्क का शाब्दिक अर्थ होता है 'तुर्क का पिता' इसलिए मुस्तफापाशा प्राय. कमाल अतातुर्क के नाम से प्रसिद्ध है। वह एक निर्भय, यथार्थवादी तथा दूरदर्शी व्यक्ति था। वह समझौतों में विश्वास नहीं रखता था, इसके साथ-साथ एक मतान्ध राष्ट्रवादी था और उसका उद्देश्य तुर्की को एक संगठित राज्य में परिवर्तित कर देना था। वह एक महत्त्वाकांक्षी शासक था और तुर्की की काया पलट कर देना चाहता था।

कमालपाशा का उद्देश्य—कमालपाशा ने तुर्की में जर्मनी की भांति तानाशाही प्रथा स्थापित की, लेकिन दोनों में एक अन्तर था। तुर्की में तानाशाही प्रशासन ने देश में प्राय अर्द्धदासता की स्थिति को समाप्त करके जनता को स्वतन्त्र अधिकार प्रदान करवाये, जबकि जर्मनी में एक स्वतन्त्र जनता को अर्द्धदासता में जकड़ दिया गया था। कमालपाशा ने एक प्रजातन्त्रीय ढांचा खडा किया लेकिन उसका सचालन उसने एक तानाशाह की भांति किया। उसका सबसे बडा उद्देश्य तुर्की का पाश्चात्यकरण करना था और वह देश में औद्योगिक प्रगति लाना चाहता था। वह राजनीतिक स्वतन्त्रता से राष्ट्रीयता की भावना विकसित करना तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना करके पुराने बन्धनों से छुटकारा दिलाना चाहता था और देश का आधुनिकीकरण करके सामाजिक प्रगति चाहता था। इस प्रकार वह तुर्की को प्रगतिशील बनाना चाहता था।

मुस्तफा कमालपाशा

इस्मतपाशा इनोनू—कमालपाशा के परामर्शदाताओं में इस्मतपाशा इनोनू का प्रमुख स्थान है। इस्मत का जन्म 1884 ई. में एक वकील के यहाँ हुआ था। वह कमालपाशा के आधीन प्रधान मन्त्री पद पर कार्य करता रहा और कमालपाशा की मृत्यु के पश्चात् तुर्की का राष्ट्रपति बन गया। इस्मतपाशा ने इनोनू के स्थान पर यूनान की सेनाओं को हरा दिया था इसलिए उसके नाम के साथ इनोनू जोड दिया गया था।

वह बडा कुशल कूटनीतिज्ञ था और इसी आधार पर वह लुसान मे काफी सफलता प्राप्त कर सका था।

तुर्की मे सुधार

राजनीतिक सुधार—तुर्की मे राजतन्त्र पिछली कई शताब्दियो से चला आ रहा था। राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना की गयी। एक राष्ट्रीय सभा का चार वर्षों के लिए निर्वाचन किया जाने लगा। यह सभा ही राष्ट्रपति का निर्वाचन करती थी। राष्ट्रपति का कार्यकाल चार वर्षों का होता था लेकिन उसको पुन निर्वाचित किया जा सकता था। कमालपाशा को चार बार राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। राष्ट्रपति अपनी सलाह के लिए एक प्रधान मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल नियुक्त करता था। द्वितीय विश्वयुद्ध तक, तुर्की मे केवल एक ही राजनीतिक दल को कार्य करने का अधिकार था। ऐसी स्थिति मे गणतन्त्र का अध्यक्ष पार्टी का भी अध्यक्ष होता था। कमालपाशा का अधिकार पीपुल्स पार्टी के अध्यक्ष होने के नाते मे इतने लम्बे समय तक प्रचलित रहा।

आर्थिक नीति—राजनीतिक स्वतन्त्रता बिना आर्थिक प्रगति के सम्भव नही थी। आर्थिक प्रगति का अर्थ था औद्योगिक विकास जिसके मार्ग मे अत्यधिक बाधाएँ थी। तुर्की के पहले प्रशासनो ने आर्मीनियन तथा यूनानी जनता पर घोर अत्याचार किये थे। इन दोनो जातियों के लोग अत्यन्त कुशल शिल्पी तथा कारीगर होते थे। इन जातियों की अधिकाश जनता तो पहले ही तुर्की छोडकर चली गयी थी जो कुछ लोग बचे थे वह भी जनसख्या हस्तान्तरण के समय वापस यूनान चले गये। शिल्पियो तथा कारीगरो के इस अभाव को दूर करना शीघ्र सम्भव नही था क्योकि तुर्की की अधिकाश जनता अशिक्षित थी और 80 प्रतिशत से अधिक कृषि पर निर्भर करती थी। इसके अतिरिक्त पूजी का अभाव था। पिछली कई पीढियो से विदेशी शोषण के कारण औद्योगिक प्रगति नही के बराबर ही हुई थी।

कमालपाशा ने तुर्की के आर्थिक विकास को दो चरणो मे बाँट दिया। पहले चरण मे व्यक्तिगत पूंजी सचय तथा व्यक्तिगत उत्साह के आधार पर प्रगति कराने का प्रयत्न किया। लोगों को भूमि प्राप्ति के लिए पर्याप्त सुविधाएँ दी गयी तथा बैंको का गठन किया गया जिससे पूँजी उपलब्ध हो सके। उद्योगो के निर्माण तथा स्थापना के लिए अत्यन्त उदार शर्तों पर ऋण दिये गये। कृषकों को शिक्षित करने के लिए कृषि शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। प्रयोगात्मक फार्म स्थापित किये गये। सरकार ने कृषि उत्पादित वस्तुओं का मूल्य बढाना आरम्भ किया। कृषकों को सैन्य शिक्षा से आंशिक रूप से मुक्त किया तथा उनकी सैनिक प्रशिक्षण की अवधि कम कर दी।

इतना सब करने के पश्चात् भी तुर्की मे विशेष प्रगति नही हो सकी। 1933 ई. के पश्चात् कमालपाशा ने योजनाबद्ध विकास की नीति अपनायी। इन योजनाओं के उद्देश्य उपभोक्ताओं की वस्तुओं का उत्पादन बढाना, निर्यात व्यापार की वृद्धि, आर्थिक आत्म-निर्भरता, देश की एकता तथा सैन्य शक्ति का विकास थे। इस नीति मे

साम्यवादी रूस ने तुर्की को अत्यधिक सहायता की। 1934 ई. में रूस के 80 लाख डालर के ऋण से तुर्की में योजनाबद्ध औद्योगिक विकास आरम्भ हो सका। इसी संदर्भ में रेलो का विकास विशेष महत्व रखता है। तुर्की इस दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ था। रेल लाइनों को विदेशी नियन्त्रण से खरीदकर मुक्त कराया गया।

सामाजिक सुधार—तुर्की के 'बीमार पुरुष' को नया जीवन प्रदान करने में राजनीतिक और आर्थिक सुधार भी इतने महत्वपूर्ण नहीं थे जितने सामाजिक परिवर्तन। *कमालपाशा जानता था कि तुर्की निवासियों पर इस्लाम धर्म का अत्यधिक* प्रभाव है। वह यह भी जानता था कि प्रचलित इस्लाम धर्म कुछ अन्य विश्वासों का एक समूह है। वह यह भी भलीभाँति समझता था कि धार्मिक अन्धविश्वास देश की अन्य प्रगतियों में बाधाजनक हैं। उसके इस्लाम धर्म विरोधी अभियान का एक और भी कारण था। वह यह कि 1920 ई. के राष्ट्रीय पैक्ट को तुर्की के धार्मिक नेताओं ने धर्म विरोधी घोषित किया था। उनका कहना था कि राष्ट्रीय आधारों पर पुनर्निर्माण अधार्मिक है, विशेषकर इसलिए कि इस्लाम अन्तरराष्ट्रीय धर्म है।

कमालपाशा ने धर्म के प्रभाव को कम करने के लिए बड़ी सावधानीपूर्वक कार्य किया।

7. खलीफा के पद का अन्त—खिलाफत (खलीफा का पद) शताब्दियों पुराना *था और 1919-20 ई. में इसके पक्ष में भारत में बड़ा भारी आन्दोलन गांधीजी के* नेतृत्व में आरम्भ किया गया था। कमाल ने इस संस्था को दो चरणों में समाप्त किया: (1) सुलतान के पद का अन्त करके खिलाफत का पद उसके भाई अब्दुल मजीद को दे दिया गया। इस प्रकार इस परम्परा का सूत्रपात हुआ कि वह पद जो वंशानुगत था अब स्वेच्छा से दूसरों को प्रदान किया जा सकता था। इससे इस पद की मर्यादा पर काफी प्रभाव पड़ा। (2) 2 मार्च, 1924 ई. को इस पद को ही समाप्त कर दिया गया। कमाल का यह कहना था कि खिलाफत एक पूर्वकालिक तथा अनुपयोगी संस्था है। कमाल अपने इस कार्य में सफल रहा और उसकी सफलता अंग्रेजों के लिए विशेष कर आश्चर्यजनक रही। यदि उन्हें यह पहले पता होता कि इस संस्था को इतनी सरलता से समाप्त किया जा सकता है तो वे 'कान्सटेण्टिनोपिल' भी तुर्की के अधिकार से छीन लेते। कान्सटेण्टिनोपिल' तुर्की की राजधानी थी, सामरिक दृष्टि से यह नगर अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि काले सागर' से 'भूमध्य सागर' में आगमन के मार्ग का नियंत्रण इस नगर के स्वामी को उपलब्ध रहता था। इस सुधार का परिणाम यह हुआ कि राज्य में धर्म-प्रधान नियमों के स्थान पर पश्चिमी देशों के आधार पर नियमों में परिवर्तन किये गये।

इसी से सम्बन्धित एक और छोटा सुधार था—यह था तुर्की टोपी पहनना अवैध घोषित करना हालांकि इस पर वाद-विवाद बहुत अधिक उठा। तुर्की टोपी का पहनना ही मुसलमानों तथा ईसाइयों में एक मुख्य अन्तर था। कमाल के इस निर्णय से घोर असन्तोष पैदा हुआ क्योंकि पुरुषों का टोपी पहनना तुर्क उतना ही

आवश्यक समझते थे जितना कि स्त्रियों के लिए लहँगा पहनना। इस प्रथा को बन्द करने से उसने तुर्कों को पुरातन प्रभावों से मुक्त कर दिया।

2. इस्लाम का राष्ट्रीयकरण—तुर्की के आधुनिकीकरण के लिए कुछ अन्य सुधार भी आवश्यक थे। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप राज्य में प्रचलित इस्लामी पचाग के स्थान पर पश्चिमी पचाग का प्रयोग आरम्भ कर दिया गया। तुर्की में दिन का आरम्भ सूर्योदय के साथ माना जाता था किन्तु अब मध्य रात्रि से दिन का आरम्भ निर्धारित कर दिया गया। पहले लोग पैगम्बर मुहम्मद के नाम पर ही नामकरण किया करते थे किन्तु कमाल ने सब लोगों को अपने परिवारों के पृथक नाम रखने के लिए बाध्य किया। न्यायालयों में शपथ गणतन्त्र के नाम में ली जाने लगी। धार्मिक पोशाक का मसजिदों तथा गिरजाघरों के बाहर पहनना वर्जित कर दिया गया। शुक्रवार के स्थान पर रविवार को अवकाश दिवस घोषित कर दिया गया और 1928 ई. में इस्लाम की राजधर्म के रूप में मान्यता समाप्त कर दी गयी। कुरान का तुर्की भाषा में अनुवाद कराया गया। सार्वजनिक शिक्षा सस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। मुल्लाओं तथा मौलवियों की शिक्षा में भी थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया। इस प्रकार तुर्की ने जान-बूझकर इस्लाम की परम्पराओं तथा धार्मिक बन्धनों से छुटकारा पा लिया और पाश्चात्य सभ्यता तथा सस्कृति का अनुकरण करने लगा।

स्त्रियों की स्थिति में सुधार—इस्लाम के नियमों के अधीन स्त्रियों का समाज में निम्न स्थान था। उन्हें सदा पर्दे में रहना पड़ता था। शिक्षा का उनके लिए कोई प्रबन्ध नहीं था। उनको बड़ी सरलता से तलाक दिया जा सकता था। 1924 ई. में खिलाफत सस्था के समाप्त किये जाने के पश्चात् स्त्रियों की स्थिति में सुधार किये गये। 1925 ई. में बहु-विवाह प्रथा को समाप्त कर दिया गया और 1926 ई. में सिविल विवाह को आवश्यक घोषित कर दिया गया। 1927 ई में उन्हें पाश्चात्य पोशाक पहनने के लिए प्रोत्साहित किया गया। बुर्का पहनने पर प्रतिबन्ध लगाये गये। 1929-30 ई. में स्त्रियों को मतदान में भाग लेने तथा स्थानीय सस्थाओं की सदस्यता में भाग लेने का अधिकार दे दिया गया तथा 1934 ई में उन्हें राष्ट्रीय सभा की सदस्य बनने का अधिकार भी प्रदान कर दिया गया।

अन्य सुधार—इन सब सुधारों के आधार पर भविष्य का निर्माण करने के लिए शिक्षा सस्थाओं में भी सुधार करना आवश्यक था। इसलिए इस्ताम्बूल विश्वविद्यालय का पुनर्गठन किया गया। अकारा में एक नया विश्वविद्यालय खोला गया। 7 वर्ष से 12 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए आवश्यक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। वयस्कों तथा वृद्ध पुरुषों के लिए भी रात्रि स्कूलों की व्यवस्था की गयी और व्यावसायिक स्कूलों की व्यवस्था की गयी। तुर्की में मलेरिया की बीमारी बहुत अधिक फैलती थी अत अब उस पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया गया।

कमालपाशा की विदेश नीति

कमालपाशा की विदेश नीति भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी उसकी गृह

नीति। पिछले 100 वर्षों से भी अधिक समय से यूरोपीय देशों का तुर्की की विदेश नीति पर नियन्त्रण चला आ रहा था। कमाल उसे समाप्त करना चाहता था। वह समानता के आधार पर नयी विदेश नीति का निर्माण करना चाहता था। मुख्य रूप से वह तुर्की के लिए शान्ति चाहता था और इसलिए उसे संघर्षों से अलग रखना चाहता था। वह जलडमरूमध्य पर तुर्की का नियन्त्रण करने का इच्छुक था और यह केवल पश्चिमी राष्ट्रों से मैत्री के आधार पर ही सम्भव था। सौभाग्य से पश्चिमी राष्ट्रों तथा रूस के आपसी मतभेद से तुर्की को बहुत लाभ हुआ।

रूस से मित्रता—सबसे पहले तुर्की की रूस के साथ मैत्री हुई। इसका कारण भी सरल था। रूस यूरोपीय देशों की बिरादरी के बाहर था तथा पूरी 19वी शताब्दी भर रूस के तुर्की के प्रति आक्रमणात्मक इरादे रहते थे। साम्यवादी रूस ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध नारा लगाकर तुर्की को अपने पक्ष मे कर लिया। अतः 1921 ई. मे रूस-तुर्की के बीच मास्को सन्धि पर हस्ताक्षर हुए।

कमालपाशा ने अन्य पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। यूनान के साथ वैमनस्यता के सम्बन्ध दूर करके 1930 ई मे मित्रता स्थापित की गयी और 1934 ई बल्कान पैक्ट पर हस्ताक्षर किये गये। इसी प्रकार 1937 ई. मे दक्षिण मध्य पूर्व के देशों के साथ एक समझौता किया गया। इस समझौते मे अफगानिस्तान, ईराक, ईरान तथा तुर्की ने एक-दूसरे की राजनीतिक सीमाओं को सुरक्षित रखने की, एक-दूसरे की आन्तरिक नीतियों में हस्तक्षेप न करने की तथा आपसी मतभेदों का मध्यस्थ द्वारा निर्णय कराने की बात स्वीकार की।

राष्ट्रसंघ की सदस्यता—1932 ई. मे तुर्की ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार की। तुर्की समझता था कि ऐसा करने से वह स्थिति को अपरिवर्तित बनाये रखने मे समर्थ हो सकेगा। 1934 ई. में तुर्की को राष्ट्रसंघ की कौंसिल की अस्थायी सदस्यता के लिए निर्वाचित कर लिया गया। यूरोप की तनावपूर्ण स्थिति को देखकर तथा रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए पश्चिमी राष्ट्र तुर्की को सन्तुष्ट रखना चाहते थे। 1935 ई अक्टूबर-नवम्बर मे जब राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाये तब तुर्की ने इस नीति का समर्थन किया।

मोन्ट्रिओं सम्मेलन—1936 ई.

हिटलर के राईन प्रदेश पर अधिकार कर लेने से पश्चिमी राष्ट्रों को बहुत चिन्ता हुई। इसलिए निकटपूर्व मे रूस की महत्वाकांक्षा को रोकने के लिए तुर्की को प्रसन्न रखना आवश्यक था। 1936 ई मे मोन्ट्रिओ के स्थान पर जुलाई 1936 ई मे एक सम्मेलन हुआ, जिसमे तुर्की को जलडमरूमध्य की सैनिक सुरक्षा का भार सौंप दिया गया। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण समझौता था और प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् की गयी सन्धियों का पहला परिवर्तन था। यह एक प्रकार से तुर्की के महत्व को स्वीकार करना था। कमालपाशा की विदेश नीति की यह सबसे बड़ी सफलता मानी जाती है।

तुर्की को विदेशी नियन्त्रण तथा प्रभाव से मुक्त होने के लिए यह भी आव-

श्यक था कि आर्थिक क्षेत्र मे विदेशी कम्पनियो तथा सरकारो का नियन्त्रण समाप्त कर दिया जाय। अतः 1934 ई. मे अधिकांश विदेशी कम्पनियो को खरीद लिया गया, अथवा उन पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लागू किये गये। सब विदेशियो को विभिन्न व्यवसायों से निकाल दिया गया, विशेषकर ऐसे स्थानों से जहा हाथ से कार्य करना आवश्यक हो।

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व

1938 ई. के पश्चात् तुर्की अपनी सुरक्षा के लिए अधिक चिन्तित था। फ्रास तथा इगलैण्ड दोनो ने तुर्की को खुश करने का प्रयत्न किया और अक्टूबर 1939 ई. मे तुर्की ने इगलैण्ड तथा फ्रांस के साथ मैत्री सन्धि की जिसके अनुसार उसने बल्कान प्रायद्वीप मे इटली अथवा जर्मनी के आक्रमण का विरोध करने का वायदा किया और उसके बदले मे इगलैण्ड तथा फ्रास ने तुर्की पर आक्रमण के समय उसकी रक्षा का वचन दिया। इगलैण्ड ने तुर्की को काफी बडी धनराशि भी ऋण के रूप मे दी जिससे वह अपनी सैनिक शक्ति का पूरा विकास कर सके।

इस प्रकार तुर्की दोनो विश्व युद्धो के मध्य पहले की अपेक्षा कही अधिक प्रभावशाली बन गया। तुर्की का नया विकास कमालपाशा के व्यक्तित्व पर बहुत अधिक आधारित था और यह विकास उसी समय सम्भव हो सका जब उसने उन प्रदेशो पर से अपना नियन्त्रण समाप्त कर दिया जहाँ तुर्क नही रहते थे।

1939 ई मे तुर्की के विषय मे यह कहना कठिन था कि वह साम्यवादी है या प्रजातन्त्रवादी अथवा तानाशाही नियन्त्रण मे, क्योंकि उसमे इनमे से प्रत्येक की विशेषता विद्यमान थी। विचारो की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध भी थे, लेकिन उतने अधिक नही जितने इटली अथवा जर्मनी मे थे। प्रशासनिक प्रणाली प्रजातान्त्रिक थी और फिर भी एक तानाशाह का अधिकार था और देश मे किसी अन्य विरोधी दल का अस्तित्व नही था।

अरब मे राष्ट्रीय जागरण

20वी शताब्दी में पश्चिमी एशिया मे राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। इस क्षेत्र मे पश्चिमी देशों का कुछ नियन्त्रण था। लेकिन इस्लाम धर्म के फैले होने के कारण इन देशो का तुर्की से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस क्षेत्र मे अरब, फिलिस्तीन, सीरिया, आर्मीनिया आदि प्रदेश ऐसे थे, जहाँ अरब राष्ट्रीयता का विकास हो सका था। 1920 ई. की सेव्र की सन्धि से तुर्की ने इन सब प्रदेशो पर से अपना नियन्त्रण समाप्त कर दिया था। 1920 ई. की लुसान की सन्धि ने भी इस क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नही किया था।

राष्ट्रीयता के विकास मे सहायक तत्त्व

राष्ट्रीयता के विकास मे निम्नलिखित तत्त्व मुख्य रूप मे सहायक हुए:

1. अरब राष्ट्रीयता के विकास मे सबसे अधिक सहायक तत्त्व इन विभिन्न देशो मे सामान्य सांस्कृतिक एकता तथा अरबी भाषाई एकता है। इन प्रदेशो के भूतकाल का सम्मिलित इतिहास भी इस भावना को प्रेरणा देता रहा था कि वह वैभव

जो अरब प्रदेश ने हजरत मुहम्मद के अनुयाइयों के समय मे प्राप्त किया था, पुनः प्राप्त किया जा सकता है, यदि वे प्रदेश पुनः राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर लें।

2. प्रथम विश्व युद्ध मे तुर्की ने केन्द्रीय राज्यों का समर्थन किया था और अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के विरुद्ध "जिहाद" का नारा लगाया था। "जिहाद" का अर्थ होता है 'धार्मिक युद्ध'। तुर्की के सुल्तान ने धर्म के नाम पर अरब प्रदेश को इंगलैण्ड तथा फ्रांस के विरुद्ध भड़काना चाहा था और अंग्रेजों ने तुर्की के विरुद्ध इन इस्लामी प्रदेशों की सहायता लेने के लिए उनमें तुर्की के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना को भड़काया।

3. युद्ध के समय इंगलैण्ड ने पर्याप्त मात्रा में प्रचार तथा धन इस बात पर खर्च किया था कि अरब राष्ट्रीयता के आधार पर एक पृथक साम्राज्य का गठन हो सके। लेकिन इस प्रचार से वह तो सम्भव नही हो सका जो अंग्रेज चाहते थे लेकिन पृथक राज्यों मे पृथक राष्ट्रीयता की भावनाएँ अवश्य जागृत हो गयी। अरब प्रायद्वीप मे स्वय दो मुख्य गुट थे जिनमें आपसी भेदभाव बहुत अधिक था।

4. पश्चिमी देशों के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामरिक हित स्वय इस पक्ष में नही थे कि समस्त क्षेत्र मे एक अरब राज्य का विकास हो। इसके अतिरिक्त विभिन्न मित्र राष्ट्रों में गुप्त समझौते इस विषय से संबंधित थे। इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस मे युद्ध के बीच यह तय हो गया था कि किस राज्य पर किस देश का नियन्त्रण हो।

5. तुर्की मे कमालपाशा के नेतृत्व मे तथा मिस्र मे जगलुलपाशा के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ हो जाने से समस्त अरब प्रायद्वीप मे राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुए। इसके अतिरिक्त अंग्रेजो ने युद्ध के समय यहूदियों को भी एक राष्ट्रीय राज्य बनाने का आश्वासन दे दिया था। वह राष्ट्रीय राज्य भी इसी प्रदेश मे स्थापित करने को बात थी। इस आश्वासन ने इस समस्त क्षेत्र को अर्द्धशताब्दी से भी अधिक समय तक तनावपूर्ण वातावरण में डुबो दिया। इसका अरब राष्ट्रीयता पर काफी प्रभाव पडा।

1919 ई. के पश्चात् अरब क्षेत्र

अरब राष्ट्रीयता किस सीमा तक पश्चिमी साम्राज्यवादियों का प्रोत्साहन था, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इंगलैण्ड और फ्रांस ने युद्ध समाप्ति पर इन सब क्षेत्रों को आपस में संरक्षण (मैण्डेट) प्रणाली के आधार पर प्रभाव क्षेत्रों मे बाँट लिया। अरब राष्ट्रीय आन्दोलन इसे रोकने मे असमर्थ रहा। इसका एक यह भी परिणाम हुआ कि अरब राष्ट्रीयता और पश्चिमी शक्तियों में संघर्ष हुआ और दूसरा परिणाम यह निकला कि अरब प्रदेशों मे अन्य अल्पसंख्यक जातियों का अरब राष्ट्रवादियों से संघर्ष अधिक बढ़ा।

युद्ध के पश्चात् रेगिस्तानी प्रायद्वीप को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया और 1919 ई. मे पाँच स्वतन्त्र अरब राज्य इस क्षेत्र मे स्थापित किये गये। हजाज मे शरीफ

हुसैन, यमन मे इमाम यह्या, नज्द मे इब्न सउद, असीर में इद्रिसी मुहम्मद तथा शमर मे इब्न रशीद स्वतन्त्र शासक बन गये। तटवर्ती क्षेत्रो मे अंग्रेजो के संरक्षण मे शेखो की रियासतें थी।

अन्य अरब राज्यो मिस्र, ईराक तथा फिलिस्तीन मे अंग्रेजो को तथा सीरिया, लेबेनान मे फ्रान्सीसियो को प्रशासन अधिकार दिया गया। 1919-39 ई. का इतिहास इन राष्ट्रो मे राष्ट्रीयता के विकास तथा पश्चिमी देशो से संघर्ष का इतिहास है। इस समय मे इस क्षेत्र के राष्ट्रवादी बडी सरलता से सुविधाएँ प्राप्त कर सके क्योंकि इस समय मे इगलैण्ड के दृष्टिकोण मे परिवर्तन आ चुका था। इसके अतिरिक्त इगलैण्ड के नीति निर्माता भविष्य मे अपने हितो को सुरक्षित रखने के लिए इन अरब राज्यों को प्रसन्न करने के पक्ष मे थे। लेकिन फ्रास की नीति कुछ भिन्न थी। फ्रास अपने साम्राज्यवादी प्रशासन को अत्यधिक कठोर बनाना चाहता था।

अरब राष्ट्रीय आन्दोलन

ईराक में—प्राचीन काल का मेसोपोटामिया आधुनिक ईराक है। अप्रैल 1920 ई. मे इस क्षेत्र पर अंग्रेजो का सरक्षण स्थापित हो गया था, लेकिन जुलाई 1920 ई मे यहाँ अंग्रेजो के विरुद्ध जिहाद का नारा लगाकर भारी सख्या मे अंग्रेजी सैनिको एव नागरिको का कत्ल कर दिया गया। 1921 ई. के पश्चात् ही इगलैण्ड ने एक अस्थायी ईराकी सरकार का गठन किया और एक राज्य परिषद् की स्थापना की। इस परिषद को ईराक के लिए मौलिक विधि सहिता तैयार करने के लिए कहा गया। 1921 ई. में ही अमीर फैसल को ईराक का शाह घोषित किया गया, लेकिन अभी तक पूर्ण स्वतन्त्रता ईराक को प्रदान नही की गई थी। अंग्रेजी हाई कमिश्नर तथा अंग्रेजी सलाहकारो को ही अन्तिम निर्णय का अधिकार था। अत 1922 ई. मे पुन अंग्रेजो के विरुद्ध एक भयकर उपद्रव हुआ।

1922 से 1930 ई. के मध्य अंग्रेजों ने कई बार ईराक से सन्धि की और हर बार विवश होकर अधिक सुविधाएँ ईराक को दी गयी। 1925 ई तक ईराक की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया। 1922 ई. मे इगलैण्ड ने ही ईराक को राष्ट्रसघ का सदस्य बनाया। इस समय अंग्रेजी सरक्षण भी समाप्त कर दिया गया। 1933 ई. मे शाह फैसल की मृत्यु हो गयी और उसके पुत्र गाजी ने अरब एकता के लिए प्रयत्न किया। ईराक के साथ सरक्षण अधिकार इतनी शीघ्रता से समाप्त हो गये कि फ्रास को चिन्ता हो गयी कि उसे भी अपने संरक्षित प्रदेशो को शीघ्र स्वतन्त्र करना पडेगा क्योंकि ईराक के उदाहरण से अरब जगत मे राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गयी थी।

सीरिया तथा लेबनान मे—1920 ई. मे इस क्षेत्र के सरक्षण का उत्तरदायित्व फ्रास को सौपा गया था। फ्रास ने इस क्षेत्र में इगलैंड की नीति के विरुद्ध नीति अपनायी। उसने सीरिया का प्रशासन प्रदेश के कई भागो मे विभाजित कर दिया था। ईराक को प्राय स्वतन्त्रता मिल जाने के फलस्वरूप 1928 ई मे फ्रांस ने

भी सीरिया मे सविधान सभा के गठन के लिए निर्वाचन करवाये और इस सभा को एक सविधान निर्माण का कार्य सौंपा। राष्ट्रवादियों को इस सभा में पूरा बहुमत प्राप्त हुआ क्योंकि उन्होने एक स्वतन्त्र राज्य की माग रखी थी। फ्रास ने इस सभा को निलम्बित कर दिया और 1930 ई. मे अपनी ओर से एक नया सविधान स्थापित कर दिया जिसके अनुसार फ्रास का सीरिया की विदेश नीति पर पूर्ण नियन्त्रण था। इस समय ईराक पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर बढ रहा था इसलिए सीरिया में भी स्वतन्त्रता के लिए घोर सघर्ष हुआ। विवश होकर फ्रांस को सीरिया के राष्ट्रवादियो को प्रशासनिक उत्तरदायित्व सौंपना पड़ा। जब इंगलैण्ड ने मिस्र के साथ 1936 ई में मैत्री सन्धि की, तब फ्रास ने भी सीरिया के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार तीन वर्ष पश्चात् सीरिया को स्वतन्त्रता देने का वायदा किया गया था और यह आश्वासन भी दिया गया था कि फ्रास उसे राष्ट्रसघ का सदस्य बनवायेगा। लेकिन इस सन्धि को फ्रास की लोक सभा ने मान्यता प्रदान नही की और 1936 ई. तक फ्रांस का नियन्त्रण स्थापित रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध मे, 1941 ई. मे सीरिया तथा लेबनान को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गयी।

मिस्र में—प्रथम विश्व युद्ध के समय इंगलैण्ड ने 1914 ई. मे मिस्र को अंग्रेजी सरक्षित राज्य घोषित कर दिया और मिस्र के शासक की उपाधि को 'खेदिव' के स्थान पर 'सुलतान' नाम दे दिया। 1917 ई. को सुलतान फुआद के गद्दी पर बैठने के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन तेज हो गया। इस आन्दोलन का नेता जगलुलपाशा था। अंग्रेजो ने जगलुल को बन्दी बनाकर माल्टा द्वीप में भेज दिया। इस प्रकार मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को 60,000 सैनिको की सहायता से दबाया गया।

1921 ई. मे अंग्रेजो ने मिस्र के सुलतान के साथ एक समझौता किया जिसे राष्ट्रवादियो ने अस्वीकार कर दिया। लेकिन अंग्रेजो ने अपनी ओर से इस समझौते के अनुसार एक ससद का निर्वाचन करवाया। इस संसद में राष्ट्रवादियों ने ही अपना बहुमत स्थापित कर लिया और अंग्रेजों को विभिन्न सुविधाएँ देने पर बाध्य किया। 1936 ई. मे इंगलैण्ड को मिस्र के साथ एक सन्धि करनी पड़ी जिसमें इंगलैण्ड को सरक्षक के स्थान पर मित्र की उपाधि दी गयी तथा मिस्र की स्वतन्त्रता स्वीकार करली गयी और वहां से अंग्रेजी सेनाओं को हटा लेने का वायदा किया। 1937 ई. मे मिस्र को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना दिया गया और मोन्त्रो (स्विट्जरलैण्ड) के स्थान पर एक अन्तरराष्ट्रीय समझौते के अनुसार विदेशी न्यायालयो और विदेशियो के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में मिस्रवासियों ने इंगलैण्ड से मांग की कि वह स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेनाएँ हटा ले। 1951 ई. मे राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों ने 1936 ई. की सन्धि का विरोध किया। 1952 ई. में मिस्र में विदेशियों की सम्पत्ति को बहुत नुकसान पहुँचाया गया। सुलतान के अंग्रेज समर्थक होने के कारण उसे पदच्युत करके 1953 ई. मे मिस्र को जनरल नगीब के नेतृत्व मे एक गणतन्त्र राज्य घोषित कर दिया गया।

फिलिस्तीन की समस्या—अरब राष्ट्रीयता की भावना को प्रभावित करने वाला एक और तत्व था। युद्ध के समय अंग्रेजों द्वारा यहूदियों के लिए फिलिस्तीन में एक राष्ट्रीय निवास स्थान का उद्घोष। यहूदी अरब जातीय बहुलता वाले क्षेत्र में एक ऐसा राज्य स्थापित करना चाहते थे जो स्वतन्त्र हो उनके प्रभाव में भी रह सके। यहूदियों का मूल निवास स्थान फिलिस्तीन ही था और 19वीं शताब्दी के अन्त में थियोडर हर्ज़ल ने यह दावा किया था कि यहूदियों का राष्ट्रीय निवास स्थान फिलिस्तीन है और वहीं उन्हें वापस मिलना चाहिए।

1919 ई. में अंग्रेजों को फिलिस्तीन का संरक्षण प्राप्त हुआ। उस समय तक फिलिस्तीन में यहूदी अल्पसंख्यक थे और 1920 ई. में उनकी संख्या 70 000 के लगभग थी लेकिन उसके पश्चात् यहूदियों के आगमन का जो तांता लगा तो 1938 ई. में उनकी संख्या लगभग 5 लाख हो गयी। हिटलर द्वारा यहूदियों पर अत्याचार, उनके फिलिस्तीन आने में बहुत सहायक हुए। ये यहूदी औद्योगिक तथा वैज्ञानिक निपुणता में बहुत बढ़े-चढ़े थे और वे अधिक सम्पन्न भी थे इसलिए उन्होंने अरब निवासियों से भूमि खरीदकर तथा अन्य तरीकों से उन्हें हटाकर उन स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने इस बात का प्रयत्न किया कि यहूदी भी अपनी पृथक राष्ट्रीयता का विकास कर सकें तथा अरब भी अपनी सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता बनाये रख सकें, लेकिन इसमें कोई विशेष सफलता उन्हें नहीं मिली। झगड़े का मूल कारण था कि यहूदी फिलिस्तीन को अपना क्षेत्र बनाना चाहते थे और अरब उसको अपने अधिकार में रखना चाहते थे।

1922 ई. तथा 1936 ई. में अंग्रेजों ने फिलिस्तीन में एक संसद का अधिवेशन बुलाने का प्रयास किया लेकिन उन्हें कोई सफलता न मिली। यह क्षेत्र विभिन्न उपद्रवों का केन्द्र बना रहा। 1936 ई. के पश्चात् अरब-यहूदी संघर्ष अत्यन्त भयंकर हो उठे। 1937 ई. में इंगलैण्ड ने दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों से लन्दन में बातचीत करके एक राज्य बनाने का प्रस्ताव रखा जिसमें यहूदियों के विशेषाधिकार सुरक्षित रखे जाने की बात कही गयी थी लेकिन इस पर भी विरोधी पक्षों में एकता नहीं हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी अरब-यहूदी संघर्ष चलता रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ ने नवम्बर 1947 ई. में फिलिस्तीन को दो भागों में विभक्त करने का निश्चय किया।

अरब और यहूदी राष्ट्रवादी सैनिकों ने इस विभाजन को स्वीकार नहीं किया। इंगलैण्ड दोनों के सशस्त्र विरोध एवं विद्रोह से परेशान हो चुका था। अत उसने मई 1948 ई. में अपने संरक्षण को समाप्त घोषित कर दिया। यहूदियों ने तुरन्त तेल अवीव में अपनी राजधानी बनाकर एक स्वतन्त्र इजरायल राज्य की स्थापना की। अरब राज्यों ने इजरायल पर आक्रमण कर दिया और 1949 ई. में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा युद्ध विराम करवाया गया। 1967 ई. में दूसरी बार फिर युद्ध आरम्भ हुआ और इजरायल अपने कुशल सैन्य बल के आधार पर सफल रहा। लेकिन तनावपूर्ण स्थिति अभी भी बनी हुई है।

पूर्वी अफ्रीका तथा इण्डोनेशिया में राष्ट्रीयता का विकास

1955 ई. तक अफ्रीकी महाद्वीप का अधिकांश भाग विभिन्न यूरोपीय राज्यों के अधिकार में था। उन्होंने औपनिवेशिक प्रशासन की स्थापना की थी। इस प्रशासन से केवल तीन राज्य बचे हुए थे—इथोपिया जो 1941 ई. में इटली की पराजय के पश्चात् पुन. स्वतंत्र हो गया था, मिस्र जिसको 1936 ई. के बाद प्रायः स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी थी और 1952 ई. में यह गणराज्य घोषित कर दिया गया था। और तीसरा राज्य
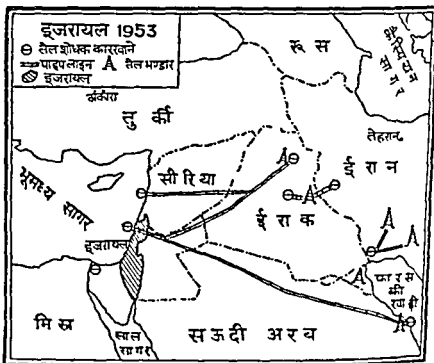
था लिबेरिया जो 1847 ई. से एक स्वतन्त्र गणराज्य था। अगले 10-12 वर्षों में अफ्रीका के अधिकांश देश स्वतन्त्र हो गये। अफ्रीका के ये परिवर्तन कुछ तो अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के फलस्वरूप हुए और कुछ राष्ट्रीय विचारधाराओं के आधार पर।

आधुनिक अफ्रीका में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल है लेकिन इसका महत्व तथा प्रभाव विभिन्न राज्यों में अलग-अलग रहा है। वास्तव में राष्ट्रीयता की भावना विदेशी औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुई है। इसीलिए इस राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति गोरी जातियों के विरुद्ध उपद्रवों के रूप में भी व्यक्त हुई है। इस राष्ट्रीयता से केवल राजनीतिक एकता ही प्राप्त नहीं हुई, बल्कि एक मानवीय सम्मान प्राप्त हुआ है जो उस समय प्राप्त नहीं था, जब ये देश उपनिवेश की स्थिति में थे।

इस राष्ट्रीयता के विकास में कुछ बाह्य तत्व भी सहायक हुए हैं। राष्ट्रीयता

के विकास मे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम, संयुक्त राज्य अमरीका के नीग्रो संघर्ष त
रूस और चीन की साम्यवादी क्रान्ति का प्रभाव सहायक रहा है। लेकिन अधिक
राज्यो मे राजनीतिक विकास पृथक-पृथक हुआ है और एक अखण्ड अफ्रीका की क
का बहुत कम प्रभाव रहा है।

अफ्रीका में राष्ट्रीयता का विकास—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अफ्रीका
विदेशी नियन्त्रण के विरुद्ध एक जागृति आरम्भ हुई। पश्चिमी देशो ने 19वी शता
के अन्त से अपने उस उत्तरदायित्व को पूरा नही किया था जिसका उन्होने 1885
के बर्लिन सम्मेलन मे ढिंढोरा पीटा था। उन्होंने अफ्रीकी देशों को सभ्य बनाना 'ग
आदमी पर लादा गया बोझ' बताया और सबने मिलकर अफ्रीकी देशो तथा जाति
का इतना शोषण किया कि अफ्रीका के कुछ निवासियों को 'काले आदमी पर लादे ग
बोझ' के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा।

इस प्रकार की भावनाएँ तथा आन्दोलन सबसे पहले पूर्वी अफ्रीका (कीनिय
में व्यक्त किये गये। वहाँ अंग्रेजो का प्रशासन था और उनके विरुद्ध विद्रोह 1918
के पश्चात् ही आरम्भ हो गया था। 1921 ई. मे कुछ आर्थिक मन्दी के कारण अंग्रे
मालिको ने काले मजदूरों की छँटनी कर दी। इस समय हैरी ठुकु ने 'ईस्ट अफ्रीक
नेटिव एसोसियेशन' की स्थापना की और विरोध सभाएँ की। वह अत्यन्त प्रभा
शाली नेता सिद्ध हुआ। उसके भाषण यूरोपीय जातियो के विरोध मे होने लगे औ
1922 ई. मे उसे बन्दी बना लिया गया। उसे छुडाने के लिए नागरिको मे त
पुलिस मे मुठभेड हुई और कुछ अफ्रीकी मारे गये। ठुकु को देश से निकाल दिया ग
और आन्दोलन कुछ शान्त हो गया।

यूरोपीय जातियो द्वारा रंगभेद नीति से अफ्रीकी देशो मे असन्तोष बढ र
था। इस असन्तोष को सबसे पहले पूर्वी अफ्रीका मे कीनिया मे व्यक्त किया गया
कीनिया की किम्यू जाति के नेता जोमो कीन्याटा ने एक 'किम्यू केन्द्रीय संघ' क
स्थापना 1922 ई. मे की। जोमो कीन्याटा इस संघ का महामन्त्री था। जातीयत
के अतिरिक्त इस आन्दोलन के आर्थिक कारण भी थे। भूमि का अधिकाश भाग अंग्रेज
ने अपने अधिकार में कर रखा था। कीनिया की स्थानीय जाति किम्यू के पास भूमि
का अभाव था। इसलिए असन्तोष बढता रहा। द्वितीय विश्व युद्ध मे 'किम्यू केन्द्री
संघ' अवैध घोषित कर दिया गया। तब इसके स्थान पर 'कीनिया अफ्रीकी संघ' क
स्थापना 1944 ई मे की गयी। इस संघ का अध्यक्ष जोमो कीन्याटा ही हुआ औ
इसका समर्थन कीनिया के अधिकाश अफ्रीकी नेताओ ने किया था। यह संघ तो राज
नीतिक गतिविधियो मे उलझा रहा लेकिन इसी समय एक और गुप्त समुदाय "माउ
माउ" के नाम से गठित हुआ। इस गुप्त संस्था ने 1952 ई. के पश्चात् गोरे लोगों क
हत्या करने का काम संभाला। अंग्रेजो ने यह समझा कि "माउ-माउ" संगठन ए
प्रकार से कीनिया अफ्रीकी संघ का ही कोई भाग है या उससे प्रेरणा प्राप्त करता
अत अंग्रेजो ने जोमो कीन्याटा पर यह अभियोग लगाया कि वह ही वास्तव मे "माउ

माउ" सगठन का संचालक है । यह मुकदमा पांच महीनों तक चला और इससे विश्व भर मे कीनिया के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रकट की गयी । जोमो को अपराधी घोषित कर दिया गया और उसे 7 वर्ष की कैद का दण्ड दिया गया। 1956 ई. मे "माउ-माउ" सगठन के अन्य नेताओ को अंग्रेजो ने मरवा दिया ।

1960 ई. में कीनिया अफ्रीकी राष्ट्रीय सघ (अग्रेजी के शब्दो के पहले अक्षरों से बना हुआ इसका सक्षिप्त रूप 'कानू')का अध्यक्ष जोमो कीन्याटा को बनाया गया। जोमो अभी तक देश के बाहर कैद था । 1962 ई. मे जोमो को छोड दिया गया और उसने अग्रेजों की सहमति से कीनिया के लिए एक नया सविधान तैयार किया। जोमो को इस नये सविधान के अन्तर्गत मन्त्री नियुक्त किया गया । 1963 ई. मे पहली बार सामान्य निर्वाचन हुए और 'कानू' को बहुमत प्राप्त हो गया । जोमो कीनिया का पहला प्रधान मन्त्री बना और इस प्रकार दिसम्बर 1963 ई. में कीनिया स्वतन्त्र हो गया । जोमो कीन्याटा एक पक्का राष्ट्रवादी नेता था जिसका समस्त पूर्वी अफ्रीका में अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान रहा है ।

इण्डोनेशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन—इण्डोनेशिया पर नीदरलैंण्ड (डच) का अधिकार था । जिस समय भारत मे अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था उसी समय डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पूर्वी द्वीपसमूह पर अपना अधिकार कर लिया था । ये द्वीपसमूह ही 20वी शताब्दी मे इण्डोनेशिया के नाम से सगठित होकर एक पृथक राज्य बने हैं ।

20वी शताब्दी के पहले दशक मे इन द्वीपो मे राष्ट्रीय आन्दोलन बड़ी तेज गति से फैला । 1908 ई. मे पहली स्थानीय पार्टी 'बोयेदीओसटोमो' बनी । इसका कोई राजनीतिक लक्ष्य नही था । यह एक बौद्धिक जागरण का प्रतीक सगठन था जो कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्वाधीन एशिया की कल्पना से प्रेरणा लेता था। यह आन्दोलन इस्लामी राष्ट्रीयता से कम और भारतीय आन्दोलन से अधिक प्रभावित था यद्यपि यह आन्दोलन बहुत प्रभावशाली तो कभी नही हुआ ।

1910 ई. मे 'सरेक्त इस्लाम' का सगठन किया गया । यह दल इस्लाम धर्म के आधार पर सगठन कर रहा था तथा राजनीतिक और सामाजिक सुधार चाहता था और समस्त द्वीपसमूह के लिए स्वतन्त्रता चाहता था । इसके सदस्यों की सख्या एक लाख के लगभग पहुँच गयी थी । प्रथम विश्व युद्ध के समय मे इसने समाजवादी कार्यक्रम अपना लिया था ।

राष्ट्रीय आन्दोलन मे एक नया मोड 1927 ई. में आया, जब जावा के एक युवक इंजीनियर सुकार्नो ने 'इण्डोनेशिया राष्ट्रीय पार्टी' की स्थापना की और विभिन्न राष्ट्रीय दलो को सगठित करने का प्रयत्न किया । इस दल को डच शासको ने कुचलने का प्रयत्न किया लेकिन इस समय और भी कई दल इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता के लिए माँग करने लगे । डच सरकार ने कठोरता के साथ इस आन्दोलन को दबाने का किया । राष्ट्रवादी नेताओ को बन्दी बनाकर बन्दी शिविर में रखा गया ।

शासन भी शुरू हुआ । अगस्त 1945 ई. में जापान के पराजय के पश्चात् राष्ट्रवादियों ने जापान की अपनी सत्ता समर्पित की । 17 अगस्त 1945 ई. को सुकर्णो और डा. हट्टा के नेतृत्व में एक स्वतन्त्र गणराज्य की घोषणा कर दी गयी । उनका पहला मुकाबला में राष्ट्रवादी सेना का प्रभाव इतना अधिक था कि डच सेनायें लौटने पर भी कुछ सफलता प्राप्त न कर सकीं । सुकर्णो इस गणराज्य का राष्ट्रपति बना और डा. हट्टा उपराष्ट्रपति । 7 अक्टूबर, 1945 ई. को डा. हट्टा ने पाँच मूलभूत सिद्धान्तों की घोषणा की । इन पाँच सूत्रों के मूल सिद्धान्त डा. सुकर्णो के ही थे और वो उसमें जोड़ दिये गये थे । ये पाँच सिद्धान्त थे — ईश्वर में विश्वास, राष्ट्रीयता, विश्ववाद, प्रजातन्त्र और सामाजिक सुरक्षा ।

राष्ट्रवादियों का संघर्ष—डच साम्राज्यवादी इतनी सरलता से प्रभुसत्ता छोड़ने को तैयार नहीं थे । 1946 ई. में इंग्लैण्ड और हालैण्ड पर सुरक्षा परिषद में यह आरोप लगाया गया कि इण्डोनेशिया में उनकी सेनाएँ विश्व शान्ति के लिए एक खतरा बन गयी थीं । सुरक्षा परिषद ने इस विषय पर कोई निर्णय नहीं लिया । मार्च 1947 ई. में डच और इण्डोनेशिया गणतन्त्र में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार व्यावहारिक रूप से डच सरकार ने इण्डोनेशिया को मान्यता प्रदान कर दी । लेकिन डच साम्राज्यवादी इस समझौते को आसानी से मानने वाले नहीं थे । उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि वे पुलिस कार्यवाही से इण्डोनेशिया में फूट डाल सकें । फलस्वरूप इण्डोनेशिया में काफी रक्तपात हुआ । अगस्त 1947 ई. में पुनः सुरक्षा परिषद में इस समस्या पर विचार-विमर्श हुआ । संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक सत्कार्य समिति दोनों पक्षों में फैसला कराने के लिए नियुक्त की । 1949 ई. में हेग के स्थान पर एक गोलमेज सम्मेलन हुआ और इस सम्मेलन के निर्णयों के अनुसार 27 दिसम्बर, 1949 ई. को नीदरलैण्ड की रानी जूलियाना ने इण्डोनेशिया गणतंत्र की घोषणा की लेकिन यह अभी नीदरलैण्ड संघ में सम्मिलित था । इण्डोनेशिया ने शीघ्र ही 15 अगस्त, 1950 ई. को इस सन्धि को समाप्त घोषित कर दिया । दोनों देशों में पुनः तनावपूर्ण वातावरण पैदा हो गया । अन्त में 10 अगस्त, 1954 ई. को डच सरकार ने इण्डोनेशिया के पृथक गणतन्त्र को स्वीकार कर लिया ।

समय रेखा

1920
1923
1926
1929
1932
1935
1938
1941
1944
1947
1950
1953
1956
1959
1962
1965
सेव्र की सन्धि
मिस्र के साथ अंग्रेजों का समझौता
तुर्की के सुलतान को गद्दी से हटाना
लूसान सन्धि
खलीफा के पद की समाप्ति
सिविल विवाह नियम
इण्डोनेशिया में राष्ट्रीय दल की स्थापना
तुर्की में इस्लाम को राज्य धर्म न रखना
तुर्की मे स्त्रियों को मतदान का अधिकार
तुर्की को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त होना
इंगलैण्ड और मिस्र मे समझौता
फिलिस्तीन के विभाजन का प्रस्ताव, मिस्र को राष्ट्रसंघ की सदस्यता
बटेविया मे अखिल इण्डोनेशिया सम्मेलन
कीनिया अफ्रीका संघ की स्थापना
इण्डोनेशिया को गणतन्त्र घोषित करना
डच द्वारा इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता स्वीकार
इण्डोनेशिया की औपचारिक स्वतंत्रता
'माउमाउ' गुप्त संगठन
मिस्र को गणतन्त्र घोषित करना
इण्डोनेशिया को पृथक गणतंत्र बनाना
'माउमाउ' संगठन का समाप्त होना
कीनिया मे सामान्य निर्वाचन, कीनिया का स्वतंत्र होना
स्केल · 1 सेंटिमीटर = 3 वर्ष

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. सेव्र की सन्धि का परिणाम हुआ कि—
   (क) तुर्की का अधिकार तुर्कों के अल्पसंख्या वाले क्षेत्र से समाप्त हो गया
   (ख) तुर्की के प्रभाव क्षेत्र का विकास हुआ
   (ग) तुर्की का साम्राज्य छोटा हो गया
   (घ) तुर्की को आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन मिल गया ( )
2. 1921-22 ई. में कमालपाशा की सैनिक असफलताओं का परिणाम हुआ कि—
   (क) विदेशियों को कमाल की योग्यता मालूम हो गयी
   (ख) जनता कमालपाशा की प्रशंसक हो गयी
   (ग) राष्ट्रीय संसद ने सुलतान महमूद को गद्दी से हटा दिया
   (घ) विदेशियों ने तुर्की पर आक्रमण का इरादा छोड़ दिया ( )
3. कमाल अतातुर्क का बचपन का नाम था—
   (क) अतातुर्क (ख) कमालपाशा
   (ग) मुस्तफापाशा (घ) महमूदपाशा ( )
4. कमाल का प्रधान मन्त्री इस्मतपाशा इनोनू था। इसको इनोनू इसलिए कहा जाता था कि—
   (क) यह इसके बचपन का नाम था
   (ख) यह इसकी जाति थी
   (ग) इस स्थान पर उसने महत्त्वपूर्ण सैनिक सफलता प्राप्त की थी
   (घ) उपरोक्त में से कोई नहीं ( )
5. कमालपाशा के नेतृत्व में जिस नयी शासन प्रणाली की स्थापना हुई, वह थी—
   (क) राजतन्त्रात्मक (ख) गणतन्त्रात्मक
   (ग) सैनिक तन्त्रात्मक (घ) तानाशाही ( )
6. तुर्की के आर्थिक दृष्टि से सफल होने में जिस देश ने सबसे अधिक सहायता की, वह था—
   (क) रूस (ख) अमरीका
   (ग) इंगलैण्ड (घ) फ्रांस ( )
7. खिलाफत को समाप्त करने का परिणाम यह हुआ कि—
   (क) इस्लाम के रूढ़िवादी नियमों में परिवर्तन आसान हो गया
   (ख) धर्म-प्रधान नियमों के स्थान पर पश्चिमी देशों के नियमों को अपनाना सरल हो गया
   (ग) तुर्की में कमाल का विरोध बढ़ गया
   (घ) अब उग्र विरोध करने वाला न रहा ( )

8. तुर्की में मतदान में भाग लेने का अधिकार स्त्रियों को प्राप्त हुआ—
   (क) 1929-30 ई. में (ख) 1930-31 ई. में
   (ग) 1928-29 ई. में (घ) 1931-32 ई. में ( )
9. कमालपाशा की विदेशी नीति की सफलता और तुर्की के महत्त्व को स्पष्ट करने वाला समझौता था—
   (क) मौन्ट्रियों का (ख) सेव्र का
   (ग) 1921 ई. की मास्को सन्धि (घ) लोकार्नो पैक्ट ( )
10. सीरिया और लेबनान पर प्रशासनिक अधिकार था—
   (क) फ्रांस का (ख) इंगलैण्ड का
   (ग) अमरीका का (घ) जर्मनी का ( )
11. यहूदी और अरबों के मध्य संघर्ष का मुख्य कारण था—
   (क) धार्मिक (ख) फिलिस्तीन का प्रश्न
   (ग) विचारो का (घ) जाति का ( )
12. इण्डोनेशिया का सर्वप्रिय नेता जिसके नेतृत्व मे उसने स्वतन्त्रता प्राप्त की, था—
   (क) डा. सुकार्नो (ख) डा. हट्टा
   (ग) जनरल सुहार्तो (घ) सुबान्द्रियो ( )

एक पंक्ति या एक शब्द में जवाब लिखो

1. प्राचीन मेसोपोटामिया का आधुनिक नाम———है।
2. ईराक इंगलैण्ड के नियन्त्रण से———ई. में स्वतन्त्र हो गया।
3. सीरिया फ्रांस के नियन्त्रण से———ई मे मुक्त हुआ।
4. कीनिया की स्वतन्त्रता के लिए एक गुप्त दल का गठन हुआ, इसका नाम———था।
5. अफ्रीका का सबसे सम्मानपूर्ण नेता———रहा है।
6. इण्डोनेशिया पर———का औपनिवेशिक अधिकार था।

संक्षेप मे उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों में दीजिए।

1. कमालपाशा द्वारा इस्ताम्बूल के स्थान पर अंकारा को अपनी गतिविधियों को केन्द्र बनाने का क्या कारण था?
2. प्रथम महायुद्ध मे अन्य पराजित राष्ट्रो के साथ जो कठोरता का व्यवहार विजेता राष्ट्रों ने किया था, वह तुर्की के साथ नही किया गया। इस व्यवहार मे अन्तर के दो कारण बताओ।
3. मुस्तफा को 'कमाल अतातुर्क' क्यों कहते हैं?
4. तुर्की और जर्मनी में तानाशाही थी किन्तु दोनो मे जनता के अधिकारो से सम्बन्धित क्या मौलिक अन्तर था?
[illegible] तुर्की मे राजनीतिक संगठन किस प्रकार किया गया?
[illegible] की धर्म-निरपेक्ष नीति के दो कारण बताइए।

7. स्त्रियों की दशा में कमाल ने क्या-क्या सुधार किये ?
8. शिक्षा के क्षेत्र में कमाल के सुधार बताइए।
9. "तुर्की के महत्व के कारण रूस, इंगलैण्ड और फ्रांस कोई भी उसे नाराज नहीं करना चाहता था।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
10. डा. हट्टा के पांच सिद्धान्त क्या थे ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कमालपाशा ने तुर्की में इस्लाम के प्रभाव को किस प्रकार कम किया ?
2. कमालपाशा ने अतातुर्क की उपाधि के अनुकूल ही कार्य किया। इस कथन पर विचार प्रकट कीजिए।
3. अरब राष्ट्रीयता के विकास में कौनसे तत्त्व सहायक सिद्ध हुए ?
4. फिलिस्तीन की क्या समस्या थी तथा यह किस प्रकार हल हुई ?
5. अफ्रीका में राष्ट्रीयता के विकास के क्या कारण थे तथा पूर्वी अफ्रीका में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई ?
6. इण्डोनेशिया ने किस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की ? स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उसके प्रयत्नों का वर्णन कीजिए।

अधिकारों को समाप्त घोषित कर दिया गया। लेकिन कुछ अन्य सुधार भी किये गये जिनसे जापान शीघ्र उन्नति कर सका। देश में शक्तिशाली सेना के विकास के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा लागू की गयी। अब सैन्य संचालन का उत्तरदायित्व केवल सामन्तों पर नहीं रखा गया बल्कि साधारण वर्गों को भी दे दिया गया। सैन्य संगठन पाश्चात्य ढंगों पर किया गया। 1870 ई. के पश्चात् जापानी सेनाओं को प्रशिक्षण देने के लिए जर्मनी से सैनिक अधिकारी बुलाये गये। समस्त सेना में केन्द्रीय सत्ता का अधिकार स्थापित था। जापान इस अनिवार्य भर्ती के कारण ही युद्ध में एक विशाल सेना भेज सकता था। राष्ट्रप्रेम जापानी सेनाओं में अत्यधिक था।

आन्तरिक सुधार—जापान के शासकों ने यद्यपि भलीभाँति यह बात समझ ली थी कि पश्चिमी देशों की प्रगति का रहस्य उनकी औद्योगिक प्रगति है और यह कुछ अंश में उनकी शिक्षा प्रणाली पर निर्भर है, लेकिन उन्होंने पश्चिमी व्यवस्था की आंख मूंदकर नकल नहीं की। जिस शिक्षा प्रणाली का विकास जापान में किया गया वह अमरीकी, फ्रांसीसी तथा जर्मन शिक्षा पद्धतियों का मिश्रण थी। यूरोप से विभिन्न विद्वानों को बुलाकर शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। पश्चिमी भाषाओं की हजारों पुस्तकों का जापानी में अनुवाद किया गया। बहुत-से युवकों को तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए यूरोप भेजा गया। जापान ने आरम्भ में केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में औद्योगिक विकास किया। पूंजीपतियों का पदार्पण इस क्षेत्र में बहुत बाद में हुआ। यातायात के साधनों में प्रगति हुई और इससे औद्योगिक विकास में सहायता मिली। उद्योगों में कपड़े के उत्पादन में विशेष उन्नति की गयी। मुत्सिहितो ने अपना नाम 'मेजी' रख लिया था। मेजी का शाब्दिक अर्थ होता है 'प्रबुद्ध शासन' इसलिए यह परिवर्तन 'मेजी' क्रान्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

विदेशियों को 1854-58 ई. के पश्चात् बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त हो गये थे। ये विशेषाधिकार मुख्यतः न्याय के क्षेत्र में होते थे। विदेशियों को अपने निजी नियमों द्वारा अपने मुकदमों के निर्णय करने का अधिकार था। इस प्रकार वे जापान में रहते हुए भी वहाँ के नियमों के अधीन नहीं होते थे। उन्हें समाप्त करने के लिए जापान ने एक विशेष दूत पश्चिमी देशों की यात्रा के लिए भेजा लेकिन उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली। लौटने पर उसने जापान सरकार से न्याय व्यवस्था में सुधार करने की बात कही क्योंकि उसके बिना पश्चिमी देशों के विशेषाधिकार समाप्त नहीं हो सकते थे। इसलिए फ्रांस की न्याय पद्धति के आधार पर 1890 ई. तक उनको लागू कर दिया गया। इन सुधारों के पश्चात् फिर पश्चिमी राज्यों से विशेषाधिकार समाप्त करने की बात कही गयी। 1888 ई. में अमरीका ने, 1894 ई. में इंगलैण्ड ने यह स्वीकार कर लिया और 1899 ई. तक यह विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये।

साम्राज्यवाद का विकास—जापान में औद्योगिक तथा अन्य सुधार कर लेने के पश्चात् एक नये साम्राज्यवाद का विकास हुआ, इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

(1) जापान में कृषि योग्य भूमि कम थी और बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए

भूमि की आवश्यकता थी। जापान का अधिकांश भाग पहाड़ी था। इसलिए वह अपने लिए अतिरिक्त भूमि की तलाश में था। वहाँ जनसंख्या घनत्व भी चीन की अपेक्षा चार गुना अधिक था और विश्व भर में जापान जनसंख्या घनत्व में तीसरे नम्बर पर आता था।

(2) वहाँ के राजनीतिक संगठन में सैनिक अधिकारी को जितना प्रभावशाली स्थान प्राप्त था उतना प्रशा को छोड़कर अन्य किसी राज्य में नहीं था। मन्त्रिमण्डल में सेना के दो सर्वोच्च अधिकारी सम्मिलित होते थे जो युद्ध तथा नाविक बेड़े के संचालन के लिए नियुक्त होते थे। किसी भी मन्त्रिमण्डल को सेना के अधिकारी पद त्यागने पर मजबूर कर सकते थे क्योंकि बिना दो सैनिक उच्च अधिकारियों के कोई मन्त्रिमण्डल पूरा नहीं माना जाता था और सैनिक कमाण्डर यदि इन दो अधिकारियों को पद त्याग करने के लिए कहें तथा नये सदस्यों को नियुक्त न करें तो मन्त्रिमण्डल कार्य करने में सर्वथा अयोग्य होता था।

(3) औद्योगिक प्रगति के पश्चात् कच्चे माल की आवश्यकता तथा उत्पादित वस्तुओं के लिए सुरक्षित बाजारों की आवश्यकता इस बात के लिए प्रेरणा देती थी कि नये-नये क्षेत्रों पर अधिकार स्थापित किया जाये। पूर्वी एशिया में जापान ही ऐसा देश था जहाँ औद्योगिक प्रगति सबसे पहले हुई थी। इसलिए साम्राज्यवादी नीति भी एशिया में सबसे पहले जापान ने ही आरम्भ की।

जापान-चीन युद्ध (1894-95 ई.)

कारण—इस युद्ध के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

(1) चीनी साम्राज्य के अधिकांश प्रदेश पश्चिमी देशों के अधिकार में जा चुके थे; जैसे—बर्मा, इण्डोचीन, अनाम। कोरिया में भी पश्चिमी देश रुचि लेने लगे थे। जापान इस क्षेत्र पर शीघ्र अधिकार कर लेना चाहता था लेकिन यह कार्य वह कोरिया की स्वतन्त्रता घोषित करके करना चाहता था।

(2) आर्थिक दृष्टि से कोरिया जापान पर काफी निर्भर था। उसका 90 प्रतिशत विदेश व्यापार जापान के साथ था। 1891 ई. में रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे लाइन की योजना बना रखी थी। जापान को भय था कि रेलवे योजना के पूरा हो जाने से रूस का प्रभाव बहुत बढ़ जायेगा।

(3) आन्तरिक क्षेत्र में जापान में नयी संवैधानिक व्यवस्था सफल सिद्ध नहीं हो रही थी और सैनिक खर्च की स्वीकृति बिना सम्राट की सिफारिश के अस्वीकार कर दी जाती थी। इसलिए जापान वैदेशिक क्षेत्र में कुछ सफलता प्राप्त कर लेना चाहता था जिससे सेना की भी उन्नति हो सके और आन्तरिक प्रशासनिक सुविधा भी उपलब्ध हो सके।

युद्ध—कोरिया में आन्तरिक विद्रोह को कुचलने के लिए चीन ने सेनाएँ भेजी और प्रति-उत्तर में जापान ने भी इस आशय से सेनाएँ भेजी कि वहाँ चीन अपना अधिकार न स्थापित कर ले। दोनों सेनाओं में 1 अगस्त, 1894 ई. को युद्ध आरम्भ

हो गया। रूस तथा इंगलैण्ड, कोरिया पर जापानी अधिकार के पक्ष मे नही थे। जापान ने आश्वासन दिया कि उसका कोई विचार कोरिया पर अधिकार करने का नही है। पश्चिमी देशो को विश्वास था कि चीन निश्चित रूप से विजयी होगा इसलिए जापान के आश्वासनो को मान लिया। लेकिन सितम्बर 1894 ई. के पश्चात् जापान की सैनिक सफलताएँ आरम्भ हो गयी। यूरोपीय सहायता उपलब्ध न होने के कारण चीन को विवश होकर शान्ति याचना करनी पडी और 17 अप्रैल, 1895 ई. को शिमोनोसेकी की सन्धि करनी पड़ी।

शिमोनोसेकी की सन्धि 1895 ई.—इस सन्धि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थी :

(1) चीन ने कोरिया की स्वाधीनता को स्वीकार किया।

(2) चीन ने जापान को फार्मोसा, पेस्काडोर्स तथा दक्षिणी मचूरिया मे लाओ-तुग प्रायद्वीप दे दिया। यह अन्तिम प्रदेश रूस, फ्रास तथा जर्मनी के दबाव के कारण जापान को लौटाना पड़ा।

(3) चीन ने जापान को एक भारी धनराशि युद्ध के हर्जाने के रूप में दी।

(4) चीन ने जापान के साथ एक व्यापारिक सन्धि करने की बात स्वीकार की जिसके अनुसार जापान को विशेष सुविधाएँ प्राप्त हुई।

महत्त्व तथा परिणाम—जापान मे सैन्य सचालको का प्रभुत्व स्थापित हो गया तथा साम्राज्यवादी भावनाओं को बल मिला। चीन के लिए यह पराजय अत्यन्त अपमानजनक सिद्ध हुई क्योंकि यह एक ऐसे राज्य से पराजय थी जिसे वह अत्यन्त तुच्छ राज्य समझता था। इससे पूर्वी एशिया मे चीन की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। इस सघर्ष से जापान को यह भी स्पष्ट अनुमान हो गया कि उसके साम्राज्य विस्तार के मार्ग मे रूस ही एकमात्र बाधा है।

रूस-जापान युद्ध (1904-1905 ई.) : कारण

1. 1900 ई. मे चीन मे बोक्सर उपद्रव हुए। इन उपद्रवों को दबाने के लिए विभिन्न यूरोपीय देशो की सेनाएँ चीन भेजी गयी। रूस की सेनाएँ भी मचूरिया मे पहुँची लेकिन उपद्रव समाप्त हो जाने के पश्चात् भी रूस ने अपनी सेनाओं को वापस नही बुलाया। जापान इस स्थिति को सहन नही कर सकता था, क्योंकि वह स्वय मचूरिया पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था।

2. 1902 ई. मे इगलैण्ड तथा जापान के मध्य एक सन्धि हुई जिसके अनुसार इगलैण्ड ने कोरिया मे जापान के विशेष हितो को स्वीकार किया और यह भी तय हुआ कि यदि जापान का विरोध रूस ने किया तो इगलैण्ड तटस्थ रहेगा लेकिन यदि किसी अन्य देश ने रूस का समर्थन किया तो इगलैण्ड उसका साथ देगा। यह सन्धि जापान को रूस के विरुद्ध युद्ध के लिए भड़काने मे सफल हुई।

3. रूस ने कोरिया पर भी अपना प्रभाव जमाना चाहा और कुछ सैनिक 1903 ई. मे कोरिया भेज दिये। रूस चाहता था कि कोरिया मे जापान के अधिकारो पर कुछ नियन्त्रण रखा जाये।

यहाँ यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि रूस के हित राजनीतिक अधिक थे, आर्थिक कम; क्योंकि रूस में न उद्योग विकसित थे और न व्यापार। रूस के पास आर्थिक हितों को बढ़ाने के लिए कुछ था ही नहीं। जापान के हित आर्थिक अधिक थे और राजनीतिक कम। लेकिन उन आर्थिक हितों के लिए राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक था। इसी के साथ-साथ जापान के सामरिक हित भी थे कि कोरिया पर किसी शत्रु देश का अधिकार न हो क्योंकि इससे जापान पर आक्रमण की सम्भावना अधिक थी। 8 फरवरी, 1904 ई. को जापान ने युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध—जापान ने तुरन्त पोर्ट आर्थर पर स्थित रूसी बेड़े पर आक्रमण कर दिया और आधे से अधिक को नष्ट कर दिया। इस युद्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण लड़ाई मुकदन की थी जहाँ तीन लाख रूसी सैनिक इसकी रक्षा कर रहे थे। फरवरी 1905 ई. मे रूस को वहाँ से पीछे हटना पड़ा। इसके पश्चात् सुशीमा की खाड़ी मे रूस के बेड़े को पूर्णतया नष्ट कर दिया। यह जापान की इतनी सफल विजय थी जिसकी रूस को स्वप्न मे भी कल्पना नही थी।

पोर्ट्समाउथ की सन्धि—संयुक्त राज्य अमरीका की मध्यस्थता से दोनो पक्षों मे सन्धि वार्ता पोर्ट्समाउथ के स्थान पर आरम्भ हुई। इसके अनुसार जापान को लाओतुंग प्रायद्वीप पुन: प्राप्त हो गया। रूस ने मंचूरिया चीन को वापस कर दिया। जापान को रूस द्वारा स्थापित दक्षिणी मचूरिया रेलवे का 480 किलोमीटर लम्बा टुकड़ा प्राप्त हुआ। सखालिन द्वीप का आधा दक्षिणी भाग जापान को प्राप्त हो गया। इस प्रदेश में कोयले तथा पेट्रोल के साधन बहुत अधिक थे। इतना ही नही, रूस ने कोरिया मे जापान के विशेष आर्थिक, राजनीतिक तथा सामरिक हितों को स्वीकार किया।

युद्ध का महत्त्व—इस युद्ध की समाप्ति पर इंगलैण्ड के प्रसिद्ध कार्टून अखबार 'पंच' में एक कार्टून निकला जिसका शीर्षक था 'एक बौने ने दैत्य को मार दिया'। यह बौना जापान था और दैत्य रूस था। यह सही है कि रूस की इतनी असफलता की आशा कम ही थी। इस युद्ध के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले।

1. सैन्य सचालन तथा नाविक युद्धों मे बड़े जगी जहाजो का, जो चारों ओर लोहे से ढके होते थे, महत्त्व स्पष्ट हुआ।

2. सुदूर पूर्व मे रूस की महत्त्वाकाक्षा प्राय: समाप्त हो गयी और उसने पुनः अपना ध्यान डार्डनेलीज जलडमरूमध्य की ओर लगाया।

3. कूटनीतिक दृष्टि से यूरोपीय देशों के रहने की मिथ्या धारणा समाप्त हो गयी।

4. रूस में जार को विभिन्न प्रजातांत्रिक सुधारों की स्थापना करनी पड़ी और जापान मे सैन्यवाद को अत्यधिक बल मिला।

5. जापान की इस सफलता को देखकर चीन मे आन्दोलन आरम्भ हुआ। चीन मे पाश्चात्यकरण की माँग जोर पकड़ती गयी और कुछ ही समय पश्चात् 1912 ई. मे गणतन्त्र की स्थापना हुई।

6. भारत में उग्र राष्ट्रीयता की भावना बढ़ी और आत्मविश्वास तथा आत्मबल को प्रोत्साहन मिला।

7. 1905 ई. में इंग्लैंड ने कोरिया में जापान के विशेषाधिकारों को स्वीकार किया और 1910 ई. में जापान ने कोरिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

प्रथम विश्व युद्ध और जापान -

जापान की प्रतिष्ठा तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्मान 1905 ई. के पश्चात् काफी बढ़ गया था। इससे जापान में साम्राज्यवाद को अत्यधिक बल मिला। 1911 ई. में इंगलैण्ड के साथ सन्धि पुन: हुई और दोनों देशों ने पूर्वी एशिया में अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए एक-दूसरे की सहायता करने का निश्चय किया।

इक्कीस माँगें (1915 ई.)—इंगलैण्ड के विश्व युद्ध में भाग लेने के पश्चात् जापान ने घोषणा की कि जर्मनी की सैनिक शक्ति प्रशान्त महासागर में तटस्थ देशों के लिए खतरा है और सुदूरपूर्व की शान्ति भंग होने की सम्भावना है और जर्मनी से कियाचाउ प्रदेश लौटाने के लिए कहा गया। जर्मनी के स्वीकार करने की सम्भावना न होने के कारण जापान ने आक्रमण कर दिया। चीन तटस्थ था लेकिन जापान ने जनवरी 1915 ई. में अपनी इक्कीस माँगों को यूवो चीन को दे दी। ये माँगें मुख्य रूप में पाँच भागों में विभाजित की जा सकती थी—(1) शान्तुंग प्रदेश में जर्मनी के स्थान पर जापान का अधिकार हो। (2) दक्षिणी मंचूरिया एवं पूर्वी मंगोलिया जापान के प्रभाव क्षेत्र में हो। (3) चीन की सबसे बड़ी आइरन कम्पनी पर चीन के साथ जापान का नियन्त्रण स्थापित किया जावे। (4) चीन के तटवर्ती प्रदेश पर जापान का अधिकार बना रहे। (5) इसके अनुसार जापान ने चीन के राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक मामलों में जापानी विशेषज्ञों की नियुक्ति की माँग की। इन माँगों का अभिप्राय चीन पर जापान का नियन्त्रण स्थापित करना था। यद्यपि पश्चिमी देशों ने इन माँगों का विरोध किया लेकिन चीन ने 1915 ई में दो सन्धियाँ जापान के साथ कर लीं जिसमें जापान की बहुत-सी माँगों को स्वीकार कर लिया गया। लेकिन चीन की संसद ने इन सन्धियों को स्वीकार नहीं किया। ये माँगें अगले तीस वर्ष तक चीन-जापान सम्बन्धों को प्रभावित करती रहीं।

1917 ई. में चीन ने भी मित्र राष्ट्रों की ओर से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया लेकिन जापान ने अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए विभिन्न देशों के साथ युद्धकाल में ही समझौते कर लिये जिससे उसके विशेषाधिकार सुरक्षित रहे। इसी का परिणाम यह निकला कि जापान विश्व के पाँच महान विजेता राष्ट्रों में से एक घोषित किया गया। वार्साय सन्धि सम्मेलन में प्रशान्त महासागर में जर्मन साम्राज्य को जापान के अधीन कर दिया गया। उधर रूस में बोलशेविक क्रान्ति हो जाने से रूस के सुदूर पूर्वी क्षेत्र पर भी नियन्त्रण करने का अवसर जापान को प्राप्त हुआ लेकिन इसमें वह सफल नहीं हुआ।

वाशिंगटन सम्मेलन (1922 ई.)

1920 ई. तक जापान प्रशान्त महासागर में अत्यन्त शक्तिशाली बन चुका था। अमरीका को जापान के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद से भय अनुभव होने लगा था, इसलिए 1921 ई. में वाशिंगटन में एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया जिसमें उन देशों को जो सुदूर पूर्वी तथा प्रशान्त महासागर में विशेष हित रखते थे आमन्त्रित किया गया था। संयुक्त राज्य अमरीका प्रशान्त महासागर में उतना अरुचिपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपना सकता था जितना विश्व के अन्य भागों में उसने अपना रखा था। इस सम्मेलन ने नाविक शक्ति के क्षेत्र में जापान का नम्बर तीसरा निर्धारित किया और जापान को विवश होकर यह स्वीकार करना पड़ा। अमरीका, इंगलैण्ड तथा जापान की नाविक शक्तियों में 5 : 5 : 2 का अनुपात स्थापित किया गया। प्रशान्त महासागर में सब राज्यों ने एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्रों पर आक्रमण न करने का वायदा किया। चीन की स्वतन्त्रता तथा अखण्डता को सुरक्षित रखने का वचन प्रत्येक देश ने दिया।

वाशिंगटन सम्मेलन का महत्त्व—इस सम्मेलन में जापान को विवश होकर अपने विस्तार को अत्यन्त सीमित रखना पड़ा और उसे अमरीका इंगलैण्ड के सम्मिलित गठबन्धन के सामने झुकना पड़ा। जापान के दबाव में चीन का कायचौउ प्रदेश भी लौटाना पड़ा। प्रशान्त महासागर में नाविक शस्त्रीकरण पर थोड़े समय के लिए रोक लग गयी थी। चीन को जापान के प्रभुत्व में जाने से रोक दिया गया ताकि यह पश्चिमी देशों के प्रभुत्व के लिए खुला रह सके। इस सम्मेलन से शान्ति तथा सद्भाव का वातावरण उत्पन्न हुआ, यद्यपि जापान के उग्र साम्राज्यवाद को कुछ असफलता मिली। अगले 10 वर्षों तक जापान कोई विशेष नीति नहीं अपना सका।

1921-1930 ई. में जापान

इस दशक में यद्यपि जापान ने किसी उग्र नीति का निर्माण नहीं किया लेकिन उसकी आन्तरिक आर्थिक स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। 1921 ई. के पश्चात् पश्चिमी देश पुनः अपने एशियाई बाजारों में सामान भेजने लगे और वे क्षेत्र जहाँ जापान का ही सामान बिकता था अब उसके लिए दुर्लभ हो गये। वह आर्थिक सम्पन्नता जो जापान में 1914-1921 ई. के मध्य थी अब प्रायः समाप्त होने लगी थी। जापान के रेशमी तथा सूती कपड़ों के उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा तथा 1923 ई. में जापान में भयंकर भूकम्प भी आया जिसमें जन तथा धन की भारी क्षति हुई। व्यापार को क्षति पहुँचने से 1927 ई. में कई बैंकों का दिवाला निकल गया। मुद्रा स्फीति से स्थिति और भी अधिक संकटमय बन गयी। 1929-30 ई. की विश्वव्यापी मन्दी से जापान की आर्थिक स्थिति और अधिक खराब हो गयी। कृषक तथा मध्यम वर्ग अत्यन्त दुखी थे। जापान की जनसंख्या भी बढ़कर सात करोड़ हो गयी थी। सेना में अधिकांशतया कृषक वर्ग के लोग थे। उनमें तत्कालीन स्थिति के प्रति असन्तोष अधिक था। इस असन्तोष को दूर करने के लिए तथा बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या को

हल करने के लिए जापान ने एक नयी साम्राज्यवादी नीति का निर्माण किया जो 1931 ई. मे आरम्भ की गयी।

जापान की नयी साम्राज्यवादी नीति

जापान मे नयी साम्राज्यवादी नीति के विकास मे पहले की अपेक्षा कुछ और तत्त्व भी सहायक हुए। इन तत्त्वों मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था रूस मे साम्यवाद का विकास। इससे पश्चिमी देश भी जापान की बढती हुई शक्ति को कुचलना नही चाहते थे। दूसरी ओर मंचूरिया मे प्राकृतिक साधन इतने अधिक थे कि जापान उन पर अधिकार करना चाहता था। अच्छी लकडी के जगल, कोयला, लोहा तथा सोने की खानो की सम्भावना से यह प्रदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। 1920-30 ई. के मध्य चीनी अधिक संख्या मे आकर मचूरिया मे बसने लगे थे। उधर जापान के आर्थिक हित बढते जा रहे थे। जापान ने दक्षिणी मचूरिया मे रेलवे लाइन बना रखी थी इससे उसका आर्थिक प्रभुत्व बहुत अधिक बढा हुआ था। चीन ने जापान के इस एकाधिकार को समाप्त करना चाहा और जापानी रेल लाइन के समानान्तर दूसरी रेल लाइन बनाना आरम्भ किया। और यह ही झगडा प्रारम्भ होने का एक कारण बना।

जापान के लिए मचूरिया एक और आकर्षण लिये हुए था, वह यह कि विश्व मे जापान के लिए बाजार कम होते जा रहे थे। ऐसी स्थिति मे मचूरिया एक सुरक्षित बाजार के रूप मे रह सकता था।

मंचूरिया पर आक्रमण

18 सितम्बर, 1931 ई. को मुकदन के निकट जापान की रेल लाइन का कुछ भाग एक बम विस्फोट द्वारा नष्ट हो गया। जापान ने तुरन्त मुकदन पर अधिकार कर लिया और जापानी सेनाओं ने बडी सख्या मे आक्रमण करके मचूरिया के काफी बडे भाग पर अधिकार कर लिया। जापान के इस अधिकार से चीन मे जापान विरोधी आन्दोलन हुए तथा जापान मे निर्मित वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। इससे जापान की प्रतिक्रिया और अधिक तीव्र हुई।

18 जनवरी, 1931 ई. शघाई मे 5 जापानियो की हत्या कर दी गयी। इससे जापान ने शघाई पर बमबारी आरम्भ कर दी और फरवरी-मार्च, 1932 ई. तक मचूरिया पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लिया तथा जापान नियन्त्रित एक स्वतन्त्र राज्य 'मान्चुकुओ' की मचूरिया मे स्थापना कर दी। जापान ने अपने साम्राज्य विस्तार को मचूरिया के निवासियो का आत्म-निर्णय बताकर ससार को धोखा देना चाहा लेकिन उससे कोई विशेष लाभ नही हुआ।

यह झगडा राष्ट्रसघ के समक्ष सितम्बर 1931 ई. मे ही पहुँच चुका था लेकिन राष्ट्रसघ इस क्षेत्र मे जापान के साम्राज्यवाद को रोकने मे असमर्थ रहा। सघ ने एक आयोग इस समस्या के अध्ययन करने तथा उस पर रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया जिसकी रिपोर्ट अक्तूबर 1932 ई. मे प्रकाशित की गयी। इस रिपोर्ट मे जापान की नीति की निन्दा की गयी थी तथा मान्चुकुओ के लिए अधिक स्वतन्त्रता की माँग

की गयी थी, लेकिन मंचूरिया को चीन को लौटाने की बात नहीं थी। जिस दिन राष्ट्र संघ सभा ने यह रिपोर्ट स्वीकार की उस दिन जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी और इसके पश्चात् जापानी साम्राज्यवाद पूरी तेजी के साथ बढ़ता रहा। चीन इस समय साम्यवादियों के दमन में व्यस्त था, इसलिए जापान का विरोध करने में असमर्थ था। मई 1933 ई. में चीन ने जापान के साथ एक सन्धि की जिसके अनुसार चीन ने अपनी सीमा तथा मांचुकुओ राज्य के मध्य एक सेना विहीन क्षेत्र स्थापित किया।

आक्रमण के परिणाम—जापान के इस आक्रमण तथा सफलता के विश्वव्यापी परिणाम हुए। एक ओर इस आक्रमण से जापान, रूस की सीमाएँ साथ-साथ लग गयीं और दोनों देशों मे तनावपूर्ण वातावरण पैदा हुआ, दूसरी ओर जापान के रोम और बर्लिन से समझौते के लिए भूमिका तैयार हुई। इससे पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिला और पश्चिमी तथा पूर्वी एशिया में शान्ति बनाये रखने के लिए चीन-जापान सहयोग पर बल दिया। चीन ने जापान की इस घोषणा का विरोध किया। वहाँ जापान विरोधी भावनाएँ भी जोर पकड़ रही थीं। लेकिन जापान चीन पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था इसलिए उसको नये आक्रमण की आवश्यकता हुई।

जापान का लक्ष्य मांचुकुओ पर अधिकार कर लेने के पश्चात् चीन की विशाल दीवार को पार कर दक्षिण उत्तरी चीन पर अधिकार करना था। यह क्षेत्र कोयले, लोहे आदि की खानों के लिए प्रसिद्ध था तथा कृषि उत्पादन की दृष्टि से यह अत्यन्त उर्वर क्षेत्र था। उसने आन्तरिक मंगोलिया पर अधिकार करना चाहा लेकिन उसे कोई विशेष सफलता नही मिली। उत्तरी चीन मे जापान को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। जापान ने चीन की एकता को तोड़ने के लिए उत्तरी चीन के पाँच प्रान्तों के लिए स्वायत्ता की माँग प्रस्तुत की। इस माँग का उन प्रदेशों की जनता ने स्वागत किया। ये प्रान्त थे: होपी, चहार, सुइयान, शासी तथा शान्तुंग। दिसम्बर 1935 ई. मे पूर्वी होपी सरकार का गठन किया गया। इस पर जापान का प्रत्यक्ष प्रभाव था। 1936 ई. मे जापान ने जर्मनी के साथ 'एन्टी-कोमिन्टर्न पैक्ट' पर हस्ताक्षर किये और इस प्रकार जापान यूरोपीय राजनीति से भी सम्बन्धित हो गया।

जापान-चीन का द्वितीय युद्ध

जुलाई 1937 ई. मे जापान की सेना पीकिंग के निकट लुकोचिआओ स्थान पर कुछ सैनिक अभ्यास कर रही थी। इस समय उसकी सेना की चीन की सेना से मुठभेड़ हो गयी। जापान लुकोचिआओ पर अधिकार करना चाहता था और इस घटना से उसको नये आक्रमण का अवसर मिल गया। जुलाई के अन्त तक इस क्षेत्र पर जापान का अधिकार हो गया। शीघ्र ही पीकिंग, टिंट्सिन, शघाई पर जापान का अधिकार हो गया। यह एक नये चीन-जापान युद्ध का आरम्भ था और यह युद्ध 1937-45 ई. तक चलता रहा।

चीन ने पुनः राष्ट्रसंघ से सहायता की माँग की लेकिन सब निरर्थक रहा। पश्चिमी देशों का चीन में हित सीमित ही था। इंगलैण्ड तथा अमरीका के व्यापारिक हितों को जो हानि पहुँची जापान ने उसके लिए क्षतिपूर्ति कर दी जिससे उनका हस्तक्षेप न हो सके। 1938-39 ई में जापान उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करता रहा। इस बीच चीन ने गुरिल्ला युद्ध आरम्भ कर दिया, जिससे जापान को संचार तथा परिवहन व्यवस्था को सुरक्षित रखने में कठिनाई अनुभव हुई लेकिन

जापान सैनिक सफलता प्राप्त करता रहा क्योंकि चीन में गृहयुद्ध चल रहा था। चीन के समृद्ध केन्द्र, समुद्री तट, खनिज पदार्थों के भण्डार सब जापान के क्षेत्र में चले गये और ऐसा प्रतीत होता था कि चीन संघर्ष नहीं कर सकेगा। लेकिन जापान के लिए भी युद्ध का संचालन उतना ही कठिन होता गया क्योंकि युद्ध जापान से अधिक दूरी पर लड़ा जा रहा था।

पूर्वी एशिया में यह युद्ध दूसरे विश्व युद्ध में परिणत हो गया और 1942 ई. तक जापान अत्यन्त शक्तिशाली बना रहा। लेकिन उसके पश्चात् उसका पतन आरम्भ हुआ और अगस्त 1945 ई. में अणुबमों के प्रयोग से उसकी कमर ही टूट गयी। 2 सितम्बर, 1945 ई. को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। यह वर्णन हम द्वितीय विश्व युद्ध के पाठ में पढ़ चुके हैं।

समय रेखा
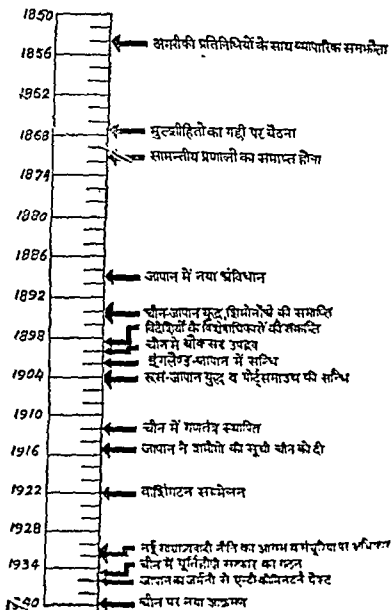
1850
1856
1962
1868
1874
1880
1886
1892
1898
1904
1910
1916
1922
1928
1934
अमरीकी प्रतिनिधियों के साथ व्यापारिक समझौता
मुत्सुहितो का गद्दी पर बैठना
सामन्तीय प्रणाली का समाप्त होना
जापान में नया संविधान
चीन-जापान युद्ध, शिमोनोस्की की समाप्ति
विदेशियों के विशेषाधिकारों की समाप्ति
चीन में बॉक्सर उपद्रव
इंगलैण्ड-जापान में सन्धि
रूस-जापान युद्ध व पोर्ट्समाउथ की सन्धि
चीन में गणतंत्र स्थापित
जापान ने शान्टुंग की भूमि चीन को दी
वाशिंगटन सम्मेलन
चीन में पूर्तिहीन सरकार का गठन
जापान का जर्मनी से एन्टी-कॉमिनटर्न पैक्ट
चीन पर नया आक्रमण
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 6 वर्ष

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. 1867 ई. के पश्चात् के जापान में सुधार युग का प्रारम्भ हुआ। इसका कारण था—
   (क) जापान का पश्चिमी देशों से सम्पर्क हुआ
   (ख) जापान में नया संविधान लागू हुआ
   (ग) जापान में एक युवक सम्राट गद्दी पर बैठा
   (घ) विदेशियों की शक्ति देखकर एकता की भावना पैदा हुई ( )
2. देश की उन्नति के लिए मुत्सुहितो का पहला कार्य था—
   (क) भूमि की नयी व्यवस्था करना
   (ख) देश के लिए नया संविधान बनाना
   (ग) सामन्तीय प्रणाली को समाप्त करना
   (घ) विदेशियों को जापान में नियुक्त करना ( )
3. सम्राट मुत्सुहितो ने नया संविधान लागू किया—
   (क) 1889 ई. में (ख) 1867 ई. में
   (ग) 1871 ई. में (घ) 1890 ई. में ( )
4. शिमोनोसेकी की सन्धि हुई—
   (क) चीन और जापान के मध्य (ख) जापान और कोरिया के मध्य
   (ग) चीन और कोरिया के मध्य (घ) रूस और जापान के मध्य ( )
5. चीन-जापान युद्ध (1894-95 ई.) से स्पष्ट हो गया कि जापान की साम्राज्यवादी नीति में सबसे बड़ा बाधक है—
   (क) रूस (ख) चीन (ग) कोरिया (घ) मंचूरिया ( )
6. पोर्टसमाउथ की सन्धि हुई—
   (क) रूस-जापान में (ख) चीन-जापान में
   (ग) जापान और कोरिया में (घ) कोरिया और रूस में ( )
7. वाशिंगटन सम्मेलन (1922 ई.) का उद्देश्य था—
   (क) अमरीका और जापान में मित्रता बनी रहे
   (ख) जापान की बढ़ती हुई नाविक शक्ति को रोका जा सके
   (ग) चीन की नाविक शक्ति सुरक्षित रखी जाए
   (घ) अमरीका की शक्ति का विकास हो सके ( )
8. 1931 ई. में चीन और जापान के मध्य संघर्ष का कारण था—
   (क) चीन कोरिया पर अधिकार करना चाहता था
   (ख) जापान मंचूरिया को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाना चाहता था
   (ग) जापान को अपने माल के लिए बाजार की आवश्यकता थी

(घ) चीन 1894 ई. का बदला लेना चाहता था ( )

निदश—निम्न प्रश्नों का एक शब्द या एक पंक्ति मे उत्तर दो—

1. शिमोनोसेकी की सन्धि चीन और——के मध्य हुई।
2. जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता——ई. में त्याग दी।
3. जापान ने मचूरिया पर अधिकार करने के पश्चात् वहाँ———की सरकार स्थापित की।
4. द्वितीय विश्व युद्ध मे जापान ने——राष्ट्रों की ओर से भाग लिया।

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों में दीजिए।

1. 1889 ई. के जापान के संविधान की तीन विशेषताएँ बताइए।
2. सम्राट मुत्शिहितो ने जापानी सेना को आधुनिक बनाने के लिए क्या कार्य किये ? चार कार्य बताओ।
3. जापान मे आन्तरिक सुधारों के परिवर्तन को 'मेजी' क्रान्ति क्यों कहा जाता है ? इसका क्या अर्थ था ?
4. जापान में नये समाजवाद के विकास के तीन कारण बताओ।
5. चीन-जापान युद्ध (1834 95 ई.) के कारण बताओ।
6. शिमोनोसेकी की सन्धि की तीन शर्तें लिखो।
7. रूस और जापान युद्ध के चार कारण बताओ।
8. रूस और जापान मचूरिया तथा कोरिया पर क्यों अधिकार करना चाहते थे ? दोनो के उद्देश्यों मे क्या अन्तर था ?
9. 'एक बौने ने दैत्य को पछाड़ दिया' शीर्षक से निकलने वाले कार्टून का रहस्य समझाइए।
10. प्रथम विश्व युद्ध मे जापान विजेता राष्ट्रों में किस प्रकार सम्मिलित किया गया ?
11. वाशिंगटन सम्मेलन (1922 ई) का महत्व बताओ।
12. 1920 ई से 1930 ई. का काल जापान की आन्तरिक दृष्टि से अधिक विषमता का युग था। उदाहरण दो।
13. 'राष्ट्रसंघ अपनी नीति में असफल रहा।' इस कथन के सन्दर्भ में जापान की विस्तारवादी नीति से एक उदाहरण दीजिए।
14. मचूरिया पर जापानी प्रभाव स्थापित हो जाने का विश्व पर क्या प्रभाव पड़ा ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रूस-जापान युद्ध के कारण और परिणाम बताइए।
2. जापान की 1831 ई से 1839 ई. तक विदेश नीति की विवेचना कीजिए।

20

चीन में राष्ट्रीयता का विकास

19वीं शताब्दी के मध्य में पश्चिमी देशों, विशेषकर इंगलैण्ड ने चीन के विरुद्ध सैनिक सफलताएँ प्राप्त करके कुछ व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये। इसी समय में उन्होंने जापान में भी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त की। जापान ने पश्चिमी सभ्यता एवं शिक्षा के प्रति सीखने का दृष्टिकोण अपनाया लेकिन चीन ने इससे भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। विदेशी आलोचक कभी तो यह सोचते थे कि चीन पश्चिमी आधुनिकीकरण के गुण सीख लेगा और कभी ऐसी निराशा व्यक्त करते थे कि चीन अपने भूतकाल की जंजीरों को नहीं तोड़ सकेगा।

चीन का पश्चिम के प्रति दृष्टिकोण

चीन की प्रतिक्रिया जापान से भिन्न हुई, इसके कई कारण थे। पहला तो यह था कि चीन अपनी प्राचीन सभ्यता को सर्वश्रेष्ठ समझता था। इस विचार का चीन के विद्वान कर्मचारी पोषण करते थे क्योंकि वे कन्फूसियस के सिद्धांतों पर चीन का प्रशासन चलाते थे। चीन में कुछ नेता ऐसे अवश्य थे जो चीन के पाश्चात्यकरण पर अधिक बल देते थे, लेकिन वे अल्पसंख्यक थे। चीन के कुछ विद्यार्थी बाहर (विशेषकर अमरीका में) अध्ययन के लिए भेजे गये थे। लेकिन जब यह पता चला कि वे पाश्चात्य ज्ञान तथा कलाओं का अध्ययन अधिक करते हैं और चीनी साहित्य तथा कन्फूसियसवाद का कम, तो उन्हें वापस बुला लिया गया और इस प्रकार चीन के पाश्चात्यकरण को ठेस लगी। चीन के विभिन्न प्रान्तों में कुछ प्रशासक थे जो इस आवश्यकता का अनुभव करते थे लेकिन चीन में उनका प्रभाव कम था। जापान एक ऐसा राज्य था जिसने पहले चीन से बहुत कुछ सीखा था इसलिए उसे दूसरों से सीखने में कोई आपत्ति नहीं थी। जापान में एक व्यापारिक वर्ग ऐसा विकसित हो चुका था जो पुरानी सामन्तीय व्यवस्था को बदलना चाहता था, जबकि चीन में व्यापार बहुधा राजकीय कर्मचारियों के संरक्षण में चलाया जाता था जिससे एक स्वतन्त्र प्रभावशाली व्यापारी वर्ग का निर्माण चीन में नहीं हो सका। इसलिए चीन में आन्तरिक व्यवस्था के परिवर्तन के पक्ष में कोई विशेष आन्दोलन नहीं था।

चीन में सुधारवादी आन्दोलन

पश्चिमी देशों से पराजित हो जाने पर तो चीन का ध्यान अपनी स्थिति

सुधारने पर नही गया लेकिन 1894-95 ई. मे जापान से भी हार जाने पर मंचू सरकार के प्रति जनता की भक्ति भावना बहुत कम हो गयी और 1901-10 ई. मे मचू सरकार के समक्ष विभिन्न जटिल समस्याएँ आ खड़ी हुई तब चीन की साम्राज्ञी जूसी ने कुछ सुधार के लिए प्रयत्न किये। लेकिन वे सब आधे मन से थे। सुधारों की नीति उस समय अपनायी गयी थी जब असन्तोष अधिक बढ चुका था। ये सुधार मचू राजवश को बचाने मे तो असमर्थ रहे लेकिन उन परिवर्तनों की भूमिका अवश्य बना दी थी जो 20वी शताब्दी मे चीन मे हुए।

चीन में गणतन्त्र की स्थापना

पृष्ठभूमि—चीन मे यह विश्वास प्रचलित था कि प्रत्येक राजवंश को ईश्वर की ओर से प्रशासन करने का आदेश प्राप्त होता है। 19वी शताब्दी के मध्य में पश्चिमी देश अफीम के व्यापार को बढाने के लिए चीन को युद्धो मे पराजित करके तथा चीन के नागरिकों को विवश करके असीमित मात्रा मे अफीम लाये, इससे चीन के निवासियो मे असन्तोष बढता गया। कुछ तो विदेशियो के प्रभाव के कारण तथा कुछ मचू राजवंश के प्रशासन के विरुद्ध इस असन्तोष को चीन की पराजय ने और अधिक भड़काया और राजवश के विरुद्ध यह असन्तोष विदेशियों के विरुद्ध उपद्रव के रूप मे 1900 ई. में व्यक्त किया गया। विदेशियों ने चीन से भरपूर बदला लिया। 1905-1910 ई. तक तीन बार असफल विद्रोह हुए। 1908 ई. साम्राज्ञी जूसी की मृत्यु से एक दृढ़ संकल्प वाले शासन का भी अन्त हो गया और उसके पश्चात् चीन मे इतना योग्य सम्राट कोई नही हुआ जो इस असन्तोष को दबा सके, परिणाम-स्वरूप 1911 ई. मे सफल क्रान्ति हुई।

कारण

नैतिक कारण—जिस समय तक चीन पश्चिमी देशों द्वारा पराजित होता रहा उस समय तक कोई सुधार करने की आवश्यकता अनुभव नही हुई लेकिन 1895 ई. मे जापान द्वारा हार जाने के पश्चात् चीन के नेताओं को अपमान का अनुभव हुआ। यह एक प्रकार की असाधारण घटना थी और मचू राजवंश के प्रति लोगों का विश्वास तथा श्रद्धा समाप्त होना आरम्भ हुआ। लोगो में यह विचार फैलता जा रहा था कि ईश्वरीय आदेश जो राजवश को प्राप्त समझा जाता था, अब समाप्त हो चुका है। जापान द्वारा पराजय को इसका एक स्पष्ट प्रमाण माना गया।

आर्थिक कारण—चीन की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब हो रही थी। चीन पर विदेशी ऋण बढ रहा था। साथ ही 1900 ई. मे विदेशियों के विरुद्ध बोक्सर उपद्रव हुआ था, उसकी असफलता के पश्चात् विदेशियो ने भारी क्षतिपूर्ति की रकम चीन पर थोप दी थी। इसी समय चीन में बाढ तथा अनावृष्टि से अधिकाशतया फसल अनिश्चित रहती थी, उधर जनसख्या की वृद्धि बड़ी तीव्र गति से हो रही थी, चीन में सन्तानोत्पत्ति की ओर काफी झुकाव रहता था। चीनियों के आप्रावासन पर सयुक्त राज्य ने प्रतिबन्ध लगा दिया था, इससे बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या गम्भीर होती जा

रही थी। एक विशाल देश होने के कारण किसी न किसी प्रान्त मे दुर्भिक्ष अथवा बाढ आती रहती थी और केन्द्रीय सरकार सहायता कार्य के प्रति कुछ उदासीन रहती थी। इससे प्रान्तो मे असन्तोष बढता रहता था।

बौद्धिक कारण—19वी शताब्दी के अन्त मे तथा 20वी शताब्दी के प्रथम दशक मे चीन के बहुत-से युवक पश्चिमी देशों मे अथवा जापान में शिक्षा प्राप्त करने के लिए गये। इन देशों के सम्पर्क से राष्ट्रीयता की भावना युवको मे जागृत हुई तथा वहाँ की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति देखकर आश्चर्य हुआ। पश्चिमी देशो मे, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रास आदि मे प्रचलित प्रजातांत्रिक प्रणाली ने भी इन युवकों को प्रभावित किया और नवयुवको के मन से मचू राजवंश के प्रति भक्ति भावना प्राय समाप्त हो गयी थी और वे किसी भी आन्दोलन का समर्थन करने को तैयार थे।

राजनीतिक कारण—चीन मे राजतंत्र के विरुद्ध विभिन्न राजनीतिक भावनाएँ उत्पन्न हो रही थी। इनके अन्तर्गत डा. सनयात सेन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सनयात सेन का विश्वास था कि चीन एक शक्तिशाली देश बन सकता है इसलिए उसने चीन की जनता को जागृत करना चाहा। सरकार की शोषण नीति से बचने के लिए उन्हे चीन छोडकर भाग जाना पडा था। उन्होंने "तुगमंग-हुई" नामक गुप्त क्रान्तिकारी दल की स्थापना की थी। इस दल का मुख्य उद्देश्य चीन मे गणतन्त्र स्थापित करना था। इस दल की स्थापना यद्यपि जापान मे हुई थी लेकिन इसकी शाखाएँ दक्षिण चीन मे भी फैली हुई थी। यह दल सेना के सिपाहियो मे भी अपना कार्य कर रहा था।

प्रचलित प्रशासन की कुरीतियो तथा भ्रष्टाचार पर चीन के समाचार-पत्रो ने काफी टिप्पणियाँ की। इन समाचार-पत्रो ने विदेशियो के विशेषाधिकारो के विरुद्ध भी आवाज उठाई और उन्ही के प्रचार का फल था कि 1900 ई मे बॉक्सर उपद्रव हुआ। इस प्रकार जनसाधारण को मचू वंश के विरुद्ध उत्तेजित करने मे समाचार-पत्रो का भी काफी हाथ रहा।

क्रान्ति का सूत्रपात

विदेशियो का प्रभाव विभिन्न प्रान्तो मे रेल निर्माण कार्य मे होता था। इसलिए कुछ प्रान्तो मे रेल निर्माण का कार्य चीनियो ने अपने हाथ मे ले लिया ताकि विदेशियो के प्रभाव को कम किया जा सके। इस आन्दोलन को ही अधिकार प्राप्ति का आन्दोलन कहा जाता है। यह आन्दोलन हुपेआण प्रान्त मे आरम्भ हुआ लेकिन पर्याप्त पूँजी एकत्र नही हो सकी तथा उसका कुछ कर्मचारियो ने दुरुपयोग भी किया। इससे व्यापारियो तथा पूँजी लगाने वालो ने विरोध किया। इसी विरोध के समय मे 10 अक्टूबर, 1911 ई को हाँकाउ मे बम विस्फोट द्वारा क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। विद्रोहियो को दण्ड देने का प्रयास किया गया लेकिन विद्रोह सेना मे फैल चुका था। अत. क्रान्तिकारियो को दबाया नही जा सका और उन्होंने एक क्रान्तिकारी सरकार

तथा सरकार का गठन करके देश को गणतन्त्र घोषित कर दिया। देश के विभिन्न भागों से प्रतिनिधि नानकिंग में आकर एकत्र हुए। राष्ट्रवादी नेता सनयात सेन भी दिसम्बर 1911 ई. में चीन आ पहुँचा। क्रान्तिकारियों ने सनयात सेन को ही राष्ट्रपति बनाया लेकिन सनयात सेन ने सम्राट के प्रधान मन्त्री युआन शिकाई से एक समझौता करके राष्ट्रपति का पद युआन शिकाई को दे दिया और फरवरी 1912 ई. में सम्राट ने गद्दी त्याग दी।

इस गणतन्त्रात्मक क्रान्ति के आगमन में विदेशी शक्तियों का भी परोक्ष रूप में हाथ था क्योंकि विदेशी शक्तियों ने केन्द्रीय सरकार का समर्थन नहीं किया था तथा रेल और विशेषाधिकारों की समस्या में केन्द्र के विरुद्ध क्रान्तिकारियों को बढ़ने का अवसर प्रदान किया। युआन शिकाई का विदेशियों ने समर्थन किया था, यही कारण था कि युआन अपने को काफी शक्तिशाली अनुभव करता था और सनयात सेन ने उसके पक्ष में अपनी अध्यक्षता छोड़ दी थी।

क्रान्ति के परिणाम

1644 ई. से चले आ रहे मंचू राजवंश का अन्त हो गया और एक विशाल देश गणतन्त्र बन गया था, लेकिन युआन शिकाई को गणतन्त्रात्मक प्रणाली के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। वह अपने अधिकारों को निरंकुश बनाना चाहता था। इसी से गणतन्त्र संकट में पड़ गया। डा. सनयात सेन का दल कुओमिन्तांग (यह 'तुगमंग हुई' दल का ही नया रूप था) युआन शिकाई की आँखों में खटकने लगा। उसने कुओमिन्तांग को अवैध घोषित करके इस दल के नेताओं को बन्दी बनाने का आदेश दिया। दक्षिण चीन के लोगों ने युआन शिकाई की नीति का भारी विरोध किया जिससे इस बात की सम्भावना पैदा हो गयी कि चीन में दो सरकारों का गठन हो जाय और वास्तव में ऐसा हुआ भी। कैन्टन में कुओमिन्तांग की सरकार की स्थापना हुई तथा पीकिंग में युआन शिकाई की। युआन शिकाई वास्तव में अपना एक नया राजवंश स्थापित करना चाहता था किन्तु 1916 ई. में उसकी आकस्मिक मृत्यु से गणतन्त्र को एक भारी खतरे से मुक्ति मिली।

प्रथम विश्व युद्ध तथा चीन

चीन ने आरम्भ में युद्ध में भाग नहीं लिया था लेकिन 1917 ई. में अमरीका के कहने पर चीन ने मित्र राष्ट्रों की ओर से भाग लिया परन्तु पेरिस शान्ति सम्मेलन में चीन के प्रति पश्चिमी देशों का रवैया सम्मानपूर्ण नहीं था इसलिए उसने वारसा सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये। चीन के प्रतिनिधि यह चाहते थे कि विदेशों के विशेषाधिकार समाप्त हो जायें लेकिन विभिन्न देश इसके लिए तैयार नहीं थे। वाशिंगटन सम्मेलन में यद्यपि चीन की अखण्डता का आश्वासन दिया गया लेकिन चीन के साथ असमान सन्धियों का अन्त नहीं किया गया।

सनयात सेन का नया कार्यक्रम

युआन शिकाई की मृत्यु के पश्चात् भी चीन में दो सरकारें कार्य करती

रहीं। राष्ट्रवादियों का कुओमिन्तांग दल आरम्भ में उतना प्रभावशाली तथा लोकप्रिय नहीं था, इसलिए उसने ऐसा प्रोग्राम अपनाया जिससे इसकी लोकप्रियता बढ़ सके। सनयात सेन ने कुछ विशेष कार्यक्रम चीनवासियों के सम्मुख रखे जिससे उसकी लोकप्रियता बढ़ी। इस कार्यक्रम की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार थी :

अधिकार पुनः प्राप्ति

राष्ट्रवादी उन सब विशेषाधिकारों को समाप्त करना चाहते थे जिन्हें पश्चिमी देशों ने 1842 ई. से 1917 ई. तक प्राप्त किया था। विदेशी सैनिक चीन में रहते थे। विदेशियों का उनके अपने नियमों के अनुसार न्याय होता था, विभिन्न विदेशियों की बस्तियाँ राज्यों के समान स्वतन्त्र होती थी। राष्ट्रवादी इन सबको समाप्त करना चाहते थे और इस कार्य के लिए कूटनीति, शक्ति तथा प्रचार आदि का प्रयोग करते थे।

सनयात सेन के तीन सिद्धान्त

राष्ट्रीयता का निर्माण—यह सिद्धान्त चीन के लिए क्रान्तिकारी था, क्योंकि चीन की एकता एक समान समाज तथा संस्कृति के आधार पर थी। अब चीन स्वयं को एक राष्ट्र समझने लगा था जबकि पहले वह केवल एक समाज समझते थे। यह भावना चीन की अखण्डता को बनाये रखने का एक नया प्रयास थी और यह भावना विदेशियों के प्रभाव के विरुद्ध थी। इस राष्ट्रीयता का एक अर्थ अवश्य था कि चीन के नागरिकों को कुटुम्ब, ग्राम अथवा जाति को छोड़कर राज्य एवं राष्ट्र के प्रति निष्ठावान रहना चाहिए।

राष्ट्रीयता का निर्माण

प्रजातन्त्र का समर्थन—राष्ट्रीयता के अतिरिक्त डा. सनयात सेन ने प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन किया। उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राष्ट्र के हितों और समानता के प्रश्न को प्राथमिकता दी। उन्होंने प्रजातन्त्रीय प्रशासन की स्थापना में तीन चरण निश्चित किये—पहला चरण सैनिक तानाशाही का था, दूसरे चरण में सत्ता कुओमिन्तांग के हाथों में होगी, इस समय जनता को अधिकारों के प्रयोग की कला में प्रशिक्षण दिया जायेगा, इसके पश्चात् तीसरा चरण प्रजातान्त्रिक तथा संवैधानिक प्रशासन का होगा।

समाजवाद—डा. सनयात सेन के अनुयायियों में समाजवाद के विषय पर आरम्भ में मतभेद था क्योंकि इसकी उचित व्यवस्था नहीं हुई थी। सनयात सेन के विचारों का सारांश यह था कि राज्य का संचालन इस प्रकार से होना चाहिए कि सबकी आवश्यकताएँ सबके प्रयासों द्वारा ही पूरी की जायें। वह आवागमन के साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा श्रमिकों के लिए अधिक सुविधाएँ चाहता [illegible] के विचारों में इस प्रकार का परिवर्तन साम्यवादी रूस के साथ [illegible] बाद अधिक हुआ था।

कुओमिन्तांग दल का विस्तार

आरम्भ में [illegible] भाव नहीं था। पश्चिमी देशों में चीन [illegible] टन सम्मेलन में भी जब

कोई उदार व्यवहार चीन के प्रति नहीं हुआ तब विवश होकर साम्यवादी रूस से सहायता लेनी पड़ी। रूस पहले से उससे मित्रता का इच्छुक था, और वह बहुत उदार व्यवहार का आश्वासन दे रहा था तथा चीन का वह समस्त क्षेत्र जो जार के शासकों ने जीता था, लौटाने को तैयार था, और अपने समस्त अधिकारों को समाप्त करने को तैयार था। 1922-23 ई. तक दोनों पक्षों में वार्ता चलती रही। जनवरी 1923 ई. रूस के दूत तथा सनयात सेन में एक समझौता हुआ। साम्यवादी रूस ने माईकेल बोरोदिन को चीन की कुओमिन्तांग को सलाह देने के लिए भेजा। उसने कम्युनिस्ट दल के आधार पर कुओमिन्तांग का गठन किया।

चीन में प्रायः अराजकता की-सी स्थिति थी इसलिए विदेशी शक्तियाँ अपने विशेषाधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थीं और इससे कुओमिन्तांग को बहुत सहायता मिली। कुओमिन्तांग दल में दो मुख्य दल थे : 1. सैनिक संचालक—जो सत्ता पर अधिकार कर लेना चाहते थे। 2. वामपन्थी जो रूस के साम्यवादी सिद्धान्तों से प्रभावित थे। इस राष्ट्रवादी आन्दोलन का आरम्भ में प्रभाव मुख्य नगरों तक सीमित था इसलिए विदेशियों के साथ इसका संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। संघर्ष की ऐसी एक घटना मई 1925 ई. में शंघाई में हुई थी। इस स्थिति के कुछ सप्ताह पूर्व सनयात सेन की मृत्यु हो गयी थी किन्तु उससे आन्दोलन में शिथिलता नहीं आयी।

चीन के राष्ट्रवादी आन्दोलन में डा. सनयात सेन का विशेष महत्व है। उनके जीवन काल में कुओमिन्तांग दल संगठित रहा, उसे चीनी स्वतन्त्रता का जनक कहा जाता है। वह मृत्यु के पश्चात् और भी अधिक प्रभावशाली बन गया क्योंकि उसके नाम से राष्ट्रीयता की भावना को और अधिक जागृत किया जा सका।

च्यांग काईशेक का नेतृत्व

डा. सनयात सेन की मृत्यु के पश्चात् कुओमिन्तांग का नेतृत्व च्यांग काईशेक को प्राप्त हुआ। उसने सैनिक आधार पर चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का दृढ़ निश्चय किया। च्यांग काईशेक ने रूसी सहयोग से उत्तरी चीन पर आक्रमण किया और हैंको, नानकिंग तथा शंघाई पर अधिकार कर लिया। 1928 ई. तक च्यांग काईशेक का नियन्त्रण चीन के अधिकांश भाग पर स्थापित हो चुका था, लेकिन इस बीच चीन के राष्ट्रीय दल में साम्यवादियों को कुओमिन्तांग से गम्भीर मतभेद हो गया। साम्यवादियों ने कुछ विदेशी नागरिकों की हत्या कर दी जिससे च्यांग काईशेक को साम्यवादियों को कुचलने का अवसर मिला। रूस से आये हुए कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को चीन लौटने पर बाध्य किया गया और बहुत-से कम्युनिस्टों को प्राणदण्ड दे दिया गया, फलस्वरूप कुओमिन्तांग तथा साम्यवादियों में भारी वैमनस्य पैदा हुआ।

च्यांग काईशेक के समक्ष मुख्य समस्याएँ—च्यांग काईशेक के समक्ष कई मुख्य समस्याएँ थीं। जिस समस्या को वह सबसे बड़ी समझता था वह थी कम्युनिस्टों की ... । यद्यपि कम्युनिस्टों पर घोर अत्याचार किये गये थे फिर भी उनकी शक्ति ... । उनका मुख्य केन्द्र आरम्भ में क्यांगसी प्रान्त था और बाद में शेन्सी प्रान्त

[illegible] के [illegible] करता था। विदेशी [illegible] और [illegible] के [illegible] के साथ [illegible] किया। च्यांग काईशेक के [illegible] है।

चीन में गृहयुद्ध

च्यांग काई-शेक ने कम्युनिस्टों के [illegible] को [illegible] दिया। इससे चीन में एक गृहयुद्ध आरम्भ हुआ जो 1949 ई. तक चलता रहा। 1928 ई. से 1931 ई. तक [illegible] नीति में [illegible] रहा। कुछ मतभेद [illegible] में भी [illegible] रहे। 1931 ई. के पश्चात् जापान के प्रति नीति में भी मतभेद हो गया। कम्युनिस्ट [illegible] जापान के आक्रमण का विरोध करना चाहते थे लेकिन च्यांग काईशेक जापान के आक्रमण की अपेक्षा कम्युनिस्टों का दमन करना चाहता था। इस नीति के परिणामस्वरूप चीन जापान के विरुद्ध कोई विशेष [illegible] नहीं [illegible] क्योंकि च्यांग काईशेक ने अपनी सारी शक्ति कम्युनिस्टों का दमन करने में लगा दी। उनके विरुद्ध इतनी कठोर नीति अपनायी गयी कि [illegible] कम्युनिस्टों को [illegible] दी जाती थी। 1934 ई. में [illegible] की [illegible] में कम्युनिस्टों को [illegible] किया गया। इसलिए विवश होकर उन्हें क्यांगसी प्रान्त छोड़कर शेन्सी प्रदेश में जाना पड़ा। यह प्रदेश चीन के उत्तर-पश्चिम में है और यहाँ तक जाने का मार्ग दुर्गम था।

लेकिन च्यांग काईशेक ने जब उन्हें कुचलने के लिए सेना भेजी तो सेना ने कम्युनिस्टों के साथ मैत्री कर ली और जब च्यांग काईशेक स्वयं उन पर आक्रमण करने के लिए गया तो उसे बन्दी बना लिया गया। यह घटना दिसम्बर 1936 ई. की थी। च्यांग काईशेक तो किसी प्रकार भी समझौता नहीं करना चाहता था लेकिन जापान के बढ़ते हुए आक्रमण को देखते हुए जनमत ने उसे विवश किया कि वह कम्युनिस्टों के साथ समझौता करे और 1936 ई. के अन्त में इन दोनों दलों में यह समझौता हुआ कि वे सम्मिलित रूप से जापान के आक्रमण का विरोध करेंगे।

जापानी आक्रमण और चीन का गृहयुद्ध

1937 ई. में जापान ने एक नया आक्रमण चीन पर आरम्भ कर दिया और अत्यन्त वेग से आगे चला गया। कुओमिन्तांग सरकार को नानकिंग से हटाकर हैंको में अपनी राजधानी रखनी पड़ी लेकिन बाद में वहाँ से भी हटना पड़ा। जापान ने दो वर्ष के समय में उत्तरी-पूर्वी और दक्षिणी चीन पर अपना अधिकार कर लिया, चीन का केवल पश्चिमी और उत्तरी-पश्चिमी भाग बचा रहा, जहाँ पर चीन की दोनों सरकारें स्थापित रहीं। इसी समय द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। इस युद्ध में चीन मित्र राष्ट्रों के साथ था लेकिन इस संकट के समय भी चीन में दो सरकारें कार्य कर रही थीं और दोनों में आपसी मतभेद बरकरार थे।

कोई उदार व्यवहार चीन के प्रति नही हुआ तब विवश होकर साम्यवादी रूस से सहायता लेनी पड़ी। रूस पहले मे उससे मित्रता का इच्छुक था, और वह बहुत उदार व्यवहार का आश्वासन दे रहा था तथा चीन का वह समस्त क्षेत्र जो जार के शासको ने जीता था, लौटाने को तैयार था, और अपने समस्त अधिकारो को समाप्त करने को तैयार था। 1922-23 ई तक दोनों पक्षों में वार्ता चलती रही। जनवरी 1923 ई. रूस के दूत तथा सनयात सेन में एक समझौता हुआ। साम्यवादी रूस ने माईकेल इबोरोदिन को चीन की कुओमिन्तांग को सलाह देने के लिए भेजा। उसने कम्युनिस्ट दल के आधार पर कुओमिन्ताग का गठन किया।

चीन में प्रायः अराजकता की-सी स्थिति थी इसलिए विदेशी शक्तियाँ अपने विशेषाधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी और इससे कुओमिन्ताग को बहुत सहायता मिली। कुओमिन्ताग दल मे दो मुख्य दल थे : 1. सैनिक संचालक—जो सत्ता पर अधिकार कर लेना चाहते थे। 2. वामपन्थी जो रूस के साम्यवादी सिद्धान्तों से प्रभावित थे। इस राष्ट्रवादी आन्दोलन का आरम्भ मे प्रभाव मुख्य नगरों तक सीमित था इसलिए विदेशियों के साथ इसका संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। संघर्ष की ऐसी एक घटना मई 1925 ई मे शघाई में हुई थी। इस स्थिति के कुछ सप्ताह पूर्व सनयात सेन की मृत्यु हो गयी थी किन्तु उससे आन्दोलन मे शिथिलता नही आयी।

चीन के राष्ट्रवादी आन्दोलन मे डा. सनयात सेन का विशेष महत्व है। उनके जीवन काल मे कुओमिन्ताग दल सगठित रहा, उसे चीनी स्वतन्त्रता का जनक कहा जाता है। वह मृत्यु के पश्चात् और भी अधिक प्रभावशाली बन गया क्योंकि उसके नाम से राष्ट्रीयता की भावना को और अधिक जागृत किया जा सका।

च्याग काईशेक का नेतृत्व

डा. सनयात सेन की मृत्यु के पश्चात् कुओमिन्तांग का नेतृत्व च्यांग काईशेक को प्राप्त हुआ। उसने सैनिक आधार पर चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का दृढ निश्चय किया। च्याग काईशेक ने रूसी सहयोग से उत्तरी चीन पर आक्रमण किया और हैंको, नानकिंग तथा शघाई पर अधिकार कर लिया। 1928 ई. तक च्याग काईशेक का नियन्त्रण चीन के अधिकाश भाग पर स्थापित हो चुका था, लेकिन इस बीच चीन के राष्ट्रीय दल मे साम्यवादियों को कुओमिन्ताग से गम्भीर मतभेद हो गया। साम्यवादियो ने कुछ विदेशी नागरिकों की हत्या कर दी जिससे च्यांग काईशेक को साम्यवादियो को कुचलने का अवसर मिला। रूस से आये हुए कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को चीन लौटने पर बाध्य किया गया और बहुत-से कम्युनिस्टों को प्राणदण्ड दे दिया गया, फलस्वरूप कुओमिन्ताग तथा साम्यवादियों मे भारी वैमनस्य पैदा हुआ।

च्यांग काईशेक के समक्ष मुख्य समस्याएँ—च्याग काईशेक के समक्ष कई मुख्य समस्याएँ थीं। जिस समस्या को वह सबसे बड़ी समझता था वह थी कम्युनिस्टों की समस्या। यद्यपि कम्युनिस्टों पर घोर अत्याचार किये गये थे फिर भी उनकी शक्ति अधिक थी। उनका मुख्य केन्द्र आरम्भ मे क्यागसी प्रान्त था और बाद में शेन्सी प्रान्त

बन गया। दूसरी मुख्य समस्या विदेशियों के विशेषाधिकार समाप्त करना था। विदेशी सरकारें अपने इन अधिकारों को समाप्त करने के लिए तैयार नहीं थी, और तीसरी मुख्य समस्या जापान का आक्रमण थी। जापान ने चीन के आन्तरिक मतभेदों से लाभ उठाकर चीन पर अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। च्यांग काईशेक के समक्ष प्रश्न इस बात का था कि वह किस समस्या को प्राथमिकता दे।

चीन में गृहयुद्ध

च्यांगकाईशेक ने कम्युनिस्टों से उत्पन्न समस्या को पहला स्थान दिया, इससे चीन में एक गृहयुद्ध आरम्भ हुआ जो 1949 ई. तक चलता रहा। 1928 ई. से 1931 ई. तक इन दोनों में मतभेद प्रशासनिक नीति से सम्बन्धित रहा, कुछ मतभेद विदेशियों के प्रति नीति से भी सम्बन्धित रहे। 1931 ई. के पश्चात् जापान के प्रति नीति में भी मतभेद बढ़ गया। कम्युनिस्ट एक साथ मिलकर जापान के आक्रमण का विरोध करना चाहते थे लेकिन च्यांग काईशेक जापान के आक्रमण की अपेक्षा कम्युनिस्टों को समाप्त करना चाहता था। इस नीति के फलस्वरूप चीन जापान के विरुद्ध कोई विशेष सेनाएँ नहीं भेज सका क्योंकि च्यांग काईशेक ने अपनी सारी शक्ति कम्युनिस्टों का दमन करने में लगा दी। उनके विरुद्ध इतनी कठोर नीति अपनायी गयी कि सन्देह मात्र पर कम्युनिस्टों को गोली मार दी जाती थी। 1934 ई. में लाखों की संख्या में कम्युनिस्टों को मरवा दिया गया। इसलिए विवश होकर उन्हें क्यांगसी प्रान्त छोड़कर शेन्सी प्रदेश में जाना पड़ा। यह प्रदेश चीन के उत्तर-पश्चिम में है और वहाँ तक जाने का मार्ग दुर्गम था।

लेकिन च्यांग काईशेक ने जब उन्हें कुचलने के लिए सेना भेजी तो सेना ने कम्युनिस्टों के साथ मैत्री कर ली और जब च्यांग काईशेक स्वयं उन पर आक्रमण करने के लिए गया तो उसे बन्दी बना लिया गया। यह घटना सितम्बर 1936 ई. की थी। च्यांग काईशेक तो किसी प्रकार भी समझौता नहीं करना चाहता था लेकिन जापान के बढ़ते हुए आक्रमण को देखते हुए जनमत ने उसे विवश किया कि वह कम्युनिस्टों के साथ समझौता करे और 1936 ई. के अन्त में इन दोनों दलों में यह समझौता हुआ कि वे सम्मिलित रूप से जापान के आक्रमण का विरोध करेंगे।

जापानी आक्रमण और चीन का गृहयुद्ध

1937 ई. में जापान ने एक नया आक्रमण चीन पर आरम्भ कर दिया और अत्यन्त वेग से आगे चला गया। कुओमिन्तांग सरकार को नानकिंग से हटाकर चुंगकिंग में अपनी राजधानी रखनी पड़ी लेकिन बाद में वहाँ से भी हटना पड़ा। जापान ने दो वर्ष के समय में उत्तरी-पूर्वी और दक्षिणी चीन पर अपना अधिकार कर लिया, चीन का केवल पश्चिमी और उत्तरी-पश्चिमी भाग बचा रहा, जहाँ पर चीन की दोनों सरकारें स्थापित रहीं। इसी समय द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। इस युद्ध में चीन मित्र राष्ट्रों के साथ था लेकिन इस संकट के समय भी चीन में दो सरकारें कार्य कर रही थीं और दोनों में आपसी मतभेद बरकरार थे।

च्यांग काईशेक को मित्र राष्ट्रों से पर्याप्त सैनिक सहायता प्राप्त हुई लेकिन उसके सहयोगियों ने इस सहायता का उचित उपयोग जापान के विरुद्ध नहीं किया बल्कि इस सैनिक सहायता से कम्युनिस्टों को कुचलने का प्रयत्न किया था, फिर यह सामान चोर बाजार में बेचा। यहाँ तक कि खाद्य सामग्री को भी चोर बाजार में बेचकर विभिन्न राज्यकर्मचारी और सेवा अधिकारी धनी बन गये। उधर चीन मे मुद्रा-स्फीति तीव्र गति से होती रही, कागजी नोट बहुत प्रचलित किये गये। इससे साधारण किसान, श्रमिक तथा मध्यम वर्ग अत्यन्त दुखी हुआ और उनकी सहानुभूति च्यांग की सरकार के प्रति नही रही।

चीन के दोनों प्रमुख दल एक-दूसरे पर अत्यधिक सन्देह करते थे। च्यांग के समर्थक अधिकांशतः पूंजीपति वर्ग के थे और कम्युनिस्ट माओत्से तुंग के नेतृत्व में कृषक तथा साधारण श्रमिक वर्ग थे। अमरीका ने इस बात का प्रयत्न किया कि इन दोनों दलो मे मेल हो जाये लेकिन उसके सब प्रयास असफल रहे। कुओमिन्तांग दल के लिए यह अत्यन्त कठिन होता जा रहा था कि वह नेतृत्व स्थायी रख सके। उसके समक्ष यह समस्या थी कि संवैधानिक प्रशासन के लिए कोई भी आन्दोलन सफलतापूर्वक उस समय तक नही चलाया जा सकता था जब तक कि अधिकाश चीन पर जापान का नियन्त्रण हो। साथ ही आर्थिक कठिनाइयों के कारण राष्ट्रवादी दल और अधिक दुर्बल होता जा रहा था और अपनी आर्थिक असफलताओं के कारण च्यांग काईशेक का प्रभाव कम होता गया।

कम्युनिस्टों का प्रभावशाली होना

युद्ध आरम्भ होने से पहले कम्युनिस्टों के अधिकार मे चीन का बहुत कम भाग था। युद्ध के मध्य कुओमिन्तांग सरकार की असफलता एव अलोकप्रियता के कारण मध्यम तथा निम्न वर्ग कम्युनिस्टो के प्रभाव मे आ गये थे। कम्युनिस्टों ने अपने प्रोग्राम मे ऐसे राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों को शामिल किया जो समाज के निम्न वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर बनाये गये थे। इस प्रोग्राम मे मुख्य थे—जमीदारों के अधिकारो मे कमी, ईमानदार प्रशासन तथा आर्थिक विकास। च्यांग काईशेक ने अपनी लोकप्रियता बढाने के लिए 1946 ई. में एक सविधान सभा आमन्त्रित की लेकिन इस सविधान सभा का निर्वाचन प्रजातान्त्रिक आधार पर नही हुआ और इसके बावजूद उसने शीघ्रता से पूर्व नियोजित आधारो पर 25 दिसम्बर को एक सविधान घोषित कर दिया। इस संविधान में 3000 प्रतिनिधियो की एक सभा की स्थापना की गयी जिसके अधिवेशन तथा अधिकार बहुत कम थे। राज्य की वास्तविक सत्ता एक राज्य सभा मे रखी गयी। यह सविधान अपने राजनीति उद्देश्यो मे पूर्णतः असफल रहा और लोकप्रिय नही हो सका।

उधर कम्युनिस्ट जापान की पराजय के पश्चात् अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाने की योजना बना रहे थे। कम्युनिस्ट सेनाएँ अधिक सगठित और व्यवस्थित थी, साथ ही कुओमिन्ताग की अपेक्षा इनमें स्वार्थप्रियता कम थी। फलतः साधारण जनता तथा

मध्यम वर्ग का समर्थन अधिक प्राप्त था। द्वितीय युद्ध के समय मे कम्युनिस्टो ने जापान अधिकृत क्षेत्र मे गुरिल्ला युद्ध पद्धति के आधार पर सघर्ष जारी रखा था इसलिए जापानियो के हटने के पश्चात् कम्युनिस्टो का अधिकार स्थापित हो गया। कुओमिन्तांग सरकार अपना अधिकार नही स्थापित कर सकी थी, यद्यपि इसको अमरीकी वायु सेना की भी सहायता उपलब्ध थी। 1946 ई. के पश्चात् रूस का भी काफी समर्थन इस दल को प्राप्त था क्योकि यह एक सैद्धान्तिक सघर्ष बन रहा था। उधर पश्चिमी क्षेत्र पर कम्युनिस्टो का अधिकार पहले मे ही था। रूसी सेनाओ के हटते ही मंचूरिया तथा उत्तरी कोरिया मे कम्युनिस्टो का अधिकार हो गया। रूस चीन मैत्री 1960 ई. तक तो बहुत घनिष्ठ रही किन्तु चीन की बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा और भारत विरोधी नीति होने के फलस्वरूप पिछले 10 वर्षों मे इन दोनो देशो के परस्पर सम्बन्ध अब इतने मधुर नही रह गये हैं। दोनों देशों की सीमाए काफी अधिक दूर तक एक साथ लगी हुई हैं इस सीमा पर तनाव निरन्तर बना रहता है।

उधर च्यांग काईशेक की सरकार ने सैनिक व्यय को पूरा करने के लिए व्यक्तिगत उद्योगो पर अधिकार स्थापित करने की योजना बनायी। इसमे पूंजीपति वर्ग
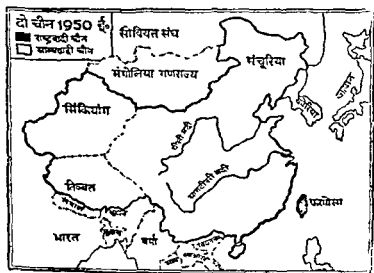
जो पहले राष्ट्रवादी (कुओमिन्तांग) सरकार का समर्थक था अब इसका विरोधी हो गया। अन्तरराष्ट्रीय सहायता भी सरकार ने उन उद्योगो पर खर्च कर दी जो इसने अपने अधिकार मे कर लिये थे, इससे पूंजीपतियो का विरोध और भी अधिक बढ़ गया। ऐसी स्थिति मे कम्युनिस्टो की विजय निश्चित थी। 1948 ई मे कम्युनिस्टो ने "राष्ट्रवादी" सेनाओ को मचूरिया, उत्तरी चीन और पीकिंग से निकाल दिया। सितम्बर

1949 ई. में माओत्सेतुंग ने "चाईनीज पीपुल्स रिपब्लिक" की स्थापना की और 1 अक्तूबर को चीन को जनवादी गणराज्य का रूप दे दिया गया।

कम्युनिस्टों की सफलता के कारण

कम्युनिस्टों की सफलता के कई प्रमुख कारण थे :

1. कम्युनिस्ट दल का सैनिक संगठन अत्यन्त कुशल था। इसमें सन्देह नहीं कि कम्युनिस्ट दल की सफलता सैनिक सफलता थी। च्यांग काईशेक का मंचूरिया पर आक्रमण करना एक सैनिक भूल थी क्योंकि वह अपनी रसद व्यवस्था को सुरक्षित नहीं रख सकता था। इसके अतिरिक्त कम्युनिस्टों का संगठन कठोर तथा अनुशासन पूर्ण था इसलिए उनमे लक्ष्य प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प अधिक मात्रा मे विद्यमान था। साम्यवादी सेनापति काफी अनुभवी एवं दक्ष होते थे। उनका गुरिल्ला संगठन उच्च कोटि का था। इसीलिए शस्त्र-शक्ति तथा संख्या मे कम होते हुए भी कम्युनिस्ट जीत सके।

2. कुओमिन्तांग के नेता, जन साधारण का समर्थन प्राप्त करने के बजाय, प्राप्त किया हुआ समर्थन भी खो बैठे। यह आश्चर्यजनक बात है कि उस क्षेत्र में भी कुओमिन्तांग को जनसाधारण का सहयोग न मिल सका, जहाँ च्यांग काईशेक की सरकार स्थापित थी तथा उसे अमरीका से आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त थी। ऐसा प्रतीत होता है कि च्यांग काईशेक सैनिक अधिकारी होने के कारण यह समझने मे सर्वथा असमर्थ रहा कि चीन की जनता की वास्तविक इच्छा क्या है। वह यह पूर्व धारणा लेकर चला था कि जापान का आक्रमण भी चीन के लिए उतना हानिकारक नहीं था जितना कम्युनिस्टों का अधिकार प्राप्त करना। इससे बड़ी भूल उसकी और क्या हो सकती थी कि उसने यह जानने का कोई प्रयत्न नहीं किया कि चीनी जनता क्या चाहती है।

3. कुओमिन्तांग दल मे भ्रष्टाचार अत्यधिक प्रचलित था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय मे भी उसके सैनिक अधिकारी खाद्य सामग्री चोरबाजार में बेच देते थे। अपने व्यक्तिगत लक्ष्य के लिए च्यांग काईशेक ने समस्त सत्ता को अपने हाथो में केन्द्रित रखा तथा सैनिक अधिकारियों को अपना भक्त बनाये रखने का प्रयास किया। इससे प्रशासन मे भ्रष्टाचार बढ़ा। 1945 ई. के पश्चात् समस्त राज्याधिकार चार परिवारों (च्याग, चेन, सुग, कुगश्र) के हाथो मे था, इससे बुद्धिजीवियों का असहयोग प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

4. च्यांग-काईशेक चीन की जनता के समक्ष कोई सैद्धान्तिक पक्ष नही प्रस्तुत कर सका। उसने सनयात सेन के सिद्धान्तों को उसकी मृत्यु के साथ ही भुला दिया था। प्रजातन्त्र की शुरूआत भी च्यांग काईशेक के समय में नही हो सकी। 1946 ई. में जिस संविधान की स्थापना की गयी थी वह प्रजातान्त्रिक नही था। उसने विश्वविद्यालयो तथा बुद्धिजीवियों पर बहुत-से नियन्त्रण लगा रखे थे। इसलिए च्याग के पास दस गुने अधिक सैनिक होते हुए भी वह विजय प्राप्त नही कर सका था। च्याग काईशेक के समर्थको को राष्ट्रवादी नाम कुओमिन्तांग शब्द के अंग्रेजी मे अनुवाद का रूप है, इससे यह अनुमान नही लगाया जाना चाहिए कि च्यांग काईशेक को राष्ट्र का समर्थन प्राप्त था।

समय रेखा
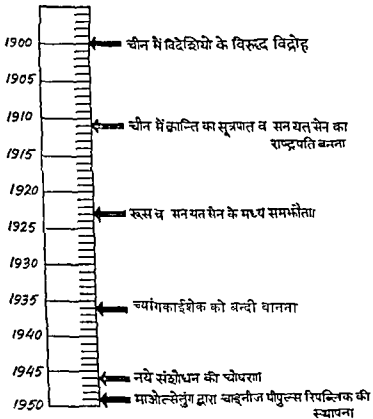
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 5 वर्ष

चीन में कम्युनिस्टों की विजय एक लक्ष्य की सफलता थी और यह लक्ष्य जन-साधारण के कल्याण की भावना से प्रभावित था। च्यांग काईशेक सनयात सेन के तीन सिद्धान्तों का अर्थ समझाने में असमर्थ रहा, जब 1912 ई. में कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों का प्रभाव चीन की जनता पर से कम हो गया तो उसके स्थान पर किसी नये सिद्धान्तों की अधिकार पूर्ण व्याख्या होना आवश्यक था ऐसा न कर पाना भी च्यांग की असफलता का रहस्य था। कम्युनिस्टों की सफलता का रहस्य इस बात में भी है कि वे एक आदर्श, चीन की जनता के समक्ष रख सके और उसके अनुसार उनको प्रभावित कर सके।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए :

1. चीन के कुछ विद्यार्थी बाहर अध्ययन के लिए भेजे गये किन्तु शीघ्र ही बुला लिये गये क्योंकि—
   (क) चीन के पाश्चात्यीकरण का भय था
   (ख) उन विद्यार्थियों के विदेशों में ही रह जाने का भय था
   (ग) उन विद्यार्थियों ने अपनी सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन छोड़ दिया
   (घ) विदेशों में भेजने के कारण सरकार की बहुत अधिक आलोचना हुई ( )
2. चीनी राजवंश को ईश्वरीय आदेश प्राप्त होता है, यह धारणा जिस घटना से समाप्त हुई वह थी—
   (क) चीन की जापान से पराजय
   (ख) बॉक्सर उपद्रव की असफलता
   (ग) 1900 ई. में विदेशियों द्वारा चीन की लूट
   (घ) 1908 ई. में साम्राज्ञी जूसी की मृत्यु ( )
3. डा. सनयात सेन द्वारा "तुगमग हुई" दल की स्थापना का मुख्य उद्देश्य था—
   (क) चीन में जागृति उत्पन्न करना
   (ख) चीन को विदेशियों से मुक्त कराना
   (ग) चीन में गणतन्त्र स्थापित करना
   (घ) चीन के राजतन्त्र को शक्तिशाली बनाना ( )
4. प्रथम महायुद्ध में यद्यपि चीन विजेता राष्ट्रों की ओर से लड़ा, किन्तु वार्साय समझौते पर उसके हस्ताक्षर नहीं थे, इसका कारण था कि—
   (क) उसे सम्मेलन में आमन्त्रित नहीं किया गया
   (ख) चीन के प्रतिनिधि प्रभावशाली नहीं थे
   (ग) मित्र राष्ट्रों ने चीन का विरोध किया
   (घ) चीन की शर्तों को समझौते में शामिल नहीं किया गया ( )

5. डा. सनयात सेन के रूस की ओर झुकने का कारण था कि—
   (क) पश्चिमी देशों ने सनयात सेन की सरकार को मान्यता नहीं दी
   (ख) पश्चिमी देशों ने चीन के निर्माण में सहायता न दी
   (ग) वाशिंगटन सम्मेलन में चीन के प्रति उदार व्यवहार नहीं किया गया
   (घ) डा. सेन विचारों से समाजवादी थे ( )
6. सनयात सेन की मृत्यु के बाद कुओमिन्तांग दल का नेता बना—
   (क) च्यांग काईशेक (ख) बोरोडिन
   (ग) माओत्सेतुंग (घ) चाऊ एन लाई ( )

एक शब्द/पंक्ति में उत्तर दो

1. 'तुमग हुई' दल का नया नाम था——।
2. 'तुगमग हुई' दल की स्थापना करने वाले——थे।
3. चीन ने प्रथम महायुद्ध में——के कहने से भाग लिया।
4. चीन के अन्तिम राजवंश का नाम था——।
5. 1936 ई में च्यांग काईशेक और साम्यवादियों में समझौते का क्या कारण था ?
6. कम्युनिस्टों ने कियांग्सी प्रान्त को छोड़कर शेंन्सी प्रदेश को अपने कार्यों का केन्द्र क्यों बनाया ?
7. कम्युनिस्टों ने——के नेतृत्व में 'चाईनीज पीपुल्स रिपब्लिक' की स्थापना की।
8. साम्यवादी संख्या में कम थे फिर भी उनको सफलता एक विशेष पद्धति से युद्ध करने के कारण प्राप्त हुई। बताइए यह पद्धति कौनसी थी ?

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों से अधिक न हो।

1. जापान की भांति चीन में पाश्चात्यीकरण का समर्थन क्यों नहीं किया गया ?
2. मंचू सरकार के प्रति जनता में श्रद्धा और भक्ति कम होने का कारण बताइए।
3. 'चीन में आर्थिक असन्तोष के कारण 1911 ई में क्रान्ति हुई।' स्पष्ट कीजिए।
4. डा. सनयात सेन के प्रसिद्ध तीन सिद्धान्त क्या थे ?
5. कुओमिन्तांग दल में दो विचारधाराओं के दल थे। वे कौन-कौनसे थे तथा इनमें क्या मौलिक अन्तर था ?
6. कुओमिन्तांग और साम्यवादियों में संघर्ष का क्या कारण था ?
7. च्यांग काईशेक की सरकार के चीन में अप्रिय होने के कारण बताइए।
8. च्यांग काईशेक के सामने कौन-कौन समस्याएँ थी ? इनका वर्णन करो।
9. चीन के पूंजीपतियों द्वारा भी कम्युनिस्टों का समर्थन करने का क्या कारण था ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 1911 ई. की चीन में क्रान्ति के आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक कारण लिखो।
2. राष्ट्रवादी सरकार के विरुद्ध चीन में कम्युनिस्टों की सफलता के कारण बताइए।

21

भारत और उसका विश्व से सम्पर्क (1947-1962 ई.)

1947 ई. मे भारत अंग्रेजी नियन्त्रण से मुक्त हुआ और उसके पश्चात् ही वह एक स्वतन्त्र विदेश नीति का निर्माण कर सका। इस स्वतन्त्र विदेश नीति के अपनाने मे कुछ तत्व सहायक हुए जिनमे सबसे अधिक प्रधानता भारत की भौगोलिक परिस्थिति, प्राचीन परम्परा और पश्चिमी साम्राज्यवाद के कड़ुवे अनुभव को प्राप्त है।

भौगोलिक परिस्थिति—आज के विश्व मे जब देशों के मध्य दूरी कम हो रही है, यह शायद विवादस्पद हो कि भौगोलिक परिस्थितियाँ किस सीमा तक विदेश नीति के निर्माण में सहायक होती हैं। लेकिन भारत की विस्तृत सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह निसान्देह कहा जा सकता है कि भौगोलिक परिस्थितियाँ बहुत सीमा तक भारत की विदेश नीति के निर्माण में सहायक हुई हैं। भारत का समुद्री तट ही 5,600 किलोमीटर लम्बा है जिसकी सुरक्षा अपने में एक समस्या है। भू-सीमा भी 13,000 किलोमीटर से अधिक लम्बी है जो पाकिस्तान, नेपाल, बर्मा तथा चीन के साथ लगी हुई है। पहले उत्तर मे हिमालय को अभेद्य सीमा माना जाता था लेकिन तिब्बत पर चीन का अधिकार हो जाने से इस सीमा पर भी सुरक्षा व्यवस्था आवश्यक हो गयी है।

प्रभाव—भारत की भौगोलिक परिस्थिति कुछ ऐसी है कि यह भौगोलिक रूप से साम्यवादी चीन तथा रूस के निकट है तथा पश्चिमी देशों से अपेक्षाकृत दूर। दूसरी ओर विशाल समुद्री तट की सुरक्षा पश्चिमी देशों, आरम्भ में विशेष रूप से इंगलैण्ड की सहायता पर, निर्भर करती थी, इसलिए भारत के लिए ऐसी विदेश नीति का निर्माण करना आवश्यक हुआ जिससे वह विश्व के दो गुटों मे न उलझ सके। पाकिस्तान का निर्माण काफी मनमुटाव तथा तनावपूर्ण स्थिति मे हुआ था। इससे भौगोलिक परिस्थिति और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गयी।

ऐतिहासिक विरासत—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1947 ई. के पूर्व अन्तर-राष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में विभिन्न आदर्श प्रस्तुत किये थे। उन आदर्शों को क्रियान्वित करने का पहला अवसर 1947 ई. के पश्चात् कांग्रेस को प्राप्त हुआ था। उसने अपने संघर्षकाल में प्रजातीय रंगभेद नीति का विरोध, विश्वशान्ति तथा शान्तिपूर्ण सहजीवन पर बल दिया था और इन आदर्शों की पूर्ति करना भी इसके लिए आवश्यक था।

आर्थिक तत्त्व—भारत आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। दो शताब्दियों में अंग्रेजी शोषण के दुष्परिणामो को दूर करने के लिए शान्ति आवश्यक थी। भारत मे ही नही अपितु विश्व मे शान्ति का स्थायी रहना भारत के विकास के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त देश का आर्थिक विकास उसी समय सम्भव था जब कि विभिन्न विकसित देशो से आर्थिक सहायता ली जा सके। इस पृष्ठभूमि मे भारत की विदेश नीति का निर्माण हुआ।

भारतीय विदेश नीति की विशेषताएँ—स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति की व्याख्या सितम्बर 1946 ई. के पश्चात् आरम्भ हुई। पंडित नेहरू भारत के पहले प्रधान मन्त्री थे और अगले 17-18 वर्षों तक वे ही प्रधान मन्त्री बने रहे। वह भारत का अन्य देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्पर्क बढाना चाहते थे तथा एशियाई देशों के साथ घनिष्ठता बढाना चाहते थे। इसी के साथ-साथ वे चाहते थे कि विश्व में तनावपूर्ण वातावरण कम हो ताकि विश्व शान्ति की स्थापना मे सहयोग मिले। अत जिस विदेश नीति को भारत ने अपनाया उसकी निम्न विशेषताएँ थी :

(1) असलग्नता
(2) पचशील
(3) साम्राज्यवाद तथा प्रजातीय विभेद का विरोधी
(4) एशियाई अफ्रीकी देशो को सगठित करना
(5) सयुक्त राष्ट्र सघ का समर्थन

(1) **असलग्नता**—1946 ई. के पश्चात् यूरोपीय तथा विश्व की महान शक्तियो के दोनो गुटो मे शीत युद्ध जोरो पर था। भारत तीसरे विश्वयुद्ध मे, जिसकी सम्भावना उस समय काफी अधिक थी, उलझना नहीं चाहता था। इसलिए असलग्नता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। यह भारतीय नीति का उद्देश्य नहीं था, केवल शान्ति स्थापना के उद्देश्य प्राप्ति मे एक साधन मात्र था। भारत किसी भी गुट में सम्मिलित नही होना चाहता था और एशिया की परिस्थिति तथा भारत की तत्कालिक घटनाएँ इसमे सहायक थी। एशिया मे इस प्रकार का शीतयुद्ध 1946-57 ई. के मध्य नही था जैसा यूरोप मे था और भारत की किसी देश के प्रति स्वार्थ-सिद्धि की बात भी नही थी।

असलग्नता का अर्थ है गुटो से अलग रहना। इसका अर्थ तटस्थता नहीं है क्योंकि तटस्थता इस स्थिति को पूरी तरह स्पष्ट नहीं करती है। तटस्थता निषेधात्मक विचार है तथा पृथक होने की बात इसमें कही जाती है। असलग्नता सकारात्मक तथा गतिशील है। इसका अर्थ शान्तिवाद भी नही है क्योंकि प्रत्येक देश को युद्ध की सम्भावना का तो ध्यान रखना ही पड़ता है। इस नीति का अर्थ गुटों से अलग रहना है। आवश्यकता पड़ने पर यह किसी का भी समर्थन कर सकता है। पंडित नेहरू ने अमरीकी सीनेट मे बोलते हुए कहा था कि जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो वहाँ हम तटस्थ नहीं रहेंगे।

(2) पंचशील—पंचशील शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग महात्मा बुद्ध ने किया था। एक बौद्ध भिक्षु को पाँच व्रतों को जिन्हें पंचशील कहते थे, धारण करना पड़ता था। इसका शाब्दिक अर्थ है—आचरण के पाँच सिद्धान्त। भारतीय विदेश नीति के भी पाँच सिद्धात हैं :

1. सब राष्ट्र एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता तथा सप्रभुता का आदर करें। यह साम्राज्यवादी भावनाओं के विरुद्ध है।

2. एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सीमाओं का अतिक्रमण करे।

3. कोई राष्ट्र एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे।

4. राष्ट्रों में आपस में समानता का व्यवहार हो और एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना से प्रेरित हो।

5. सभी राष्ट्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर एक दूसरे के प्रति अपनी नीति अपनावें और अपनी-अपनी सत्ता तथा स्वतन्त्रता सुरक्षित रखें। इससे पूंजीवादी तथा साम्यवादी विचारों को सहजीवन का पाठ पढाया गया है।

औपचारिक रूप से इन सिद्धान्तों की घोषणा 1954 ई. मे चीन के साथ तिब्वत सम्बन्धी एक समझौते मे की गयी। अप्रैल 1955 ई. मे एशियाई-अफ्रीकी देशो के सम्मेलन में इस सिद्धान्त की और अधिक व्याख्या की गयी। सितम्बर 1959 ई. मे संयुक्त राष्ट्र सघ सभा ने भी पचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया।

ये पचशील के सिद्धान्त आदर्श के रूप में हैं पर इनकी आलोचना भी की गयी है कि इन सिद्धान्तों को पालन कराने वाली कोई सस्था नही है अतएव ये सिद्धान्त अनुपयोगी हैं तथा यह सब सिद्धान्त सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर में हैं इसलिए इनके दोहराने से कोई लाभ नहीं है। वस्तुत: यह आलोचना ठीक नही है, क्योंकि ऐसे सिद्धान्तो के दोहराने से भी लाभ होता है जिनसे विश्व शान्ति बनी रहे तथा विभिन्न देशो के मध्य मैत्री सम्बन्ध बने रहें। भारत चीन सम्बन्धों को ध्यान मे रखते हुए अवश्य कहा जा सकता है कि ये सिद्धान्त असफल और अव्यावहारिक सिद्ध हुए हैं। 1962 ई. मे भारत पर चीन के आक्रमण के पश्चात् पंचशील के सिद्धान्तों मे अन्य देशो की आस्था कम रह गयी है।

(3) साम्राज्यवाद तथा प्रजातीय विभेद का विरोध—अंग्रेजी साम्राज्य के आधीन रहने के समय भारत ने प्रजातीय विभेद की नीति को अंगीकार किया था। इसके अतिरिक्त दो विश्वयुद्धो से यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि साम्राज्यवाद शान्ति का शत्रु है। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के लिए इन दोनों तत्वों का विरोध करना स्वाभाविक ही था। इसीलिए भारत ने विश्व में प्रत्येक स्थान पर साम्राज्यवादियों के विरुद्ध सघर्षकर्ताओं का खुलकर समर्थन किया।

भारत का विश्व से सम्बन्ध

उपरोक्त वर्णन भारतीय विदेश नीति का सैद्धान्तिक पक्ष था। व्यावहारिक रूप मे भारत के अन्य देशों से सम्बन्ध पृथक रूप से अध्ययन करने योग्य हैं।

एशियाई-अफ्रीकी देशों का संगठन

भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले ही एशियाई-अफ्रीकी देशों को संगठित करना चाहता था। यह वास्तव में उसकी साम्राज्यवाद विरोधी नीति का परिणाम था। अन्तरिम सरकार के प्रधान मन्त्री के प्रोत्साहन से 'इण्डिया काउन्सिल ऑव वर्ल्ड अफेयर्स' ने एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया। यह सरकारी स्तर पर नहीं था, फिर भी सभी एशियाई देशो के राष्ट्रवादी नेता इसमे सम्मिलित हुए थे। इस सम्मेलन में उपनिवेशवाद और प्रजातीय विभेद की नीति का विरोध, तथा एशियाई देशो मे एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया और यह पहला प्रयास साम्राज्यवाद के विरोध का किया गया था।

1948 ई. मे इण्डोनेशिया पर डच आक्रमण हुआ और इसका सामूहिक रूप से विरोध करने के लिए जनवरी 1949 ई. मे दिल्ली मे एक एशियाई सम्मेलन बुलाया गया। इसमे भारत ने प्रमुख रूप से भाग लिया और संगठित विरोध से इण्डोनेशिया पर डच साम्राज्यवाद की पुनः स्थापना को असम्भव बना दिया। इस सम्मेलन से एशिया के देशो को संगठित रहने की सक्रिय प्रेरणा मिली।

1955 ई. मे एशिया और अफ्रीका के देशो का एक सम्मेलन इण्डोनेशिया के बाडुंग नगर मे बुलाया गया। इस सम्मेलन मे पचशील के सिद्धान्तों पर सबकी सहमति हुई। एशियाई और अफ्रीकी देशो ने एक दूसरे का साथ देने का वायदा किया और एक नयी भावना का आविर्भाव हुआ। इस सम्मेलन को पूरी सफलता मिली और इसका श्रेय नेहरू को था। इसका एक परिणाम यह निकला कि सयुक्त राष्ट्र संघ में एशियाई और अफ्रीकी देशो का भी एक गुट बन गया। इस गुट के सदस्य बहुसंख्यक थे, इसलिए एशिया और अफ्रीका के देशो की उपेक्षा नही की जा सकती थी।

लेकिन यह सगठन और एकता बहुत समय तक स्थायी नही रह सकी। एक ओर पश्चिमी साम्राज्यवादी देश इस गुट की एकता को तोड़ने का प्रयास करते रहे और दूसरी ओर भारत चीन मे मतभेद पैदा हो गया। चीन इस मच को अपने साम्यवादी विचारों के प्रचार के लिए प्रयोग करना चाहता था परन्तु भारत ने चीन के इस प्रयास को रोकना चाहा था इसलिए भारत-चीन मे मतभेद अधिक बढ़े।

भारत और संयुक्त राष्ट्र संघ

भारत आरम्भ मे ही सयुक्त राष्ट्र सघ का प्रबल समर्थक रहा है। यह दृष्टिकोण इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उस समय संसार के विभिन्न देश शीतयुद्ध के कारण सयुक्त राष्ट्र सघ की आलोचना करते थे। अन्य किसी भी देश की तुलना मे भारत ने इस संस्था को भारी सहयोग दिया है और अपनी नीति सचालन मे इस सघ में आस्था रखी है। भारत ने सयुक्त राष्ट्र सघ मे एशिया अफ्रीका के देशो को सम्मिलित करवाने तथा इस सस्था को विश्व संस्था बनवाने मे बहुत सहयोग दिया है। भारत का सयुक्त राष्ट्र सघ पर अटूट विश्वास है और वह इस बात मे विश्वास रखता है कि विश्व के विभिन्न देश आपसी मतभेदो को सुलझाने के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ को माध्यम

बनायें। अपने इसी विश्वास के आधार पर पंडित नेहरू कश्मीर समस्या को राष्ट्र स
के समक्ष ले गये और विभिन्न अवसरों पर संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णयों को स्वीक
किया, भले ही उनसे तात्कालिक हानि ही हुई हो। 1949 ई. मे कश्मीर में यु
विराम हुआ जबकि अधिकांश जनमत पाकिस्तानियों को बाहर निकालकर स्वीका
करने के पक्ष मे था।

भारत और इंगलैण्ड

यह सम्भावना व्यक्त की गयी थी कि भारत और इंगलैण्ड के आपसी सम्बन
स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सम्भवत: कटुतापूर्ण रहेंगे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। यह त
स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले ही स्पष्ट था कि भारत एक गणतन्त्र राज्य बनेगा तथा अप
को अंग्रेजी सम्राट के अधीन नही रखेगा, लेकिन इस विषय मे सन्देह था कि क्या भार
इंगलैण्ड द्वारा स्थापित 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' का भी सदस्य रह सकेगा ? और यह
कठिनाई हल हो गयी जब ब्रिटिश शब्द को हटाकर इस संस्था का नाम केवल 'कामन
वेल्थ ऑव नेशन्स' कर दिया गया। 1949 ई. मे भारतीय संविधान सभा ने इस
निर्णय की पुष्टि कर दी। कामनवेल्थ की सदस्यता के पीछे भारत के सामरिक, आर्थिक
तथा राजनीतिक हित छिपे हुए थे। पाकिस्तान के सदस्य बने रहने के कारण तथा
भारतीयों के अन्य अंग्रेजी उपनिवेशों में रहने के कारण, कामनवेल्थ की सदस्यता मे
भारत को कुछ लाभ ही हो सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि भारत मे जनमत का
एक प्रभावशाली वर्ग इस निर्णय के विरुद्ध रहा है। कुछ अवसरों पर यह विरोध
बहुत अधिक व्यापक हो गया है; जैसे 1956 ई. में इंगलैण्ड, फ्रांस का मिस्र पर आक्र-
मण, इंगलैण्ड का कश्मीर विवाद मे पाकिस्तान का समर्थन तथा दक्षिणी अफ्रीका में
प्रजातीय विभेदों का इंगलैण्ड द्वारा समर्थन। 1962 ई. के पश्चात् भी कुछ विषय ऐसे
उत्पन्न हुए जिन पर दोनों देशों में मतभेद बढ़ा लेकिन भारत अभी राष्ट्रमंडल की
सदस्यता स्वीकार किये हुए है।

भारत तथा संयुक्त राज्य अमरीका

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत और संयुक्त राज्य अमरीका में कोई घनिष्ठ
सम्पर्क नहीं था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भारतीय समस्या
में कुछ रुचि भी ली, लेकिन उनका मन्तव्य इस बात तक सीमित था कि युद्ध में भारत
का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो जाये, इससे अधिक नहीं। युद्ध समाप्ति के पश्चात् भी
दोनों देशों के दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर रहा। अमरीका साम्यवाद को समस्त
विश्व के समक्ष सबसे बड़ी समस्या समझता था और भारत उपनिवेशवाद को अधिक
हानिकारक समझता था तथा साम्राज्यवाद का घोर विरोधी था। अमरीका स्वयं
साम्राज्यवादी देश था तथा साम्यवाद के विरुद्ध यूरोपीय देशों के साम्राज्यवाद का
समर्थन करता था।

एक और मौलिक मतभेद भारत और संयुक्त राज्य अमरीका में था। अमरीका
चाहता था कि भारत निश्चित: युद्ध में सम्मिलित हो जावे। भारत को अधिक सहायता

की आवश्यकता थी जो आसानी से अमरीका से ही प्राप्त हो सकती थी और आर्थिक सहायता के आधार पर भारत को अपने गुट मे सम्मिलित कर लेना चाहता था। लेकिन भारत असलग्नता की नीति का समर्थक था । इन सबके कारण भारत को अमरीका से पर्याप्त आर्थिक सहायता नहीं मिली । इसके अतिरिक्त भारत और अमरीका मे कुछ अन्य प्रश्नो पर भी मतभेद थे, जैसे अमरीका कश्मीर की समस्या में पाकिस्तान का समर्थक रहा तथा वह पाकिस्तान को सैनिक अस्त्र-शस्त्र की मुफ्त सहायता देता रहा और यही सब सामग्री भारत के विरुद्ध 1965 ई. मे प्रयोग हुई। भारत सैन्य गठबन्धनो के विरुद्ध था और सैनिक गठबन्धन अमरीका की विदेश नीति का एक अभिन्न अग है। पुर्तगाली उपनिवेशो के भारत मे विलय के प्रश्न पर अमरीका ने पुर्तगाल का साथ दिया और 1962 ई. सुरक्षा परिषद मे भारत की गोआ, दामन, द्यू के भारत मे विलय की आलोचना की। पूर्वी एशिया में भारत साम्यवादी चीन के प्रति 1960 ई. तक तो पूरी तरह मैत्री निभाता रहा । अमरीका साम्यवादी चीन के विरुद्ध था । कोरिया, जापान तथा हिन्द चीन की समस्या पर भी भारत और अमरीका के दृष्टिकोणों मे अन्तर था ।

1962 ई. मे भारत पर चीन के बड़े पैमाने पर आक्रमण से दोनों देशो के मध्य एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। उस समय अमरीका ने भारत को सैनिक सहायता बिना शर्त देनी आरम्भ की लेकिन यह केवल राष्ट्रपति कैनेडी के व्यक्तिगत प्रयत्नो का परिणाम था । उनकी शीघ्र ही आकस्मिक मृत्यु हो गयी। वस्तुत अमरीका कश्मीर समस्या के विषय मे भारत पर दबाव डालकर अपने पक्ष मे निर्णय चाहता था । इससे दोनो देशो के सम्बन्ध पूर्वस्थिति मे रहे ।

भारत और सोवियत संघ

पंडित नेहरू रूस की साम्यवादी क्रान्ति से बहुत अधिक प्रभावित थे क्योंकि वे उसे साम्राज्यवाद विरोधी समझते थे । द्वितीय विश्वयुद्ध मे तथा उसकी समाप्ति पर यह स्पष्ट हो गया था कि सोवियत सघ भी अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने में लगा हुआ था लेकिन साम्यवादी प्रशासन ने प्रत्येक स्तर पर भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थन किया था । इससे भारत मे रूस के प्रति अधिक सहानुभूति थी । 1946-47 ई मे विभिन्न अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नो पर भारत तथा रूस के दृष्टिकोण समान थे, जैसे— निरस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद, प्रजातीय विभेद नीति आदि । 1949 ई मे भारत ने साम्यवादी चीन का समर्थन किया । इससे रूस मे [illegible] के प्रति सहानुभूति बढ़ी और 1948 ई. के अन्त मे एक व्यापारिक [illegible] रूस के मध्य हुआ। किन्तु 1950 ई. मे भारत द्वारा [illegible] गरारी मान लेने से दोनों देशो मे कुछ [illegible] स्तान और कश्मीर को लेकर [illegible] म यह नहीं चाहता था कि [illegible] भारत को अपने पक्ष मे [illegible] के प्रश्न पर पाकिस्तान का

समर्थन करके भारत को भी रूस के वीटो अधिकार पर आश्रित कर दिया।

1954 ई. में अमरीका ने दक्षिण-पूर्व एशिया सैन्य संगठन की रचना की। भारत ने इसका घोर विरोध किया। 1955 ई. में पंडित नेहरू रूस की यात्रा पर गये और रूस के नेता बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत यात्रा की। रूस के नेताओं ने भारत को कश्मीर और गोआ के प्रश्न पर पूरी सहायता देने का आश्वासन दिया। रूस ने अपने वीटो अधिकार प्रयोग से भारत को पश्चिमी राष्ट्रों के पाकिस्तान समर्थन के दुष्परिणामों से बचाया। 1955 ई. में भारत ने रूस के हंगरी में हस्तक्षेप की उतनी अधिक निन्दा नहीं की जितनी पश्चिमी राष्ट्रों की नीति की की जाती थी।

1962 ई. मे जब चीन ने बड़े पैमाने पर भारत पर आक्रमण किया तब रूस के लिए एक कठिनाई का समय उपस्थित हुआ। रूस के सम्बन्ध चीन के साथ साम्यवादी विचारधाराओं के अनुसार बहुत अच्छे थे और भारत भी रूस का पुराना मित्र था। लेकिन रूस ने ठीक आक्रमण के समय भारत को सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि रूस के दबाव का ही परिणाम था कि चीन ने एकपक्षीय घोषणा करके अपनी सेनाओ को पीछे हटा लिया हालांकि इस सम्बन्ध मे प्रामाणिक ज्ञान उपलब्ध नहीं है।

भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध

भारत-पाकिस्तान विभाजन, कटुता के वातावरण में हुआ था अतः पाकिस्तान भारत को अपना शत्रु समझता रहा और पहले ही वर्ष में कुछ भारतीय राज्यो (जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर) को लेकर दोनो मे परस्पर वैमनस्य का वातावरण पैदा हो गया। इन तीनो में कश्मीर की समस्या अत्यन्त जटिल बन गयी और अभी तक बनी हुई है।

तनाव के कारण

भारत-पाकिस्तान सम्बन्धो मे तनाव के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

1. आर्थिक—एक देश के विभाजन के समय आमदनी, कर्ज, पूंजी आदि का विभाजन करना था। पटसन के निर्यात पर पाकिस्तान ने तुरन्त ही प्रतिबन्ध लगाकर भारत मे स्थित पटसन उद्योग को हानि पहुँचानी चाही थी और पटसन उद्योग पश्चिमी बंगाल में था। इस समस्या को विस्थापितो की सम्पत्ति के बँटवारे के प्रश्न ने और अधिक जटिल बना दिया। पाकिस्तान से भागकर आये हुए विस्थापित लगभग 3000 करोड़ रुपये की सम्पत्ति छोड़ आये थे जबकि भारत से गये हुए मुसलमानों की सम्पत्ति केवल 300 करोड़ की थी।

2. सैनिक—पाकिस्तान आरम्भ मे ही इस बात का प्रचार करता रहा है कि भारत विभाजन से सहमत नहीं है तथा अवसर मिलने पर भारत पाकिस्तान पर आक्रमण करेगा, यद्यपि यह पूर्णतया निराधार प्रचार है क्योंकि भारत ने कई बार यह प्रस्ताव रखा कि दोनों देश एक समझौते पर हस्ताक्षर करें जिसमें युद्ध न करने का वचन हो लेकिन पाकिस्तान इसके लिए भी तैयार नहीं हुआ।

3. नदियों के पानी का झगड़ा—सिन्धु और उसकी सहायक नदियाँ भारतीय क्षेत्र में निकलती हैं। भारत को इन नदियों का पानी बाँध आदि बाँधने के प्रयोग में लाना था। पाकिस्तान को भय हुआ कि यदि इन नदियों का पानी रोक लिया गया तो विभिन्न आर्थिक समस्याएँ पाकिस्तान के लिए पैदा हो जायेंगी। दस वर्षों से भी अधिक समय तक विश्व बैंक की अध्यक्षता में समझौते की बातचीत चलती रही और 1960 ई. में सिन्धु जल-सन्धि के अनुसार दोनों देशों में समझौता हो गया।

4 राजनीतिक—राजनीतिक दृष्टि से पाकिस्तान अपने जन्म से ही इस भावना से प्रेरित रहा है कि वह किसी प्रकार भी सैनिक दृष्टि से भारत से अधिक शक्तिशाली हो सके। वास्तव में भारत और पाकिस्तान के मतभेद कुछ मौलिक आधारों के मतभेद के कारण थे। पाकिस्तान एक तानाशाही देश था और भारत जनवादी गणतंत्र। पाकिस्तान एक इस्लामी राज्य रहा है और भारत ने धर्म-निरपेक्षता की नीति को ग्रहण किया। इन दोनों कारणों से तथा पाकिस्तान की धर्मान्ध नीति से दोनों देशों में असख्य कश्मीर उत्पन्न हो सकते हैं। भारत-पाकिस्तान का झगड़ा केवल कश्मीर का नहीं है, कश्मीर तो केवल इस झगड़े का प्रतीक है।

कश्मीर की समस्या

स्वतंत्रता प्राप्ति के थोड़े समय पश्चात् ही कश्मीर की समस्या खड़ी हो गयी। सितम्बर 1947 ई में कश्मीर के पूछ जिले में कुछ उपद्रव हुए और शीघ्र ही उत्तर से कुछ कबाइली पाकिस्तान की सीमाओं को पार करके कश्मीर पर चढ़ आये। ऐसी स्थिति में कश्मीर ने भारत राज्य में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। भारतीय सेनाओं ने आक्रमणकारियों को पीछे हटा दिया। भारत ने यह घोषणा पहले से ही कर दी थी कि उचित समय आने पर कश्मीर के भारत विलय की पुष्टि जनमत संग्रह द्वारा की जायेगी। पाकिस्तान ने जनमत संग्रह के लिए कुछ शर्तें रखीं, जो भारत को स्वीकार नहीं थी। 31 दिसम्बर, 1947 ई. को भारत ने यह प्रश्न राष्ट्र संघ के समक्ष रख दिया। एक वर्ष के विचार-विमर्श के पश्चात् जनवरी 1949 ई. से युद्ध विराम कश्मीर में लागू हुआ।

1949 ई. से 1953 ई तक संयुक्त राष्ट्र संघ ने समझौते के कई प्रयत्न किये लेकिन सब विफल हो गये। उधर कश्मीर में एक संविधान सभा का निर्वाचन हुआ और 6 फरवरी, 1954 ई को उसने कश्मीर के भारत विलय का प्रस्ताव पास कर दिया। इसी समय पाकिस्तान ने संयुक्त राज्य अमरीका से सैनिक गठबन्धन किया और इससे कश्मीर समस्या का नया महत्व हो गया। लेकिन कश्मीर ने नवम्बर 1955 ई. में एक संविधान पास करके विधिवत् भारत में विलय को स्वीकार किया लेकिन पाकिस्तान ने इस विलय को नहीं माना।

1957 ई में राष्ट्र संघ ने पुन: पुरानी व्यवस्था के आधार पर अपने प्रतिनिधि गुन्नार जारिंग को समस्या सुलझाने के लिए भेजा लेकिन वह असफल रहा। अप्रैल 1962 ई में पाकिस्तान ने पुन: कश्मीर समस्या को सुरक्षा परिषद के समक्ष रखा

लेकिन रूस ने सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव को वीटो द्वारा रद्द कर दिया। भारत ने इस बीच कश्मीर के भारत में विलय को अन्तिम घोषित कर दिया।

कश्मीर का प्रश्न दोनों राज्यों के लिए महत्त्वपूर्ण था। भारत के लिए इसलिए कि एक मुसलमान बहुसख्यक राज्य ने भारत में धर्म-निरपेक्षता को ध्यान में रखते हुए भारत विलय स्वीकार किया। यह भारत की धर्म-निरपेक्षता को चुनौती होगी यदि पाकिस्तान की यह बात मान ली जाय कि कश्मीर मुसलमान बहुसख्यक राज्य होने के कारण पाकिस्तान के साथ रहना चाहिए और पाकिस्तान का निर्माण केवल इस्लाम धर्म के आधार पर हुआ है इसलिए प्रत्येक मुसलिम बहुसंख्यक प्रदेश को पाकिस्तान में सम्मिलित होना चाहिए।

वास्तव में पाकिस्तान का तर्क निहायत खोखला है और यह पूर्वी पाकिस्तान की हाल की घटनाओ से और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

भारत-चीन सम्बन्ध

1949 ई. मे साम्यवादी दल के सफल हो जाने के पश्चात् 1 अक्टूबर, 1949 ई. को चीन में जनवादी गणतन्त्र की स्थापना हुई। दिसम्बर 1949 ई. मे भारत ने चीन की नयी सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। जनवरी 1950 ई. में चीन ने यह घोषणा की कि वह तिब्बत पर अपना अधिकार स्थापित करेगा और अक्टूबर 1950 ई. *में तिब्बत पर सैनिक अधिकार कर लिया पर भारत कुछ न कर सका।* मई 1951 ई. मे तिब्बत के नेताओं ने चीन की अधीनता स्वीकार कर ली। भारत ने अप्रैल 1954 ई. में चीन के साथ एक व्यापारिक समझौता किया जिसमें उसने तिब्बत मे उपलब्ध अपने समस्त विशेषाधिकार छोड़ दिये। जून 1954 ई. में चाऊ एन लाई (चीन का प्रधान मन्त्री) भारत आया और पंचशील के सिद्धान्तो पर दोनों देशो के नेताओं ने अपनी आस्था व्यक्त की। अक्टूबर 1954 ई. में पडित नेहरू चीन की राजकीय यात्रा पर गये। अप्रैल 1955 ई. मे बाडुग सम्मेलन में चीन और भारत ने बड़ी घनिष्ठता के साथ कार्य किया। वह भारत-चीन के मैत्री सम्बन्धो की चरम सीमा थी।

सीमा-विवाद—1950-51 ई. मे कम्युनिस्ट चीन के नक्शो मे भारत का एक बहुत बडा भूभाग चीन के अधिकार मे दिखाया गया था। भारत के आपत्ति उठाने पर चीन ने कहा कि ये पुराने नक्शे हैं और वह इनमे शीघ्र ही सुधार कर देगा। यह समय चीन के साथ मैत्री के दौर का था इसलिए इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। लेकिन चीन ने कभी उन नक्शों को ठीक नही किया।

यह सीमा विवाद दो क्षेत्रों मे मुख्यतः था—उत्तर-पूर्व में मैकमोहन रेखा और उत्तर-पश्चिम मे लद्दाख। चीन ने मैकमोहन रेखा को स्वीकार नही किया। उसका तर्क यह था कि यह एक साम्राज्यवादी रेखा है। उधर लद्दाख में चीन ने भारत के एक बहुत बड़े भूभाग पर अधिकार जमा लिया और भारतीय सीमाओं में उसने अक्साईचिन में सड़क भी अनधिकृत रूप से बना ली। भारत सरकार को इसका ज्ञान था लेकिन भारतीय जनता के समक्ष उसने इस बात को स्पष्ट नहीं किया। चीन का उद्देश्य था

कि तिब्बत का व्यापार भारत की ओर न होकर उत्तर-पूर्व में चीन के साथ हो। कुछ समय पश्चात् जब भारतीय जनता को यह ज्ञात हुआ कि चीन ने इस प्रकार अधिकार कर लिया तब उसने भारत सरकार से इसका प्रति-उत्तर देने की माग की तथा सैनिक बल पर आक्रामकों को बाहर करने के लिए कहा। पंडित नेहरू ने यह बात स्वीकार नहीं की और शान्ति वार्ता द्वारा इस समस्या को हल करने का आश्वासन दिया क्योंकि भारत अपने अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए वचनबद्ध था।

इस क्षेत्र में जब भारतीय पुलिस सर्वेक्षण के लिए गयी तो चीनी सैनिकों ने उन पर आक्रमण कर दिया। जनवरी 1959 ई. में चाऊ एन लाई ने पहली बार भारतीय सीमाओं को मानने से इनकार कर दिया। जुलाई 1959 ई. में चीन ने अक्साई चिन में एक भारतीय चौकीदल को बन्दी बना लिया। 7 अगस्त, 1959 ई. को चीन के एक दल ने नेफा क्षेत्र में भारतीय सीमा पार करके भारतीय क्षेत्र पर अधिकार कर लिया तथा अक्टूबर 1959 ई. में चीन ने लद्दाख क्षेत्र में कोंगका दर्रे पर अधिकार कर लिया। इस घटना से दोनों देशों में सम्बन्ध प्रायः टूटने के निकट पहुँच गये।

1956 ई. में चीन के नक्शों में भारत के लद्दाख क्षेत्र में ही 16 हजार वर्ग किमी पर चीन का अधिकार जताया गया था पर सितम्बर 1959 ई. में चाऊ एन लाई ने भारत की 80,000 वर्ग किमी भूमि पर अपना अधिकार जताया। इन घटनाओं से क्षुब्ध भारतीय जनमत भारत सरकार से चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ने पर तथा चीन की सेनाओं को भगाने पर दबाव डालने लगा। विवादों के हल के लिए नेहरू और चाऊ एन लाई की अप्रैल 1960 ई. में एक बैठक हुई और इसके पश्चात् दोनों देशों के अधिकारियों की पीकिंग, रंगून और दिल्ली में बैठक हुई लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला क्योंकि चीन की माँग बढ़ती गयी।

चीन का भारत पर आक्रमण—भारतीय जनमत के दबाव के कारण नेहरू को भारतीय सीमा पर कुछ चौकियाँ स्थापित करनी पड़ी। मई 1962 ई. में भारत ने पुनः शान्ति पूर्ण ढंग से विवाद हल करने का प्रस्ताव किया लेकिन चीन ने यह स्वीकार नहीं किया और 11 जुलाई 1962 ई. को गलवान घाटी में युद्ध शुरू कर दिया और भारत पर चीन प्रदेश में घुसने का आक्षेप लगाकर भारतीय चौकियों को अपने अधिकार में करना आरम्भ कर दिया। भारतीय सैनिकों ने गलवान घाटी में चीनी सैनिकों को हटाया। परिणामस्वरूप चीन ने एक विस्तृत पैमाने पर भारत की उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण कर दिया। चीन ने पूरी तैयारी के साथ टैंकों और आधुनिकतम हथियारों से आक्रमण किया था। भारतीय सेना इसके लिए तैयार नहीं थी अतः भारतीय सेना को पीछे हटना पड़ा। चीन की सेनाएँ अगम क्षेत्र में तेजपुर से उत्तर में 128 किलोमीटर दूर तक बढ़ आयी थी। लेकिन अब चीन के लिए युद्ध जारी रखना कठिन हो रहा था। एक ओर जाड़े की ऋतु आ गयी थी और हिमालय में युद्ध जारी रखना अत्यन्त कठिन था। उधर भारतीय सेनाएँ मैदानों में संगठित होकर युद्ध की

समय रेखा
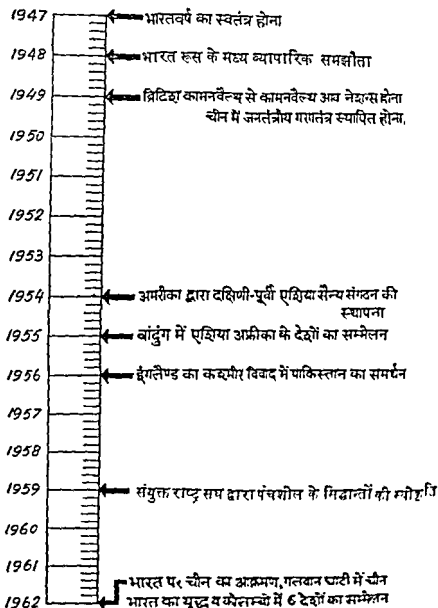
1947
भारतवर्ष का स्वतंत्र होना
1948
भारत रूस के मध्य व्यापारिक समझौता
1949
ब्रिटिश कामनवैल्थ से कामनवैल्थ आव नेशन्स होना
चीन में जनतंत्रीय गणतंत्र स्थापित होना.
1950
1951
1952
1953
1954
अमरीका द्वारा दक्षिणी-पूर्वी एशिया सैन्य संगठन की स्थापना
1955
बांडुंग में एशिया अफ्रीका के देशों का सम्मेलन
1956
इंगलैण्ड का कश्मीर विवाद में पाकिस्तान का समर्थन
1957
1958
1959
संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पंचशील के सिद्धान्तों की स्वीकृति
1960
1961
1962
भारत पर चीन का आक्रमण, गलवान घाटी में चीन भारत का युद्ध व कोलम्बो में 6 देशों का सम्मेलन
स्केल : 1 सेंटिमीटर = 1 वर्ष

तैयारी कर रही थी तथा भारत ने इंगलैण्ड और अमरीका से सैनिक सहायता लेनी आरम्भ कर दी। उधर रूस भी चीन पर युद्ध बन्द करने के लिए दबाव डालता रहा। चीन ने इन सब परिस्थितियों से प्रभावित होकर 20 नवम्बर को एकपक्षीय युद्ध बन्द करने की घोषणा की और अपनी सेनाओं को उसने 7 नवम्बर की वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर वापस लौटा लिया लेकिन लद्दाख क्षेत्र में लगभग 25 हजार वर्ग किलोमीटर पर अपना नियन्त्रण स्थापित किये रहा।

भारत पर आक्रमण के समय तटस्थ राष्ट्रों ने भारत के प्रति सहानुभूति भी कठिनाई से ही व्यक्त की, सहायता करने का तो प्रश्न ही नहीं था। मिस्र के राष्ट्रपति नासर, यूगोस्लाविया के टीटो और घाना के एनक्रूमा प्रायः चुप ही रहे। 1962 ई. के अन्त में लंका के प्रधान मंत्री के प्रयत्नों के फलस्वरूप कोलम्बो में 6 देशों का एक सम्मेलन हुआ। ये देश थे—लंका, बर्मा, इण्डोनेशिया, मिस्र, घाना तथा कम्बोडिया। इसके प्रस्ताव उस समय तक गुप्त रखे गये जब तक दोनों देशों की प्रतिक्रिया स्पष्ट न हो गयी। कोलम्बो प्रस्ताव भारत ने स्वीकार कर लिये और चीन ने भी उन्हें सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर लिया लेकिन साथ ही कुछ आनाकानी तथा आपत्तियाँ खड़ी की।

चीन का विश्व राजनीति के प्रति वर्तमान दृष्टिकोण

1962 ई. के पश्चात् चीन की विदेश नीति में कई परिवर्तन आये हैं। रूस के साथ सैद्धान्तिक भेदभाव अधिक बढ़ जाने के कारण अब चीन को विश्व के अन्य देशों में रूस समर्थक साम्यवादी दलों से विरोध सहन करना पड़ता है। रूस-चीन विवाद जो आरम्भ में अल्पकालीन लगता था अब स्थायी हो गया है क्योंकि चीन भी विश्व राजनीति में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करना चाहता है। 1971 ई. में चीन को राष्ट्र संघ की स्थायी सदस्यता उपलब्ध हो जाने के पश्चात् और फरवरी 1972 ई. में अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन की पीकिंग यात्रा के पश्चात् उसकी विदेश नीति में परिवर्तन स्वाभाविक ही है।

भारत के प्रति चीन के दृष्टिकोण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखायी पड़ता है। लेकिन इस क्षेत्र में बंगला देश के स्वतन्त्र राज्य के निर्माण हो जाने से शक्ति सन्तुलन में अन्तर पड़ा है। पाकिस्तान के टुकड़े हो जाने के पश्चात् स्थिति में काफी परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्न प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए।

1. भारत की असलग्नता की विदेश नीति का अर्थ है—
   (क) तटस्थता की नीति
   (ख) गुटों से अलग रहने की नीति
   (ग) किसी पक्ष के साथ समझौता न करना

(घ) किसी देश के साथ सैनिक समझौता करना ( )

2. संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर के प्रश्न पर सहायता करने वाला देश था—

(क) रूस (ख) अमरीका

(ग) ब्रिटेन (घ) फ्रांस ( )

संक्षेप में उत्तर लिखिए

निर्देश—प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 5 या 6 पंक्तियों में लिखिए।

1. भारत की विदेश नीति के 5 सिद्धान्त बताइए।
2. असंलग्नता की नीति स्पष्ट कीजिए। यह तटस्थता से किस प्रकार भिन्न है?
3. भारत और अमरीका के दृष्टिकोणों में आप क्या मौलिक अन्तर देखते हैं?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के सिद्धान्त बताइए।
2. भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
3. सन् 1950-51 ई. से उन घटनाओं पर प्रकाश डालिए जिससे स्पष्ट हो कि चीन भारत के प्रति आक्रामक था।

जाँच-पत्र

पूर्णांक—100] [समय 2½ घंटे

यह प्रश्न-पत्र दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में प्रत्येक प्रश्न एक-एक अंक का है और इसे ½ घंटे में पूरा कर देना है। दूसरे भाग में प्रत्येक प्रश्न के अंक उसके सामने दिये हैं।

भाग 'क'

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निर्देश—निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए:

1. धार्मिक बन्धनों से मुक्ति का आन्दोलन नये व्यापारिक नगरों में फैला, क्योंकि—
   (क) यहाँ पर भूमि आय का प्रमुख साधन नहीं थी
   (ख) यहाँ धनी व्यक्ति रहते थे
   (ग) यहाँ चर्च का प्रभाव नहीं था
   (घ) ये स्थान रोम से बहुत दूर थे ( )
2. विद्वत्ता एवं बुद्धिमत्ता के कारण जिस व्यक्ति को अपने युग का सबसे सभ्य पुरुष कहा जाता है, वह था—
   (क) इरेसमस (ख) लूथर
   (ग) जॉन केपलर (घ) विंची ( )
3. धार्मिक करों के विरोध का मुख्य कारण था—
   (क) जनता की आर्थिक दशा खराब होना
   (ख) करों का भार अधिक होना
   (ग) करों की आय का देश से बाहर जाना
   (घ) करों की आय का विलासी जीवन पर खर्च होना ( )
4. विक्लिफ और लूथर के सिद्धान्तों में मुख्य अन्तर था—
   (क) लूथर भक्ति को मोक्ष का साधन मानता था
   (ख) लूथर लौकिक शक्ति को धार्मिक शक्ति से सर्वोपरि समझता था
   (ग) *चर्च द्वारा किये गये संस्कारों को उचित नहीं समझता था*
   (घ) भ्रष्ट पदाधिकारियों को हटा देना चाहता था ( )
5. रक्तहीन क्रान्ति का मुख्य परिणाम था—
   (क) राजा का दैवी अधिकार समाप्त होना
   (ख) राजा पार्लियामेण्ट द्वारा मनोनीत होने लगा
   (ग) राजा भी एक निर्वाचित
   (घ) ( )

6. प्रथम सुधार अधिनियम का महत्त्वपूर्ण परिणाम था—
    (क) राजनीतिक शक्ति भू-स्वामियों से मध्यमवर्ग के पास आ गयी
    (ख) लार्ड सभा के अधिकार कम हो गये
    (ग) श्रमिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ
    (घ) राजनीतिक दलों के गठन पर प्रभाव पड़ा ( )
7. इंगलैण्ड की सरकार ने 'स्टाम्प एक्ट' वापस ले लिया, क्योंकि—
    (क) यह कर लाभदायक नहीं था
    (ख) एक्ट में अनेक कमियाँ रह गयी थीं
    (ग) अमरीका के निवासियों ने इसका तीव्र विरोध किया
    (घ) एक्ट पास करने में अमरीका के लोगों का हाथ नहीं था ( )
8. नेपोलियन की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा का कारण था—
    (क) इटली के अभियान में विफलता
    (ख) डाइरेक्टरी का अलोकप्रिय शासन
    (ग) नेपोलियन का मिस्र अभियान
    (घ) नेपोलियन का व्यक्तित्व आकर्षक था ( )
9. नेपोलियन का पोप के साथ समझौते का मुख्य उद्देश्य था—
    (क) रोम की लोकप्रियता बढाना
    (ख) रोमन कैथोलिकों को राजाज्ञा के अधीन करना
    (ग) वह स्वय पोप के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति रखता था
    (घ) चर्च की सम्पत्ति को आसानी से बेचना चाहता था ( )
10. विभिन्न उद्योगो मे क्रांतिकारी परिवर्तन जिस आविष्कार के कारण हुए, वह था—
    (क) वाष्प इंजन का (ख) सड़को का निर्माण
    (ग) छापाखाने का (घ) कोयले का ( )
11. रोमाण्टिक आन्दोलन का अर्थ था—
    (क) भावना ही जनता के लिए मार्ग प्रदर्शित करती है
    (ख) शास्त्रीय आदर्श ही अनुकरणीय हैं
    (ग) केवल बाह्य सौन्दर्य का वर्णन गलत है
    (घ) तर्क के आधार पर ही उचित मार्ग का नियन्त्रण सम्भव है ( )
12. कावूर की सबसे बड़ी देन है—
    (क) इटली को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर देना
    (ख) इटली का प्रधान मन्त्री पद प्राप्त करना
    (ग) 'इल रिसोर्जिमेण्टो' नाम की पत्रिका निकालना
    (घ) इटली के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करना ( )

13. शेलवरिन का मुख्य उद्देश्य था—
    (क) चुंगी सम्बन्धित समझौते करना
    (ख) जर्मन एकता की भूमिका तैयार करना
    (ग) प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करना
    (घ) फ्रांस तथा जर्मनी मे व्यापारिक समझौता करना ( )

14. फ्रेंकफर्ट सन्धि का प्रमुख परिणाम निकला कि—
    (क) फ्रास पराजित हो गया
    (ख) फ्रास ने प्रशा की अधीनता स्वीकार कर ली
    (ग) आस्ट्रिया जर्मन संघ से अलग हो गया
    (घ) प्रशा और रूस मे मैत्री स्थापित हो गयी ( )

15. इंगलैण्ड से जर्मनी के सम्बन्ध खराब होने का कारण था—
    (क) इंगलैण्ड के विशाल साम्राज्य से जर्मनी का जनमत विरुद्ध था
    (ख) जर्मनी के विस्तार में इंगलैण्ड बाधक था
    (ग) इंगलैण्ड अपनी सेना का विस्तार कर रहा था
    (घ) इंगलैण्ड के पत्र जर्मनी की आलोचना कर रहे थे ( )

16. प्रथम महायुद्ध मे अमरीका के भाग लेने का प्रमुख कारण था—
    (क) जर्मनी की विजयो से प्रजातन्त्र को खतरा हो गया था
    (ख) जर्मनी ने अमरीका के जहाजो को डुबाना आरम्भ कर दिया था
    (ग) इंगलैण्ड ने अमरीका से युद्ध मे शामिल होने को कहा
    (घ) युद्ध को शीघ्र समाप्त करना था ( )

17. अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति होती थी—
    (क) एसेम्बली द्वारा (ख) कौंसिल द्वारा
    (ग) सचिवालय द्वारा (घ) लोक सेवा आयोग द्वारा ( )

18. प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इटली मे निराशा का वातावरण था, क्योंकि—
    (क) उसको युद्ध मे काफी हानि हुई थी
    (ख) हानि की तुलना मे उसे उपनिवेश प्राप्त नहीं हुए थे
    (ग) देश मे राजनीतिक स्थिरता नहीं थी
    (घ) इटली मे अपमान की भावना व्याप्त थी ( )

19. 1929 ई. के विश्वव्यापी आर्थिक संकट का परिणाम जर्मनी की राजनीति पर यह पड़ा कि—
    (क) जर्मनी को विदेशों से ऋण मिलना बन्द हो गया
    (ख) जर्मनी के कल-कारखाने बन्द हो गए
    (ग) जर्मनी मे नात्सीवाद को प्रोत्साहन मिला
    (घ) जर्मनी मे प्रजातन्त्र के प्रति अविश्वास उत्पन्न ( )

20. 'एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट' जर्मनी और जापान के मध्य इसलिए हुआ था कि मुख्य रूप से—
    (क) दोनों एक-दूसरे की सहायता करेंगे
    (ख) दोनों एक-दूसरे की विदेशी आक्रमण से रक्षा करेंगे
    (ग) दोनों एक-दूसरे को साम्यवाद फैलाने वाली संस्था के बारे में सूचना देंगे
    (घ) दोनो मिलकर साम्राज्यवादी नीति अपनायेंगे ( )
21. द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हुए शीतयुद्ध का अर्थ है—
    (क) बर्फ पर युद्ध करना
    (ख) ऐसा युद्ध जिसमें आग्नेय अस्त्रो का प्रयोग न हो
    (ग) ऐसा युद्ध जिसमें हथियारों को छोड़कर चालों-प्रतिचालो की स्थिति रहे
    (घ) ऐसा युद्ध जिसमें ठहर-ठहर कर लड़ा जाय ( )
22. रूस की जनता मे अपने मौलिक अधिकारो को समझने की तथा प्रजातान्त्रिक विचारधारा पनपी—
    (क) औद्योगिक विकास के कारण
    (ख) बुद्धिजीवियो के प्रचार के कारण
    (ग) प्रथम विश्वयुद्ध की असफलता के कारण
    (घ) मजदूर और कृषकों पर अत्यधिक अत्याचार के कारण ( )
23. सेव्र की सन्धिका परिणाम हुआ कि—
    (क) तुर्की का अधिकार तुर्कों के अल्पसंख्या वाले क्षेत्र से समाप्त हो गया
    (ख) तुर्की के प्रभाव क्षेत्र का विकास हुआ
    (ग) तुर्की का साम्राज्य छोटा हो गया
    (घ) तुर्की को आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन मिल गया ( )
24. चीनी राजवंश को ईश्वरीय आदेश प्राप्त होता है, यह धारणा जिस घटना से समाप्त हुई, वह थी—
    (क) चीन की जापान से पराजय
    (ख) बॉक्सर उपद्रव की असफलता
    (ग) 1900 ई. मे विदेशियों द्वारा चीन की लूट
    (घ) 1908 ई. में साम्राज्ञी की मृत्यु ( )
25. भारत की असलग्नता विदेश नीति का अर्थ—
    (क) तटस्थता की नीति
    (ख) गुटो से अलग रहने की नीति
    (ग) किसी पक्ष के साथ समझौता न करना
    (घ) किसी देश के साथ सैनिक समझौता करना ( )

खण्ड 'ख'

संक्षेप में उत्तर लिखिए

1. पुनर्जागरण के वे दो कारण बताइए जिनसे पोप की शक्ति और प्रतिष्ठा को धक्का लगा । 2
2. 'मिर्च मार्ग' और 'रेशम मार्ग' का अर्थ स्पष्ट कीजिए । 2
3. 'सुधार आन्दोलन' जर्मनी मे ही क्यो हुआ ? कोई तीन कारण लिखिए । 2
4. 'प्रथम रिफार्म एक्ट' की तीन मुख्य धाराएँ बताइए । 2
5. अमरीकी स्वतन्त्रता सग्राम मे इगलैण्ड की असफलता के कोई तीन कारण लिखिए । 2
6. मानव अधिकारो की घोषणा क्या थी ? 2
7. 'कनकोर्डेट' मे आप क्या समझते हैं ? 2
8. औद्योगिक क्रान्ति के तीन कारण बताइए । 2
9. प्लेम्बियर्स के समझौते का महत्त्व स्पष्ट कीजिए । 2
10. प्राग की सन्धि की तीन मुख्य शर्तें बताइए । 2
11. प्रथम महायुद्ध का तत्कालीन कारण क्या था ? 2
12. 'मैण्डेट प्रणाली' क्या थी ? 2
13. फासिस्टवाद के उद्देश्य और सिद्धान्त बताइए । 2
14. म्यूनिख समझौते का महत्त्व बताइए । 2
15. इगलैण्ड ने जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति क्यो अपनायी ? 2
16. सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्य बताइए । 2
17. 'नेप' का क्या अर्थ है ? 2
18. कमालपाशा की धर्म-निरपेक्ष नीति के दो कारण बताइए । 2
19. डा. सनयात सेन के प्रसिद्ध तीन सिद्धान्त क्या थे ? 2
20. भारत ने किन कारणो से कॉमनवेल्थ का सदस्य बना रहना स्वीकार किया ? 2

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पुनर्जागरण का साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान पर क्या प्रभाव पड़ा ? 5

   अथवा 5

   धर्म-सुधार आन्दोलन का क्या प्रभाव पडा ?

   अथवा 5

   'प्रथम रिफार्म एक्ट' के प्रभाव एव महत्त्व को स्पष्ट कीजिए ।

   अथवा 5

   अमरीकी स्वतन्त्रता सग्राम का महत्त्व लिखिए । 5

2. फ्रास की क्रान्ति के आर्थिक और राजनीतिक कारण बताइए ।

   अथवा

   नेपोलियन के आन्तरिक सुधारों का वर्णन कीजिए । 5